पृष्ठ संख्या. ३८४

१ व्रतोपयान (व्रतग्रहण) कर्म्म १–२३.
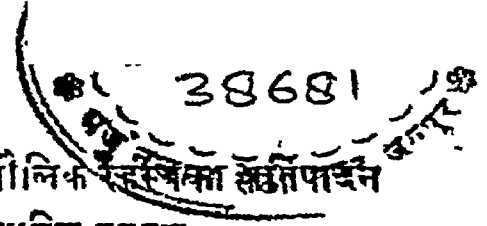
१ वितान-पाक आदिभेदभिन्न वैधयज्ञोंके मौलिक रहस्यका प्रतिपादन

२ अग्निदैवतमें होनेंवाले मौलिक यज्ञका वैज्ञानिक रहस्य

३ वैधयज्ञमें होनेवाले ग्रह स्तोत्र शस्त्र कर्म्मोंका वेदत्रयीके मौलिक प्रति-पादन द्वारा निरूपण

४ यज्ञाधिष्ठाता मनप्राणवाङ्मय आत्माका निरूपण

५ सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माके पांच मुखोंका मौलिक रहस्य। 'रुद्रद्वारा एकमस्तक कटजानेंसे चारमुख रहगये, इस पौराणिक आख्यानकी वैज्ञानिक उपपत्ति

६ मनुष्य असत्य संहित होतेहैं-देवता सत्यसंहित होतेहैं. इसका वैज्ञानिक निरूपण.

७ मिथ्याभाषणसे आत्मा अमेध्य और अपवित्र कैसे बनजाताहै, एवं पानी इन दोनों दोषोंको हटानेमें कैसे समर्थ है । इसकी वैज्ञानिक उपपत्ति.

८ शतपथमें प्रतिपादित सम्पूर्ण विषयोंका संक्षेपसे उल्लेख

९ अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य-पशुबंध-सोम भेदभिन्न पञ्चावयव यज्ञका. अहोरात्र पक्ष-ऋतु-अयन-संवत्सर द्वारा मौलिक स्वरूप नि-रूपण.

व्रतविसर्जन २३–३७

१ उपाकर्म्म—उत्सर्गका स्वरूप निरूपण

२ अमृत मृत्युमय प्रजापतिके विशद निरूपण द्वारा सत्य और अनृत तत्वका निरूपण.

१

---

१७ पञ्चाग्नि विद्याद्वारा पानीकी सर्वेन्य पकनाका प्रतिपादन.
१८ मनुष्यदोषसे विच्छिन्न यज्ञको पानी कैसे जोड़ देताहै इसकी उपपत्ति
१९ ताप-प्रकाश आदिके स्वरूप निरूपण पूर्वक यज्ञाधिपति इन्द्रात्मक सूर्य्यका निरूपण.
२० कश्यपावतार रहस्य
२१ प्रकृतिमें होनेवाले नित्य अपांप्रणयनका स्वरूप, एवं उसके द्वारा प्राकृतिक नित्य याज्ञिय सौरदेवताओंकी और उनके यज्ञकी रक्षा.
२२ सविताका और उसके कर्मका स्वरूप एवं तैत्तिरीय प्रतिपादित अपां प्रणयनकी उपपत्ति.

अपाम्नादन

१ प्रणीतापात्रको प्रथम गार्हपत्यके समीप फिर आहवनीयके समीप क्यों रक्खा जाताहै ? योषा—वृषा—प्राण स्वरूप प्रतिपादन द्वारा इसका समाधान.
२ ब्रह्माके नासापत्रसे अमुक उत्पन्न हुआ—अमुक ऋषिकी दृष्टिमात्र से अमुक उत्पन्न होगया—इत्यादि पौराणिक सृष्टिक्रमका वैज्ञानिक रहस्य
३ विना स्त्री पुरुषके संयोगके केवल योषा वृषा प्राणके संयोगसे प्रजोत्पत्तिका निरूपण
४ हिरण्यगर्भ प्रजापतिका स्वरूप निरूपण एवं 'अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत प्रभु': इसका वैज्ञानिक रहस्य।
५ स्त्री क्यों पुरुषकी इच्छा करतीहै ? पुरुष क्यों स्त्रीकी इच्छा करता है ? पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीमें कामनशक्ति अठगुनी क्योंहै ? इत्यादि प्रश्नों की मकरध्वज, मीन ध्वज इनदो काम स्वरूपोंके निरूपण द्वारा वैज्ञानिक उपपत्ति ।
६ स्त्रियें दायविभागकी अधिकारिणियें क्यों नहीं समझी गई ? स्त्रीको स्वतन्त्र क्योंनहीं रक्खा जाता ? इत्यादि प्रश्नोंका वैज्ञानिक समाधान
७ सोमप्रधान उत्तरदिशा —अग्नि प्रधान दक्षिण दिशाद्वारा स्त्री पुरुषकी सृष्टिका निरूपण ।

—— —

४ परिस्तरण पात्रासादन १४६—२१६

पात्रासादन

---

३१ वसिष्ठ-मत्स्यकी उत्पत्ति। क्या वसिष्ट वेश्या पुत्र थे ? इसका मौलिक विवेचन।

३२ देवयान-पितृयाण निरूपणद्वारा आतिवाहिक त्रैलोक्यका स्वरूप परिचय।

३३ यमराज -एवं उसके पाशका स्वरूप परिचय।

३४ गंगोत्पत्ति प्रतिपादक पुराणाख्यानका वैज्ञानिक रहस्य। पुराणकी उपादेयता। उसके न माननेंसे हानि।

३५ पूर्वरूप-उत्तररूप-संधि-संधान भेदभिन्न अनेक प्रकारकी संहिताओंका निरूपण।

३६ सौरपार्थिव प्राणभेदसे होनेवाले १४ प्रक सर्गोके दार्शनिक निरूपण पूर्वक विस्तृत वैज्ञानिक निरूपण।

(शेष दूसरे वर्षमें)

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत्क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
(ऋक् १०।११२ सू०।६)

आठप्रकारके देवताओमेसे अपुरुषविध नित्य सौर प्राणदेवता, पुरुषविध अनित्य मनुष्यदेवता, एवं पुरुषविध नित्य चान्द्रदेवताओंका निरूपण समाप्त होचुकाहै। अब क्रमप्राप्त शेष ५ प्रकारके देवताओं का दोचार शब्दोंमें निरूपणकर इस देवप्रकरणको समाप्त कियाजाताहै। ४ थे देवताहै – अपुरुषविध अचेतन भूतमयदेवता। "देवेभ्यश्च जगत् सर्वम्" (मनुः) के अनुसार विश्वके उपादान देवताहै। आप संसारमें जितनें भौतिक पदार्थ देखरहेहैं विश्वास कीजिए वे सब देवग्रामहै। देव और देवताशब्द का अर्थ बतलाते हुए हमनें बतला दिया है (देखो २ अंक) कि देवता शब्द ऋषि, पितर, असुर, गधर्व, देव आदि प्राणमात्रका वाचकहै, एवं देवशब्द केवल ३३ सौरदेवोंका ही वाचकहै। भौतिक पदार्थ देवग्राम नहीहैं अपितु देवताग्रामहैं। ऋषि पितरादि सभी प्राणों की समष्टि है। इसी अभिप्रायसे 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः' यह कहा जाताहै। इन देवताओंमें से हमें यहां केवल 'देव' प्राणका निरूपण करनाहै। यह देवप्राण सौरप्राणहै, जसाकि सौर देवों के निरूपणमें बतलाया जाचुका है। जितने भी भूत हैं, वाङ्मयहैं। वाक् आकाशका नामहै। भूतों में पहिला भूत यहीहै। आकाश (मर्त्याकाश) ग्रन्थिबंधन सम्बन्धके कारण वायु बनताहै। वायु तेज बनताहै, तेज पानी बनता है। पानी मिट्टी रूपमें परिणत होताहै। इस प्रकार वही वाक् पञ्चभूत रूपमे परिणत होजाती है। हम जोकुछ आंखसे देखतेहैं, सब वाङ्मयहै। अर्थात् पञ्चभूतमयहै। इसी अभिप्रायसे 'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐ. आरण्यक ३।१६) 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' (तै. ब्रा. २।८।८।४) इत्यदि कहाजाताहै। वाक्पिंड कहो या

भूतपिंड कहो ऐकही बातहै। इस भूतपिण्डमें एक प्राणतत्त्व व्याप्त रहताहै। प्राणतत्त्वनेंही भूतको स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित कररक्खाहै। जिस वस्तूमेंसे प्राण निकलजाताहै, वह वस्तु (भूत) नष्ट होजातीहै। प्रत्येक वस्तुमें प्राणहै, दमहै। इस प्राणनेंही चारों औरसे भौतिक परमाणुओंको बध्द कररक्खाहै। अतएव इसकेलिए—'प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते' (शत.१४।८।१४।२) यह कहाजाताहै। भूतका हम प्रत्यक्ष करसकतेहैं, परन्तु प्राणका नहीं। प्राण नीरूपहै। इसप्राणको पानीसे पकड़ा जासकताहै। कारण इसका यहीहै कि प्राकृतिक नित्य प्राण आपोमय परमेष्ठी मण्डलमेंही प्रतिष्ठितहै। सौर प्राणमण्डल पानी के बीचमेंहै। वही सौर प्राण प्रवर्ग्य बनकर (अलग होकर) पदार्थों में प्रविष्ट हुआ है। कागज में सर्वत्र प्राण भराहै। यदि कागजको फाडदिया जाताहै तो ग्रन्थिबंधन टूटजानेसे उतनी दूरका प्राण निकल जाताहै। अब गूंद में पानी मिलाकर यदि कागजको जोड़ दियाजाताहै तो वहां पानीके सहारे पुनः प्राण प्रविष्ट होजाता है, जैसा कि अपाप्रणयन कर्म्म में विस्तार के साथ बतलाया जाचुकाहै। सौरप्राण देवहै। उस प्राणनें अपनें प्रवर्ग्य भाग से वस्तुमात्रको बध्द कर रक्खाहै। जो सौरप्राण इन भूतोंके विधरणमें उपयुक्त होगयाहै, वही भूतमय देवताहै। त्रैलोक्यमें ऐसा कोइ भी पदार्थ नही है जो सौर प्राणसे विष्टब्ध नहो। इसी भूतमय प्राणविज्ञानको लक्ष्यमें रखकर महर्षि पिप्पलाद कहतेहैं—

> विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
> सहस्ररश्मिः शतधावर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः
> (प्रश्नोपनिषत्. १।८ इति)।

सूर्य्य बृहती छन्दपर प्रतिष्ठितहै। अतएव सौरसाम 'बृहत् साम' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव च सौरप्राण 'बृहतीप्राण' नामसे व्यवहृत कियाजाताहै।

जडचेतनात्मक सारा भौतिक प्रपञ्च इसी बृहतीप्राणसे विष्टब्धहै। इसी प्राणमय भूतदेव विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर ऐतरेय कहते है—

"सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः। तद्यथाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्याविष्टब्ध, एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्"। (ऐ. आ. २।१।६) इति।

इन भूतमय देवताओंको हम भूतरूपसे प्रत्यक्ष कररहेहैं। यही इस प्रकरणके चौथे देवताहै।

४

५ वेहैं अभिमानी 'देवता' इन देवताओंके विषयमें हम अधिक कुछनहीं कहना चाहते, क्योंकि शारिरकादि दर्शनोंमें इनका बड़े विस्तारसे निरूपण कियागया है। अभिमानी देवताओंका स्वरूप बतलातेहुए भगवान व्यास कहतेहैं—"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्"। इन्ही अभिमानी देवताओंको आत्म देवता कहाजाताहै। इस प्रकरणमें निरूपित सातों देवताओंमें इस अभिमानी देवताकी व्याप्तिहै। इसकी व्याप्तिके कारणही हम पदार्थमात्रको चेतन मानतेहै। गंगाजल पानीहै। उसमें अभिमानी देवताहै। वही हमारा आराध्यहै। पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, नदी, पर्वत, औषधि, वनस्पति, आदि आदि यच्चयावत पदार्थमें यह अभिमानी देवताहै। उपासनासे इसी देवताका साक्षात्कार किया जाताहै। एकही सौररश्मि आयतन भेदसें जैसे कईरूपधारण कर लेतीहै, इस प्रकार एकही अभिमानी देवता भिन्न भिन्न पदार्थोंमें व्याप्तहोकर भिन्न भिन्न रूप धारण करलेताहै। 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' के अनुसार वह एकही अनन्त रूपमें परिणत होरहाहै। विज्ञान कोटिमें इस अभिमानी देवताको हम 'अक्षर' कहसकतेहैं। षोडशी प्रजापतिका स्वरूप बतलातेहुए पूर्वके अंकोंमें हम यह बतलाचुके हैं कि-वह

षोडशी प्रजापति परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, इन चारकलाओं से युक्तहै। इनमें परात्पर अर्द्धमात्राहै। अव्यय 'अ' है। अक्षर 'उ' है। आत्मक्षर 'म्' है। चारोंकी समष्टि 'ओम' है। यही आत्मका स्वरूप है। इसीकेलिए 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मनं' (मुण्डकोपनिषत) यह कहा जाता है। इस आत्मका अव्यय भाग ज्ञानमय है। क्षरभाग अर्थमय है। मध्यस्थ अक्षर भाग क्रियामय है। दूसरे शब्दोंमें अव्यय अविकुर्वाण है, आलम्बन है। अक्षर कुर्वाण है, निमित्तकारण है। क्षर कुर्वाण है, उपादान कारणहै। इनमें मध्यस्थ कुर्वाण अक्षरकी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, यह पांच कलाए हैं। इन पांचोंमें ब्र० वि० इन्द्र तीनों का नाम अन्तर्य्यामी है। अग्नि सोमका नाम सूत्रात्मा है। अग्नि सोम सूत्रसे वैकारिक अग्नि सोम द्वारा सारासंसार बनाकर वह अन्तर्य्यामी 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार सबके केन्द्रमें प्रतिष्ठित होरहा है। प्रत्येक-पदार्थमें स्थिति है। ठहरावहै। सत्ताहै। यही ब्रह्माक्षर है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर कुछलेतारहता है। जिस शक्तिसे वहलेता है वही विष्णुहै। एवं साथही में उस पदार्थमें से निरन्तर कुछ निकला भी करता है। जिस शक्तिसे वह आगतवस्तुओं को निकालतारहता है वही इन्द्राक्षर है। तीनों अक्षर वस्तुके केन्द्रमें रहते हैं। केन्द्रमें रहकर, अन्तरभागमें प्रतिष्ठित होकर इस अक्षरत्रयीनें उस वस्तुका नियमन कर रक्खा है अतएव 'अन्तस्तिष्ठन् नियमयति' इस व्युत्पत्तिसे उसे अन्तर्य्यामी कहा जाता है। वस्तु पिण्ड अग्नि सोममय है। यह पिण्ड उसी अन्तर्य्यामी पर प्रतिष्ठित है। इसी लिएतो—'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' यह कहा जाता है। यह अन्तर्य्यामी चेतनामय है। जड चेतन सबके केन्द्रमें प्रतिष्ठित है। अतएव बहिर्मुख जीव इसे नहीं पहिचानता। 'पराञ्चिखानि व्यतृणात् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' के अनुसार अपने केन्द्रमें प्रतिष्ठित इसे तत्त्व

पदार्थ जाननेमें असमर्थ है। इसी अक्षर रूप अन्तर्य्यामी को 'हृदय' कहा जाता है। यह सत्य प्रजापति है। इसीने सबको नियत मार्गपर आरूढ कर रक्खा है, अतएव इसे 'नियति सत्य' कहा जाता है। इस नियतिकी चर्य्या (आचरण—व्यापार) से ही सारे पदार्थ नियतिचर बन रहे है। सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पशु, पक्षि, कृमि, कीट, पशु, पक्षि आदि सभी नियत भावपर आरूढ है। क्या मजाल यह जरा भी अपने कार्य्यसे (नियत स्वभावसे) विचलित होजांय। यही 'नियतिचर' निरुक्त क्रमके अनुसार आज पाश्चात्यभाषामें 'नेचर' रूपमें परिणत होरहा है। इस सत्य देवागकी मर्य्यादा का यदि कोई उल्लंघन करता है तो वह मनुष्य ही है। इसी अभिप्रायसे याज्ञवल्क्य कहते है—

'नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः। मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति (शत. २ का. ४।२।५।) इति। इसीलिए मनुष्यों के लिए 'अनृतसंहिता वै मनुष्याः, यह कहाजाताहै। मनुष्य क्यों इसका उल्लंघन करनेमें समर्थहोतेहैं इस प्रश्नका समाधान उसी प्रकरण में कियाजायगा। यहां केवल हमे यही बतलानाहै कि चाहे व्यावहारिक दृष्टिके अनुसार वह वस्तु जडहो, या चेतनहो, सबके केन्द्रमें स्थिति, आदान, विसर्गात्मक अक्षररूप अन्तर्य्यामी प्रतिष्ठित रहताहै। यद्यपि—अक्षरसे क्षर उत्पन्न होताहै। क्षरकी प्राणकलासे स्वयम्भूका प्रादुर्भाव होताहै। आपकलासे परमेष्ठी उत्पन्न होताहै। आपोमय परमेष्ठी के उदरमें सूर्य्य उत्पन्न होताहै। एवं सूर्य्यमें देवताओंका विकास होताहै। ऐसी अवस्थामें देवताओंके अतिवृद्धप्रपितामह अक्षरको देवता नहीं बतलाया जासकता, तथापि अव्यय पुरुषकी अपेक्षासे हम अक्षरको देवता कह सकतेहैं। उक्थ आत्माहै। अर्क देवताहै। यह आत्मा, और देवता शब्दकी सामान्य परिभाषा है। अव्यय उक्थहै। अक्षर उसके अर्कहै। अक्षर पुरुष उक्थहै, क्षरपुरुष अर्कहै। सूर्य्य उक्थहै, रश्मियें अर्क है।

अव्यय पुरुष उक्थ होनेसे आत्माहै। अक्षर प्रकृति अर्करूप होनेसे देवताहै। अक्षर आत्मा का भागहै। परन्तु अर्क रूपहोनेसे देवताहै। इसीलिएतो हमनें इसे 'आत्मदेव' कहाहै। यह अक्षररूप आत्मदेव—अन्तर्यामी, और सूत्रात्मा इन दो स्वरूपोंमे परिणतहोकर सर्वत्र व्याप्त होरहाहै। अ॰ वि॰ इन्द्रके॰ भाग अन्तर्य्यामी बनकर केन्द्रमें प्रतिष्ठितहै। एवं अग्नी सोम भाग सूत्र रूपमें परिणत होकर. क्षरअग्नीषोममय पिण्डमें प्रतिष्ठितहै। काप्य ऋषि की पत्नीके शरीरमें प्रविष्ट कबन्ध आथर्वणनें उद्दालकादि वैज्ञानिकों से इसी अन्तर्य्यामी, और सूत्रात्माका स्वरूप पूछाथा। अन्तमें उनको उत्तर देनेमें असमर्थ देखकर स्वयं गंधर्वनें विस्तारसे इन दोनोंका स्वरूप बतलायाथा। अन्तमें जनककी सभामें प्रमुख विद्वानोंके सामनें उद्दालकके प्रश्न करनेंपर परम वैज्ञानिक भगवान याज्ञवल्क्यनें इन दोनोंका विस्तारसे निरूपण कियाथा। इनमें अन्तर्य्यामी का स्वरूप बतलातेहुए याज्ञवल्क्यनें कहाथाकि हेगौतम !

'यः पृथिव्यां, अप्सु, अग्नौ, आकाशे, वायौ. आदित्ये, चन्द्रतारके, दिक्षु, विद्युति, स्तनयित्नौ, सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु वेदेषु सर्वेषु यज्ञेषु, सर्वेषु भूतेषु प्राणे, वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि, त्वचि, तेजसि, तमसि, रेतसि, आत्मनि, (अव्ययात्मनि), तिष्ठन्, पृथिव्याः, अद्भ्यः, अग्नेः, आकाशात्, वायोः, आदित्यात्, चन्द्रतारकात्, दिग्भ्यः, विद्युतः, स्तनयित्नोः, यं पृथिवी॰ आप॰ नवेद, यस्य पृथिवी शरीरं, आप शरीरं॰यः पृथिवी मन्तरो, अपोऽन्तरो॰ यमयति, स ते-अन्तर्यामी—अमृतः।" (शत. १४।६।८) इति।

वह सबके भीतरहै। सबका संचालन कररहाहै। वस्तुस्वरूपसत्ता उसी पर निर्भरहै। 'वस्तु स्वरूप सत्ताका—'अहमस्मि' (मैं अपनें स्वरूपमें प्रतिष्ठितहूं') इस प्रकारसे निर्वाचन किया जातहै। यह निर्वचन उसी अन्तर्यामी पर निर्भरहै। अतएव भगवान व्यास ने इस आत्म देवताको

'अभिमानी' (आत्माभिमानी—'अहमस्मि' इत्याकारक बोधका अधिष्ठाता) देवता कहा है। यही हमारे प्रकरणके ५ वें देवता हैं।

५

६ ठे देवताहैं—मन्त्र देवता। प्रकृतिमें भिन्न भिन्न स्वरूप रखनें वाले अनन्त प्राणदेवताहै। 'को हि तद्वेद यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः' (शत.७। २।२।२०) याज्ञवल्क्य के कथनानुसार केवल आध्यात्मिक जगतके प्राणदेवताओंकी ही जब गणना नहीं कीजासकती तो फिर ऐसे अनन्त अध्यात्मिक विश्वोंको अपने उदरमें रखनेवाले आधिदैविक प्राण देवताओंके आनन्त्यका तो कहना ही क्या है। असलमें प्राणदेवता एक है। इसके आनन्त्य का एकमात्र कारण 'छन्द' का विभेद है। इस छन्दका स्वरूप पूर्व के ६ अङ्कमें विस्तारके साथ बतलाया जाचुका है। अतः यहां इस विषयमें हम अधिक कुछ नहीं कहेंगे। यहां हमें केवल यही बतलाना है कि वैज्ञानिकोंनें उन उन प्राणदेवताओंके स्वरूपको उन उन छन्दोंके द्वारा पहिचान कर अनुष्टुप् (वर्ण) वाक्युक्त बृहतीवाक् (स्वरवाक्) रूप छन्द द्वारा उन उन प्राणदेवताओंके स्वरूपको हमारेसामनें रक्खा। बस छन्दोमय देवस्वरूपोंकी समष्टिका नामही—'मन्त्रसंहिता' हुआ। प्रत्येक मन्त्र साक्षाद्देवता है। मन्त्रका जो छन्द है उसीसे यह छन्दित है। गायत्री छन्दसे युक्त मन्त्र अग्निदेवमय हैं। त्रिष्टुप् छन्दसे युक्त मन्त्र साक्षात् इन्द्रदेवता है। जगती छन्दसे युक्त मन्त्र साक्षात् आदित्यदेवता है। जो मनुष्य इस प्राणदेव रहस्यको विनाजाने मन्त्रके वर्ण 'स्वर' आदिकी उपेक्षाकर डालते है, वे छन्द स्वरूपको नष्ट करते हुए देवस्वरूपको नष्टकर अपना अनिष्ट करते हैं। इसी अभिप्रायसे—

स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' ॥

यह कहाजाता है। कहना यही है कि छन्दसे छन्दित मन्त्र साक्षाद्देवता है—इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'यां वै देवतामृगभ्यनूक्त' यां यजुः सैव देवता। सास्तृक्। सा उ देवता तद्यजुः-(शत० ७।५।१।४)। बस हमारे प्रकरणके यही ६ ठे मन्त्रदेवता है

६

७ तवें हैं आत्मदेवता। यद्यपि हमने अभिमानी देवताको भी आत्म देवता ही कहा है। परन्तु इस सातवें देवताओंको उस आत्मदेवतासे पृथक् समझना चाहिए। इस आत्मदेवताका 'जीवात्मारूप' भूतात्मासे सम्बन्ध है। वैश्वानर भी अग्नि है। तैजसभी अग्निहै। एव प्राज्ञ भी अग्नि है। इस अग्नित्रयकी समष्टिका नाम ही भूतात्माहै। वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ रूप ईश्वरात्मा 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहलाता है। एवं वै. तै. प्रा. रूप जीवत्मा 'भूतात्मा' कहलाता है। अग्नित्रय रूप भूतात्मा संसज्ञ जीव। है। वै तै रूप भूतात्मा अन्तः संज्ञ जीव है। एवं वैश्वानरात्म रूप भूतात्मा असंज्ञ जीवहै। इनतीनों का पूर्वके ११-१२ अंकमें १४ प्रकारके भूतसर्गके निरूपणमें विस्तारके साथ निरूपण किया जाचुका है। तीनोंही आत्मा अग्निमय है। 'अग्निः सर्वा देवताः' के अनुसार अग्नि देवरूपहै। अतएव इस आत्माको हम आत्म देवता कहने के लिए तय्यार हैं। यह आत्मदेव ब्रह्म ससपए प्रतिष्ठित हैं। एवं ब्रह्मदेव इसी अभिमानी देवपर प्रतिष्ठित है। इस विषयमें हमें अभी वहुत कुछ कहना है। यदि इस प्रकरणको यहां उठाया जायगा तो दो तीन अंकमें जाकर इसकी समाप्ति होगी। इस लिए इसे यही किसी आगे के प्रकरणके लिए छोडकर ८ वें कर्म्म देवताओं की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते है।

७

८ वें कर्म्म देवता हैं । प्रत्येक कर्म्ममें भिन्नभिन्न देवता होतेहैं । यद्यपि प्रत्येक कर्म्ममें अनेक देवता होतेहैं, तथापि जिस कर्म्ममें जो देवता प्रधान होता है, उस कर्म्मका देवता वही मानाजाता है । दर्शेष्टिके प्रधान देवता इन्द्राग्नि है । पूर्णमासेष्टिके प्रधानदेवता अग्नीषोमहैं । अतः इन कर्म्मों के कर्म्म देवता यही कहलाते हैं । बस इस प्रकरण के यही आठवें देवताहै

८

इति देवनिरूपणं समाप्तम् ।

जिस प्रकार देवता (केवल सौरदेवता) ३३ प्रकारके हैं, एवमेव असुर ९९ प्रकारके है । देवताओं से तिगुनें है । यह ९९ आसुर प्राण सूर्य्य को अपने उदरमें रखनेवाले आपोमय परमेष्ठीके भीतर उत्पन्न होते है । सृष्टि काम प्रजापति (आपोमय परमेष्ठी प्रजापति) सृष्टि कामना करतेहै । तद्नुकूल तप (प्राणव्यापार) करतेहै । तदकूल श्रम (वाक्व्यापार) करतेहै । इन सृष्ट्यनुबंधी काम, तप, श्रमसे प्रजापतिका यशोवीर्य्य (प्राणभाग) उत्क्रान्त होजाता है । प्राण ही वस्तुको पवित्र बनाए रखता है । जिस वस्तुमें से प्राण निकल जाताहै वह सड़ने लगती है । प्राण वायु ही आदान विसर्ग द्वारा उस वस्तुको पवित्र बनाए रखता है । जब मनुष्यशरीरमें से प्राण वायु निकल जाता है तो वह शरीर (शव) सडने लगता है । यही हालत उस प्रजापतिकी हुई । प्राणके निकल जानेसे वहां केवल पानी रहगया । वह प्रजापति प्राण निकलजानेसे सूजगया, और सडगया । उसी सडान से आसुर प्राण उत्पन्न हुआ । (देखो बृहदारण्यकोपनिषत् १ । १) । पानी वरुणदेवत्य है । जहां प्राण वायु नहीं घुसता वहां 'यद्वै वातो नाभिवाति तत सर्वं वरुणदेवत्यम' के अनुसार वरुणदेताकी सत्ता होजाती है । वरुणकी

शक्ति पाशहै। वह उससे उस वस्तुका वेष्टन करलेता है। इसी समय उसमें सड़ान पैदा होजाती है। वहपानी आसुर है। वारुण है। इसी अभिप्राय से 'वरुण्या वा एता आपो याः स्यन्दमानां न स्यन्दन्ते' (पानियोंमें वह पानी वरुण्याहै जो कि पानियोंमे नहीं बहते है—शत ५।३ ४।१२) यह कहाजाता है। अतएव अपेय है। बहता पानी वायव्य होनेसे ऐन्द्रहै। क्योंकि वायुमें एक चौथाई इन्द्र (विद्युत्) रहता है। यही पेय है। कहना यही हैकि पार मेष्ठ्य पानीका जो भाग प्राणवायु शून्य है वह वारुणदेवता होकर असुरसृष्टि का जनक होता है। आसुर प्राण सूर्य्यसे पहिले उत्पन्न होता है। एवं देव प्राणसे तिगुनी संख्यामें उत्पन्न होता है। परमेष्ठीमें भृगु और अंगिरा दो तत्वोंकी सत्ता बतलाई जाती है। एक तीसरा अत्रि प्राण और है। धामच्छद् व.क् तत्वका नामही 'अत्रि' है। यह पारदर्शकताका प्रतिबंधी है। आते हुए सौर प्राणको वापस लौटादेना इसी अत्रि प्राणका काम है। भृगु अंगिरावत यह तीन नहीं है अतएव इसे 'नत्रिः' इस व्युत्पत्तिसे अत्रि कहा जाता है। रजस्वला स्त्रीमें सौर प्राण विरोधी इसी अत्रि प्राणकी सत्ता रहती है। अतएव रजस्वलाको आत्रेयी कहाजातहै। ब्रह्म क्षत्र. विट् तीनों वीर्य्य सौर—गायत्र, सावित्र, सारस्वत प्राणसे उत्पन्न होते हैं। अत्रि तीनोंका विरोधी है। अतएव आत्रेयीका स्पर्श नहीं करना चाहिए। अस्तु इस अप्राकृत विषयका विवेचन ऋषि स्वयं आगे आने वाले ब्राह्मणोंमें (४।५।१.३) करने वाले हैं। अतः यहां इसके लिए अधिक कुछ न कहकर भृगु और अंगिराकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। भृगुकी आप, वायु, सोम तीन अवस्था है। इनमें आप्य वारुणप्राण आसुर है। वायव्यप्राण गंधर्व है। सौम्य प्राण पितर है। पितर, गधर्व, असुर तीनों सृष्टिएं परमेष्ठीमें ही होती है। सौम्यप्राणपर आसुर आप्यप्राण निरन्तर आक्रमण किया करता है। परन्तु मध्यपतित वायुरूप गंधर्व प्राण उस आक्रमणसे सोमको बचाया करता है। अतएव गधर्वको सोमरक्षक बतलाया जाता है। दूसरा

है अंगिरा । अंगिराका आदित्य, वायु, अग्नि तीन रूपसे विकास होता है। आदित्य सूर्य्य है । वायु अन्तरिक्ष है । अग्नि पार्थिव है । यह अंगिरा प्राण है । भृगु रयिहै । प्रश्नोपनिषत्‌ने भृगु अंगिराकेलिए रयि प्राण कहा है । यह प्राण भाग ही उस प्रजापतिका उत्क्रान्त यशोवीर्य्य है । इस से देवसृष्टिहोती है । रयि भागसे (रयिरूप भृगुके आप भागसे) आसुरी सृष्टि होती है । दोनों प्रजापति की संतान है । असुर—उत्पत्ति और सख्या दोनों में देवताओंसे बड़ेहैं । आसुरप्राण बलवान्‌है । देवप्राण ज्ञानप्रधानहोनेसे निर्बल है । शरीरका बलवान् होना आसुरप्राणका कामहै । विद्याबल देवबलहै । जो बलवान (पहलवान) होतेहै वे मूर्ख होतेहैं । जो विद्वान्‌होतेहै वे शरीरबलसे हीनहोतेहैं । इसी देवासुर विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित निगम वचन हमारे सामने आतेहै—

१ १—देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वयाः पुत्रा आसन् । (ताण्ड्य ब्रा० १८।१।२) इति ।

२—तेऽसुरा भूयांसो बलीयांस आसन । (ताण्ड्य ब्रा० १८।१।२)इति।

३—कनीयस्विन इव वै तर्हि देवा आसन, भूयस्विनोऽसुराः (ताण्ड्य ब्रा० १२।१३।३१) ।

९९ प्रकारके आसुरप्राण सौर इन्द्रप्राणपर निरन्तर आक्रमण कियाकरतेहै । परन्तु यह इन्द्रप्राण अपने गागदपानत् व्यापारसे उन ९९ असु-

---

१—देवता और असुर परमेष्ठी प्रजापति के यह दो (जातिके) पुत्रथे ।

२—उनदोनोंमे असुर देवताओंकी अपेक्षा बलवानथे, और सख्यामे भी अधिकथे ।

३—देवता सख्यामे नगण्यथे, असुर बहुतथे ।

रोंको निर्बल बनाया करताहै। इसीविज्ञानको लक्ष्यमेंरखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव (९९)। ऋक्० १।८४।१३ मं०) इति।

जैसे देवविभागमें मनुष्यदेवताथे, एवमेव असुरविभागमें भी मनुष्य असुरथे। दोनों ही ऐशियामाइनरमें रहनेंवाले स्वयम्भूमनुकी आज्ञामें चलतेथे। जैसे देवताओंको त्रैलोक्य मिलाथा, तथैव इन्हें भी त्रैलोक्य मिलाथा। चूंकि यह संख्यामें (प्रकृतिवत्) देवताओंसे अधिकथे, अतएव ब्रह्मानें इन्हें अधिक स्थान दियाथा। अफ्रीका, अमेरीका, यूरोप यहत्रैलोक्य आसुरत्रैलोक्यथा। असुर स्वभावसेही महादुष्ट होतेथे। अपनी संपत्तिके अलावा देवसंपत्तिपरभी इनकी दृष्टि लगी रहतीथी। एशियामाइनरमें रहनेंवाले पिता प्रजापतिके मिलनेंके बहानें यह लोग अफ्रीकाके दररेमें होकर देवत्रिलोकीमें आयाकरतेथे। अन्तमें इसीस्थानके समीप 'जूडिया' नामसे प्रसिद्धस्थानमें देवासुरमें घोरसंग्राम हुआथा। योंतो यहसंग्राम असंख्यथे। परन्तु १२ संग्राम बहुत भयंकर हुएथे। वे १२ हों संग्राम ऋग्वेदमें महासंग्राम नामसे प्रसिद्धहैं। अस्तु इसविषयका निरूपण फिर किसी आगेके प्रकरणमें कियाजायगा। अभीकेवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगाकि परमेष्ठीमें आसुरप्राण उत्पन्न होता है। उत्पन्न होकर यह हमारे रोदसी त्रैलोक्यमेंव्याप्तहोता है। वायु में (पारमेष्ठ्य आप वायुमें) वह प्राण भरारहता है। दिव्य भावको दूषित करना इनका प्रधान काम है। यह आंखोसे नहीं दीखता। यह नाष्ट्राराक्षस प्राण, अन्तरिक्षमें अप्रसत्त्वरूपसे वायुमें भरे रहते हैं। इसी अभिप्रायसे—

"तिर इवैतद्यद्रक्षांसि" (ऐ. २७।), 'अमूलं वा इदमुभयतः परिच्छिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति' (श. ३।१।३.१.३।) इत्यादि कहा जाता है। आज यह यजमान यज्ञ करना चाहताहै। यज्ञ पात्रोंमें वही आसुर प्राण वायुद्वारा

प्रविष्टहोरहाहै । यह प्राण—देवमय यज्ञात्माका विरोधी है । यदि यह रहजा-यगा तो यज्ञात्माका स्वरूप विकृत होजायगा । अत इसे निकालना परम आवश्यक है । उसे निकालनेका एकमात्र उपाय है. प्रतपन क्रिया । अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता' 'अग्निर्वै ज्योतीरक्षोहा' के अनुसार आग्नेय प्राण' उस आप्य वायु प्रधान आसुर प्राणका नाशक है । सडीवस्तु आसुर प्राणमय है उसे आप धूपमें रखदीजिए । उसी समय सारे आसुरप्राण भागजांयगे । बस उन्हींको नष्ट करनेके लिए पात्रप्रतपन कर्म्म कियाजाताहै । इसी देवासुर विज्ञानको सामने रखते हुए प्रतपन कर्म्मकी उत्पत्ति बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते है—

'देवाह वै यज्ञं तन्वानाः--तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयाञ्चक्रुः । तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रारक्षांस्यतोऽपहन्ति ३" ।

प्रकृतिमें यज्ञ होरहा है । सौरदेवताओंके अग्नीषोमात्मक यज्ञपर पारमेष्ठ्य आसुर प्राणका आक्रमण होरहा है । परन्तु सौराग्नि अपने तापसे उनको नष्टकर यज्ञको आसुरभाव शून्य बनारहा है । उसी प्राकृतिक नित्य यज्ञकी नकल यह वैधयज्ञ है । यजमान ऋत्विजादि इस यज्ञके देवता हैं । इनको भय होरहा है कि कहीं वायव्य नाष्ट्राप्राण हमारे यज्ञपात्रोंमें अन्तर्य्याम सम्बन्धसे प्रविष्ट न होजाय । इस डरको दूरकरनेके लिए यह यज्ञोप क्रममें ही प्रतपन क्रिया द्वारा उनका निष्काशन करदेते हैं । श्रुति शिक्षा-देतीहै कि यदि तुम्हारा शत्रु तुम्हारे ऊपर आक्रमण करे तो उसकी उपेक्षा मतकरो । आते ही उसे मार भगाओ । यदि उपेक्षा करोगे तो वह प्रतिष्ठित होजायगा । फिर उसेनिकालना मुश्किल है ।

(इति पात्र प्रतपनोपपत्तिः)

इति पात्रप्रतपनम् ।

५

अथ प्रैति । उर्व्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यन्तरिक्षं वाऽअनुरक्ष-श्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद्ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमना-ष्ट्रं कुरुते ॥ ४ ॥ स वाऽअनस एव गृह्णीयात् । अनो ह वाऽ अग्रे प्रथेव वाऽ इदं यच्छालॐ स यदेवाग्रे तत्करवा-णीति तस्मादनस एव गृह्णीयात् ॥ ५ ॥ भूमा वाऽ अनः भूमा हि वाऽ अनस्तस्माद्यदा बहु भवत्यनोवाह्यमभूदित्याहु-स्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मादनस एव गृह्णीयात्॥६॥यज्ञो वाऽ अनः । यज्ञो हि वाऽ अनस्तस्मादनस एव यजूॐषि सन्ति न कोष्ठस्य न कुम्भ्यै भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तदृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूॐष्यासुस्तान्येतर्हि प्राकृतानि यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमाऽ इति तस्मादनस एव गृह्णीयात् ॥ ७॥ इतो पात्र्यै गृह्णन्ति । अनन्तरायमु तर्हि यजूॐषि जपेत् स्फ्यमुतद्यधस्तादुपोह्य गृह्णीयाद् यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जंति ततो विमुञ्चन्ति ॥ ८ ॥ तस्य वाऽएतस्यानसः । अग्निरेव धूरग्निर्हि वै धूरथ यऽएनद्व हन्त्यग्निदग्धमिवैषां वहं भवत्यथ यज्जघनेन कस्तम्भी यऽ उगं वेदिरेवास्य सा नीड एव हविर्धानम् ॥ ९ ॥

स धुरमभिमृशति । धूरसि धर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वाम इत्यग्निर्वाऽ एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन्

भवति हविर्ग्रहीष्यंस्तस्मा ऽ एवैतन् निह्नुते तथो हैतमेषो ऽतियन्तमभिधूर्वो न हिनस्ति ॥ १० ॥ तद्ध स्मैतदारुणिराह अर्द्धमासशो वा ऽअहꣳ सपत्नान् धूर्वामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह ॥ ११ ॥ अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति । देवानामसि व्वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् । अह्रुतमसि हविर्द्धानं दृꣳहस्व मा ह्वारित्यन एवैतदुपस्तौत्युपस्तुतादातमनसो हविर्गृह्णानीति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशाशास्ते ॥ १२ ॥ अथाक्रमते । व्विष्णुस्त्वाक्रमतामिति यज्ञो वै व्विष्णुः स देवेभ्य इमां व्विक्रान्तिं व्विचक्रमे यैषामियं व्विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामेवैष एतस्मै व्विष्णुर्यज्ञो व्विक्रान्तिं व्विक्रमते ॥ १३ ॥ अथ प्रेक्षते । उरु व्वातायेति प्राणो वै व्वातस्तद् ब्रह्मणैवैतत्प्राणायव्वातायोरुगायं कुरुते ॥ १४ ॥ अथापास्यति । अपहतꣳ रक्ष इति यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्वु नाभ्येव मृशेत् तन्नाष्ट्रा ऽ एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥ १५ ॥ अथ गृह्णाति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामीति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतद् गृह्णात्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघो ऽशनं

पाणिभ्यामुपनिधाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत्सत्येनैवै-
तद्गृह्णाति ॥१७॥ अथ देवतायाऽआदिशति । सर्वा ह वै
देवता अध्वर्युꣳ हविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यति
मम नाम ग्रहीष्यतीति ताभ्य एवैतत् सह सतीभ्योऽसमदं करोति
॥१८॥ यद्वेव देवतायाऽआदिशति । यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो
हवीꣳषि गृह्णन्त्यृणमु हैव तास्तेन मन्यन्ते यदस्मै तं
कामꣳ समर्धयेयुर्यत्काम्या गृह्णाति तस्माद्वै देवतायाऽआ-
दिशत्येवमेव यथापूर्वꣳ हवीꣳषि गृहीत्वा ॥ १९ ॥ अथा
भिमृशति । भूताय त्वा नारातयऽइति तद्यत एव गृह्णाति
तद्वैतत्पुनराप्याययति ॥ २० ॥ अथ प्राङ् प्रेक्षते । स्वरभि-
विख्येषमिति परिवृतमिव वाऽएतदनो भवति तदस्यैतच्चक्षुः
पाप्मगृहीतमिव भवति यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्यस्तत्स्वरेवैत-
दतोऽभिविपश्यति ॥ २१ ॥ अथावरोहति । दृꣳहन्तां दुर्याः
पृथिव्यामिति गृहा वै दुर्य्यास्ते हैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य
योऽस्यैषोऽध्वर्य्युर्यज्ञेन चरति तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोस्तस्येश्वर
कुलं विक्षोब्धोस्तान्नेवैतदस्यां पृथिव्यां दृꣳहति तथा नानु-
प्रच्यवन्ते तथा न विक्षोभन्ते तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्या
पृथिव्यामित्यथ प्रैत्युर्वन्तरिक्षमन्वेमीति सोऽसावेव बन्धुः
॥ २२॥ स यस्य गार्हपत्ये हवीꣳषि श्रपयन्ति । गार्हपत्ये
तस्य पात्राणि सꣳसादयन्ति जघनेनो तर्हि गार्हपत्यꣳसा-

दयेद्यस्याहवनीये हवीᳪषि श्रपयन्त्याहवनीये तस्य पात्राणि सᳪसादयति जघनेनो तर्ह्याहवनीयᳪसादयेत् पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीति मध्यं वै नाभिर्मध्यमभयं तस्मादाह पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीत्यदित्याउपस्थऽइत्युपस्थऽइवैनदभार्षमिति वाऽआहुर्यत्सुगुप्तं गोपायन्ति तस्मादाहादित्याऽउपस्थ इत्यग्ने हव्यᳪरक्षेति तदग्नये चैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्याऽअस्यै च पृथिव्यै तस्मादाहाग्ने हव्यᳪ रक्षेति ॥ २३ ॥ २

इति प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये वा द्वितीयं ब्राह्मणम्

१ । १ ।

अथ प्रैति–"उर्वन्तरिक्षमन्वेमि" (१ अ० ७ मं०) इति । अन्तरिक्षं वा अनुरक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथाऽयं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति । तद्–ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते । स वा अनस एव गृह्णीयात् । अनो ह वा अग्रे, पश्चेव वा इदं–यच्छालं; स यदेवाग्रे–तत् करवाणीति, तस्मादनस एव गृह्णीयात् ॥ भूमा वा अनः भूमा हि वा अनस्तस्माद्–यदा बहु भवति, अनोवाह्यमभूदित्याहुः । तद् भूमानमेवैतदुपैति । तस्मादनस एव गृह्णीयात् । यज्ञो वा अनः । यज्ञो हि वा अनस्तस्माद्–अनस एव यजूंषि सन्ति । न कौष्ठस्य, न कुम्भ्यै । भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति । तदृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः । तान्येतर्हि गाक्षुतानि–यज्ञायक्षं निर्मिमा इति, तस्मादनस एव गृह्णीयात् । उतो पात्र्यै गृह्णन्ति । अनन्तरायमु तर्हि यजूंषि जपेत् । स्फ्यमु तर्ह्यधस्तादुपोह्य गृह्णीयात्–यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति । यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमु-

ञ्चन्ति। तस्य वा एतस्यानसोऽग्निरेव धूः। अग्निर्हि वै धूः। अथ य एनद् वहन्ति—अग्निदग्धमिवैषां वहं भवति। अथ यज्जघनेन कस्तम्भीं प्रउगं—वेदिरेवास्य सा। नीड एव हविर्द्धानम्॥ स धुरमभिमृशति—"धूरसि, धूर्व धूर्वन्तं, धूर्व तं—योऽस्मान् धूर्वति, तं धूर्व—यं वयं धूर्वामः" (१ अ० ८ मं०) इति। अग्निर्वा एष धुर्यः, तमेतदत्येष्यन् भवति—हविर्ग्रहीष्यन्। तस्मा एवैतत् निह्नुते। तथो हैतमेषोऽतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति॥ तद्ध स्मैतदारुणिराह—'अर्द्धमासशो वा अहं सपत्नान् धूर्वामि'—इति। एतद्ध स्म स तदभ्याह॥ अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति—'देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्॥ (१अ०८मं०) अह्रुतमसि हविर्द्धानं, दृꣳहस्व, मा ह्वाः" (१ अ० ६ मं) इति अत एवैतदुपस्तौति—'उपस्तुताद्व्रतमनसो हविर्गृह्णानि'—इति। "मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्" (१ अ० ६ मं० इति। यजमानो वै यज्ञपतिः। तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते।

अथाक्रमते—"विष्णुस्त्वाक्रमताम्" (१ अ० ६ मं०) इति। यज्ञो वै विष्णुः। स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे, यैषामियं विक्रान्तिः। इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पार, अथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन, दिवमुत्तमेन। एतामु एवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते॥

अथ प्रेक्षते—"उरु वाताय" (१ अ० ६ मं०) इति। प्राणो वै वातः, तद् ब्रह्मसैवैतत्प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते॥

अथापास्यति—"अपहतꣳ रक्षः" (१ अ० ६ मं०) इति। यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति, यद्वा नाभ्येव मृशेत, तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति।

अथाभिपद्यते—'यच्छन्तां पञ्च" (१ अ० ६ मं०) इति। पञ्च वा इमा अङ्गुलयः, पाङ्क्तो वै यज्ञः। तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति॥

अथ गृह्णाति—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामि" (१ अ० १ मं०) इति। सविता वै देवानां प्रसविता। तत्सवितृप्रसूत एवैतद् गृह्णाति। अश्विनोर्बाहुभ्यामिति। अश्विनावध्वर्यू। पूष्णो हस्ताभ्यामिति। पूषा भागदुघः, अशन पाणिभ्यामुपनिधाता। सत्यं देवाः, अनृतं मनुष्याः; तत्सत्येनैवैतद् गृह्णाति॥

अथ देवताया आदिशति। सर्वा ह वै देवता अध्वर्यु हविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते—"मम नाम ग्रहीष्यति, मम नाम ग्रहीष्यति"—इति। ताभ्य एवैतत् सह सतीभ्योऽसमदं करोति॥ यद्वेव देवताया आदिशति। यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्ते, ऋणमु हैव तासु तेन मन्यन्ते—यदस्मै तं कामं समर्द्धयेयुः, यत्काम्या गृह्णाति। तस्माद्वै देवताया आदिशति। एवमेव यथापूर्वं हवींषि गृहीत्वा; अथाभिमृशति—"भूताय त्वा नारातये" (१ अ० ११ मं०) इति। यथत एव गृह्णाति तदेवैतत् पुनराप्याययति।

अथ प्राङ् प्रेक्षते—"स्वरभिविख्येषम्" (१ अ० ११ मं०) इति। परिवृतमिव वा एतदनो भवति। तदस्यैतच्चक्षुः पाप्मगृहीतमिव भवति। यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यः। तत्स्वरेवैतदतोऽभिविपश्यति॥

अथावरोहति—"दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्याम्"—(१ अ० ११ मं०) इति। गृहा वै दुर्याः। ते हैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य—योऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति—तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोः, तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोः। तानेवैतदस्यां पृथिव्यां दृꣳहति। तथा नानुप्रच्यवन्ते, तथा न विक्षोभन्ते। तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति।

अथ प्रैति—"उर्वन्तरिक्षमन्वेमि"—(१ अ० ११ मं०) इति। सोऽसावेव बन्धुः। स यस्य गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति, गार्हपत्ये तस्य पात्राणि

संसादयन्ति। जघनेनो तर्हि गार्हपत्यं सादयेत् । यस्याहवनीये हवींषि श्रप यन्ति, आहवनीये तस्य पात्राणि संसादयन्ति । जघनेनो तर्ह्याहवनीयं सादयेत्–"पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि"–(१ अ० ११ मं०) इति। मध्यं वै नाभिर्मध्यमभयं–तस्मादाह–पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीति । "अदित्याऽउपस्थे"–(१ अ० ११ मं०) इति। उपस्थ इवैनद्भार्षुरिति वा आहुर्यं सुगुप्तं गोपायन्ति, तस्मादाह–अदित्याऽउपस्थ इति । "अग्ने हव्यꣳ रक्ष"–(१ अ० ११ मं०) इति । तदग्नये चैवैतद्‌गुप्तिः परिददाति गुप्त्या अस्यै च पृथिव्यै; तस्मादाह–अग्ने हव्यꣳ रक्षेति ॥ ३ ॥

अनसो हविर्ग्रहणम्, गार्ह० आह० वा पश्चिमभागे तत् सादनं च ५

पात्र प्रतपन क्रियाके अनन्तर वह अध्वर्यु 'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' यह मन्त्र बोलता हुआ (हविर्ग्रहणके लिए शकटके समीप) जाताहै । जिस प्रकार अमूल, एवं दोनों ओरसे परिच्छिन्न पुरुष अन्तरिक्षकी ओर विचरा करता है, एवमेव अमूल एवं दोनों ओरसे परिच्छिन्न राक्षस अन्तरिक्षको लक्ष्य-बनाकर (अन्तरिक्षमें) विचरा करताहै । इसलिए इस मन्त्रसे ही वह अध्वर्यु उस अन्तरिक्षको भय रहित, एवं निरुपद्रव करता है ॥ ४ ॥ वह अध्वर्यु शकटसे ही हविग्रहण करै । शकट (धान्यमें) पहिलेहै। अर्थात् खेत से काटा हुआ अन्न सबसे पहिले शकटमें प्रतिष्ठित होताहै। बादमें वह अन्न-शाला (घर) में आताहै । सो जो अग्रभागमें है वही करैं' इसलिए वह अध्वर्यु शकटसे ही हविग्रहण करै ॥ ५ ॥ शकट भूमा (बहुत्व) रूपहै । शकट अवश्यही भूमाहै । अतएव जब अन्न अधिक होताहै तब 'यह अन्न अब शकटसेही लेजाने योग्यहै' यह कहा करतेहैं । (ऐसे शकटसे हविग्रहण करता हुआ अध्वर्यु) भूमा भावकी औरही जाताहै । इसलिए (भूमाप्राप्ति-

के लिए) शकटसे ही हविग्रहण करना चाहिए ॥ ६ ॥ यह शकट यज्ञ (स्व-रूप) है । शकट अवश्यही यज्ञहै । इसीलिए (यज्ञ प्रतिपादक) यजुर्मन्त्र शकट सम्बन्धी ही हैं । कोष्ठगत धानसम्बन्धी, कुम्भीगत धान सम्बन्धी यजुर्मन्त्र नहीं हैं । कितनेंही ऋषि लोग भस्त्रासे हविग्रण करतेहैं । उन ऋषियोंके प्रति भस्त्रासे हविग्रहण करनेकेलिए मन्त्र होंगे, परन्तु आज तो वे प्राकृत होगएहै । अर्थात् आज भस्त्रा सम्बन्धी मन्त्र अनुपलब्धहैं । 'हम यज्ञका निर्म्माण करें' अतः अनससेही हविग्रहण करना चाहिए । (क्योंकि यज्ञ रूप मन्त्र पूत शकट वास्तवमें यज्ञरूपहै) ॥ ७ ॥ कहांसे हवि लेना चाहिए इसका निर्णय होचुका । किससे लेना चाहिए—इसका निर्णय करते

---

१ हजारों मन नाज भरनेके लिए किसान लोग अपने घरोंमें मिट्टीका, या तृणविशेष का स्थान बनाया करतेहैं । उसमें नाज भरकर उस स्थानका ऊपरसे मुह बंद करदिया जाताहै । इसमें रक्खा हुआ अनाज बरसों नहीं बिगड़ता । इसीको ग्राम्य भाषामें 'खलियान' कहाजाताहै । इसीको वैदिक परिभाषामें—'कोठा' कहा जाताहै ।

२—गृहस्थी एक वर्षकेलिए एकट्ठा अनाज खरीद लेतेहैं । एवं उसमें रक्षा (राख भस्म) मिलाकर मिट्टीके पात्रोंमें भरकर रखदेतेहैं । वे पात्र 'माल मटकी-पातली नामसे प्रसिद्धहैं । इन्हीं पात्रोंकेलिए यहां 'कुम्भी' शब्द प्रयुक्त हुआहै ।

३ जो बडा गृहस्थी होताहै उसे अधिक अन्न रखना पडताहै । वह अपने घरोंमें नियत स्थानपर एक मिट्टीके स्थिर स्थान बनाताहै । उनमें अनाज भरदेताहै । वही स्थान लोकभाषामें 'चुसारी' नामसे प्रसिद्ध है । उसीके लिए यहा 'भस्त्रा' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

हैं–याज्ञिक लोग पात्रीसे[1] (शकटसे) हविग्रहण करतेहैं। (जिस समय अध्वर्यु पात्रीसे हविग्रहण करै उसके) अव्यहितोत्तर कालमें ही वह यजुर्म्मन्त्र बोले। (हविग्रहण करते समय वह अध्वर्यु) 'स्फ्य'[2] को पात्रीके नीचे लगाकर ही 'यतोयुनजाम ततोविमुञ्चाम' यह मन्त्र बोलता हुआ हविग्रहण करै। जिसलिए कि ऋत्विक् हविका योग करतेहैं, इसीलिए इस हविको शकटसे छुड़वातेहैं ॥ ८ ॥ इस शकट रूप यज्ञका अग्नि ही धू है। अग्नि धू[3] है। जो (वृषभ) इसका वहन करतेहैं (उनका वह वहनस्थान) अग्नि से जले हुएके समान होजाताहै। एवं कस्तम्भीसे[4] पश्चिम भागमें जो (पीछे

---

१ अन्न ग्रहण करनेके लिए एक हस्ताकृतिका काष्ठ पात्र होताहै। इसेही पात्री कहाहै।

२ खांडेकी आकृतिका एक काष्ठपात्र होताहै इसेही 'स्फ्य' कहाजाताहै। पात्रीमें लिया हुआ अन्न भूमिपर न गिरे इसकेलिए पात्रीके नीचे इसे लगाकर तब पात्रीसे हविग्रहण किया जाताहै।

३ शकट वहन करने वाले वृषभोंके कंधे जलजातेहैं। इनके कंधोंपर जूड़ा रक्खा जाताहै। इस जूड़ेकेलिए ही यहां 'धू' शब्द प्रयुक्त हुआहै।

४ शकटसे जब बैल अलगकर दिएजातेहैं तो शकटके अग्रभागमें लगे हुए दो काष्ठदण्डोंके सहारे उस शकटको भूमिपर खड़ा करदिया जाताहै। उनके सहारे वह शकट भूमिसे अधर रहताहै। यदि उसको हटादिया जाताहै शकटका अग्रभाग भूमिपर टिक जाताहै। इन दोनोंको ही वैदिक परिभाषामें 'कस्तम्भी' कहाजाहै।

की ओरसे चौड़ा—आगेकी ओरसे सकड़ा) प्रउग भागहै वह इस यज्ञ रूप शकट की वेदिहै। एवं (अन्नका प्रतिष्ठारूप) नीडे भाग ही हविर्द्धानहै। (अनस वास्तवमें यज्ञ रूपहै—इस निरूपणसे यही वतलाया गयाहै ॥ ९ ॥ (हविर्ग्रहणके लिए शकटके समीप जाता हुआ वह अध्वर्यु सबसे पहिले) 'धूरसि' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ उस धू भागका स्पर्श करताहै। (शकट के अग्र प्रदेशमें स्थित) धू भागमें रहनें वाला अग्नि धुर्य कहलाताहै। (आज यह अध्वर्यु धुर्य्य अग्निके पश्चिम भागमें नीडस्थ हविग्रहणके लिए जाताहै) ऐसी अवस्थामें हविग्रहणार्थ उधर जाता हुआ अध्वर्यु इस धू भागस्थ अग्नि का अतिक्रमण (निरादर) करनेंवाला वनताहै।। मन्त्र बोलकर उस धुर्य्य अग्निका स्पर्श करता हुआ अध्वर्यु) उस अग्निके लिएही अपन्हव (क्षमा प्रार्थना) करताहै। ऐसा करनेंसे वह अग्नि अतिक्रमण करके जानेवाले इस अध्वर्युका अनिष्ट नहीं करताहै ॥ १० ॥

('धूरसि' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए—हविर्ग्रहण करनेसे अग्निका अतिक्रमण भी नहीं होता है—एवं साथही में शत्रुओंका नाश भी होजाताहै—इसी भावको लक्ष्यमें रखकर) अरुण पुत्र अतएव आरुणि नामसे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यके गुरू उद्दालक कहा करते थे कि मैं आधे आधे मासमें शत्रुओका नाश किया करताहूं। मासमें दर्शपूर्ण मास भेदसे दो इष्टिएं होती है। दोनों केलिए हविग्रहण किया जाताहै। अतः मासमें दोवार 'धूरसि' इत्यादि मन्त्र

१-२-कस्तम्भीसे पश्चिम भागका सारा शकट प्रदेश प्रउगहै। यह प्रउग आगेसे सकड़ा होताहै, पीछेसे चौड़ा होताहै। इसके आगेके संकुचित भागपर शकट चलाने वाला बैठताहै। पीछे अनाज भरा रहताहै। प्रउगके जिसस्थान पर अनाज भरा रहताहै उसे 'नीड़' कहा जाता है।

वोलाजाताहै। सुतरां मंहिनेमें दोवार शत्रुओंपर कृत्याप्रयोगका होना सिद्ध होजाताहै। (याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) इसी पूर्वोक्त शत्रुनाश सम्बन्धी मन्त्र विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर ही तो आरुणि—'अर्धमासश' इत्यादि कहा करते थे ॥ ११ ॥

(जिस स्थानपर हवि रक्खा रहता है—वहां पहुंचकर वह अध्वर्यु) कस्तम्भीसे पश्चिम भागमें प्रतिष्ठित ईषाका स्पर्शकर 'देवानामसि' इत्यादि मन्त्र बोलताहै। 'स्तुति द्वारा उपस्तुत अतएव उदारमना शकटसे हम हवि-ग्रहण करें'—इसी प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर देवानामसि०' इत्यादि रूपसे अध्वर्यु शकटकी ही स्तुति (प्रशंसा) करताहै। 'माते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्' का तात्पर्य्य यही है कि यजमानही इस यज्ञका पतिहै। (इस मन्त्र भागसे) यज्ञ-पति यजमानके लिए ही स्वस्ति भावकी (शकटसे) याञ्चा करताहै ॥१२॥

इसके अनन्तर 'विष्णुस्त्वाक्रमताम्' यह वोलता हुआ अध्वर्यु (हवि-ग्रहणार्थ) शकटपर चढ़ताहै। यज्ञ विष्णुहै। उसने देवताओंके लिए यह विक्रान्ति (विक्रमण) की है जोकि इन (वसु—रुद्र आदित्य नामसे प्रसिद्ध है) देवताओंकी विक्रान्ति आज हम (त्रैलोक्यमें देख रहेहैं) उस यज्ञ रूप विष्णुनें पृथिवी लोकको पहिले विक्रमसे पसारा, व्याप्तकिया, आप्तकिया। दूसरेसे अन्तरिक्ष को, एवं तीसरेसे द्युलोकको नापा। आज यज्ञ रूप विष्णु का प्रतिनिधि अतएव विष्णु रूप अध्वर्यु (यजमानके यज्ञमें हविग्रहणार्थ आए हुए देवताओंके लिए) इसी विक्रान्तिका विक्रमण करता है ॥ १३ ॥

(शकटपर चढ़े बाद 'उरुवाताय' वोलता हुआ अध्वर्यु विशाल अन्तरिक्ष की ओर अपनी दृष्टि डालताहै। प्राणका नामही वातहै। बस 'उरुवाताय' वोलता हुआ अध्वर्यु इस ब्रह्मसेही (मन्त्र बलसे ही) प्राण रूप वातकेलिए विस्तीर्ण स्थान संपन्न करताहै ॥ १४ ॥

मेक्षणानन्तर—'अपहतं रक्षः' बोलता हुआ हविमें पतित तृणादिको उठाकर बाहर फैंक देताहै। चाहे इस हविमें (हवि द्रव्यसे अतिरिक्त विजातीय) तृण आदि रहें या न रहें—अध्वर्युको पूर्व मन्त्र बोलते हुए स्पर्श तो अवश्य ही करलेना चाहिए। ऐसा करता हुआ अध्वर्यु—हविमें प्रविष्ट राक्षसोंको हविसे मार भगाताहै॥ १५॥

तृणादि निरसन क्रियाके अनन्तर 'यच्छंतां पञ्च' यह बोलता हुआ (हवि लेनेकेलिए) अपने दक्षिण हाथको हविमें डालता है। हमारे हाथमें यह पांच अंगुलिएं हैं। यज्ञ पाङ्क्त (पंचावयव) है। पांचों अंगुलियोंको हवि में डालता हुआ अध्वर्यु पाङ्क्त यज्ञको ही हविमें प्रतिष्ठित करताहै॥ १६॥

हस्त प्रक्षेपानन्तर 'देवस्यत्वा सवितुः' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु हविग्रहण करताहै। 'देवस्य०' इत्यादि मन्त्र द्वारा हविग्रहण करता हुआ अध्वर्यु सविता देवतासे प्रसूत (निर्दिष्ट) हविही ग्रहण करताहै। प्रकृति यज्ञके अश्विनी कुमार देवता अध्वर्युहैं। यह अध्वर्यु उन्हीं दिव्य अध्वर्युओंका प्रतिनिधिहै। अतएव 'अश्विनोर्बाहुभ्याम' कहाहै। देवताओंमें पूषा नामसे प्रसिद्ध देवता 'भागदुघ' (हविको तत्तद्देवताओंके लिए विभक्त करनेवाला) है। हाथसे अशन द्रव्य (आहुति द्रव्य) को धारण करने वालाहै। अध्वर्युके हाथ पूषाके ही प्रतिनिधिहैं। अतएव 'पूष्णो हस्ताभ्याम' यह कहाहै। देवता सत्य धर्म्माहैं। मनुष्य अनृतधर्म्मा है। इससे भूल हो जाना स्वाभाविक बातहै। देव कर्म्ममें जरासी भी भूल अनिष्ट करदेतीहै। अतः—मनुष्यभावको हटाता हुआ अध्वर्यु—'देवस्य' इत्यादि बोलता हुआ सत्य रूप देवताओंके द्वाराही हविग्रहण करताहै॥ १७॥

इसके बाद (इष्टिमें जिन जिन देवताओंके लिए आहुति दी जानेवाली है) उन उन देवताओंके लिए पृथक् २ रूपसे (इस ग्रहण कालमें भी)

हवि निर्दिष्ट करता है। अर्थात् उन उन देवताओंका नाम बोल बोलकर अलग अलग हविग्रहण करता है। (मैं देवताओंका यजन करूंगा) यजमानकी इस भावनासे देवता हविग्रहण करतेहुए अध्वर्युकेपास आजातेहैं, और अपने मनमें—'अब यह मेरानाम बोलेगा—मेरेनामसे हविग्रहण करैगा—यह कल्पना करने लगतेहैं। अर्थात् यही सोचतेहुए यह यहां उपस्थित होतेहैं। इस हविग्रहणकेलिए आए हुए देवताओंकेलिए नाम बोलकर हविग्रहण करताहुआ अध्वर्यु साथमें आए हुए—'नहीं यह मेरेलिए हविलेताहै—नहीं तुह्मारेलिए नहीं मेरेलिए लेरहाहै' इसप्रकार परस्परमें झगडतेहुए देवताओंकेलिए (नामग्रहणद्वारा हविग्रहण करताहुआ) असमद करताहै। झगड़ामिटाताहै। नामग्रहणकी यही पहिली उपपत्तिहै ॥१८॥

अपिच जिसलिएकि नामग्रहण कियाजाताहै उसकी दूसरी उपपत्ति बतलातेहैं—इस इष्टिमें जिन (नियत) देवताओंके लिए ऋत्विक् लोग हविग्रहण करतेहैं, वे देवता उस हवि भागसे (अन्नग्रहसे गृहीत होनेके कारण) अपने आपको यजमानका "जिस कामनाके लिए यह हमारे को हवि प्रदान करताहै—अपना कर्त्तव्य है कि हविके एवजमें अपन उसकी उन अभिलषित कामनाओंको समृद्ध करैं—पूरीकरैं"—यह सोचते हुए ऋणी समझने लगतेहै। (ऐसी अवस्थामें यदि आदेश नहीं किया जायगा तो—"न मालुम हममेंसे किसके लिए हविग्रहण हो रहाहै" यह सोचते हुए यजमान कामनाको पूरी करनेकी औरसे उपेक्षा भाव धारण कर लेतेहैं। ऐसा न हो—अपितु—देवता अभीसे यजमानके ऋणी बनजांय—अतएव देवताके लिए आदेश किया जाताहै। इस प्रकार यथापूर्व (जिस देवताको जिस क्रमसे आहुति दीजाय उसी क्रमसे उस २ देवताका नाम लेकर हविग्रहण करनाही यथापूर्वहै) हविग्रहण करके ॥ १९ ॥

वह अध्वर्यु—"भूतायत्त्वा नारातये" यह बोलता हुआ (पुनः एकवार गृहीत) हवि द्रव्यका स्पर्श करताहै। जिस शकटसे हविका ग्रहण करताहै (इस ग्रहणसे जो गृहीत हवि-संघसे अलग होकर आप्तिसे पृथक् होजाताहै) मन्त्र द्वारा उसे पुनः आप्यायित करताहै ॥ २० ॥

हविग्रहणानन्तर 'स्वरभिविख्येषम' यह बोलता हुआ अध्वर्यु पूर्वकी ओर देखताहै। यह शकट परिच्छिन्न होताहै। (इस परिच्छिन्न शकटसे हविग्रहण करते हुए अध्वर्युका चक्षु (शकट सम्बन्धी परिच्छिन्न भावके कारण) पाप्मा (आसुरभाव) गृहीत होजाताहै। स्वर्ग, अहः, देवता, सूर्य्य सब यज्ञहै। यहांसे (शकटपर खड़ेखड़े) पूर्वकी ओर देखता हुआ अध्वर्यु व्यापक स्वर्गरूप यज्ञकी ओर ही दृष्टिपात करताहै। ऐसा करनेंसे इसका शकट सम्बन्धी पाप्माभाव नष्ट हो जाताहै—जैसा कि विवेचनामे स्पष्ट हो जायगा ॥ २१ ॥

प्रेक्षणानन्तर—'दृंहन्तां दुर्य्याः पृथिव्याम' यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु शकटसे नीचे उतरताहै। घर दुर्य्य नामसे प्रसिद्धहै। इस यजमानका जो यह (हविग्रहण करनें वाला) अध्वर्यु (यजमानप्रतिनिधि रूपसे) यज्ञ द्वारा आचरण करताहै (यज्ञेति कर्त्तव्यता संपादन करताहै), शकट स्थानसे उतरते हुए इस अध्वर्युको लक्ष्य बनाकर यजमानके दुर्य्य नामसे प्रसिद्ध वे प्रतिष्ठा रूप घर प्रच्युत होनेंके लिए समर्थहैं। एवं स्वयं प्रच्युत होते हुए यजमानके (यह घर) यजमानके वंशको क्षुब्ध करनेंमें भी समर्थ हैं। ऐसा न हो—इस लिए मन्त्रबल द्वारा (अध्वर्यु) यजमानके घरोंको ही पृथिवीपर प्रतिष्ठित करताहै। दृढ करताहै। ऐसा करनेंसे यजमानके घर और कुल—च्युति एवं क्षोभको प्राप्त नहीं होते हैं। तात्पर्य्य यही हैकि शकटसे उतरते समय यदि असावधानीसे अध्वर्युका पैर इधर उधर खिसक जाताहै तो, इसका प्रभाव

यजमानके घर और वंशपर पड़ता है। इस भविष्यमें होनेंवाली आपत्तिको मन्त्रबलसे पहिले से ही रोक दिया जाताहै। शकटावरोहणानन्तर–'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' यह बोलता हुआ अध्वर्यु यज्ञशालाकी ओर जाताहै। इस मन्त्र का वही पूर्वोक्त 'अन्तरिक्षं वा अनुरक्षश्चरति' इत्यादि तात्पर्यहै ॥ २ ॥

जिस यज्ञ कर्त्ता यजमानके (यज्ञमें) गार्हपत्याग्निमें ऋत्विक्लोग हवि पकाते हैं (अर्थात् जिनकी मर्य्यादा गार्हपत्यमें हविपरिपाक करनेंकी है)-उसके यज्ञमें ऋत्विक् लोग गार्हपत्यके समीप ही यज्ञपात्र रखते हैं। (परन्तु उसमें इतना नियम अवश्यहै कि) वह अध्वर्यु गार्हपत्यके पश्चिम भागमें उन पात्रोंको रक्खे। एवं जिसके आहवनीयमें परिपाक करतेहैं– (उसके यज्ञमें) आहवनीयके समीप ही पात्र रखते हैं। इस व्यवस्थामें आहवनीयके पश्चिम भागमें पात्र रखने चाहिए। 'पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि' (पात्रासादनका यही मन्त्र है)। मध्यस्थान ही नाभि कहलाताहै। मध्यस्थान (इधर उधरके प्रान्तोंकी अपेक्षा) अकम्प होताहै। इसी लिए (पृथिव्या;) इत्यादि कहाहै। 'अदित्या उपस्थे' यह मन्त्रका शेषहै। जो लोग किसी वस्तुको बड़ी सावधानीसे सुगुप्त बनाकर सुरक्षित रखते हैं, लोकमें उनके लिए 'अजी इन्होंनें तो उसे अपनी गोद (उपस्थ) में लेलियाहै– अब उसके लिए कोई डर नहीं है' यह कहा जाताहै। (माता अदितीकी रक्षामें हमारा हवि उसी प्रकार सुरक्षित रहै) इसी लिए 'अदित्या उपस्थे, यह कहाहै। इसके अनन्तर (गार्हपत्य अग्निको लक्ष्य बनाकर अध्वर्यु हवि को अग्निके सुपुर्द करनेंके अभिप्रायसे 'अग्ने ! हव्यं रक्ष' यह बोलताहै। 'अदित्या उपस्थे, अग्ने हव्यं रक्ष' यह बोलता हुआ अध्वर्यु–इस हविको पृथिवी और अग्निके लिए हवि रक्षार्थ–प्रदान करताहै। इसी लिए–'अग्ने' इत्यादि कहाहै ॥ २३ ॥

इति हवि० सादनम्।

अतिगभीरार्थ जिस श्रुतिके 'देवाह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयाञ्चक्रुः'—इस एक वाक्यके अर्थ निरूपणमें ४ अङ्क समाप्त होजातेहै, तो ऐसी अवस्थामें यदि पूर्ण प्रतिपादित पूरे ब्राह्मणके लिए अधिक नही तो दो चार अङ्क यदि हमें लेनेंपडै तो इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। हम स्वयं विचार करते हैं कि यह विस्तार ग्रन्थ समाप्तिका प्रतिबन्धकहै। इसलिए आगेसे इतना विस्तार नही करना चाहिए। परन्तु जब श्रुतिके अक्षर सामने आते हैं तो आत्मा चञ्चल हो पड़ताहै। बिना कुछ लिखे यह चाञ्चल्य शान्त नही होता। इसलिए अधिक विस्तारको 'भूमिका' के लिए छोड़कर थोड़े विस्तारके साथ इस पूर्व प्रकरणपर प्रकाश डाला जायगा। हमारा विश्वास ही नही दृढ सिद्धान्तहै कि यदि विस्तार क्रमसे शतपथका एक भी काण्ड हम आपके सामने रखसके तो—सहस्रों वर्षोंसे विलुप्तप्राय वैदिकसभ्यता भूमण्डलमें अपना साम्राज्य पुनःफैलासकेगी। इसलिए 'मूलग्रन्थ बहुत कम निकलताहै'—इस वाक्यको पुनः पुनः न दोह राकर हमारे प्रेमी पाठकोंका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे हमें वैदिक पदार्थों के अधिकाधिक विश्लेषणके लिए प्रोत्साहित करें।

पृथिवी एवं सूर्य्यके मध्यका जितना प्रदेशहै वह—'उरू अन्तरिक्ष, कह-लाताहै। इस अन्तरिक्षमें वायु भरा रहताहै। वायुमें एक प्रकारका नाशक आसुर प्राण व्याप्त रहताहै, जैसा कि पूर्वके आसुरप्राण निरूपणमें संक्षेप से बतलाया जाचुकाहै। रौद्रवायु आसुरप्राणका घातक है। परन्तु वारुणवायु आसुरप्राणकी प्रतिष्ठाहै। आसुर प्राण—राक्षस, पिशाच, प्रेत, आदि अनेक प्रकारके हैं। यह सब दुष्ट प्राण वारुण वायुमें सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। वरुण पानीके देवताहै। आप्य प्राणको ही वरुण कहते हैं। यह आप्य प्राण वायुरूपमें सर्वत्र व्याप्त रहताहै। 'यद्वै वातो नाभिवाति तत् सर्वं वरुणदेवत्यम्', वाला वात रुद्रवायुहै। रुद्र वायुमें एक चौथाई इन्द्रका

(विद्युतका) भागहै। इन्द्र और वरुणमें घोर शत्रुताहै। अतएव जहां ऐन्द्र वायु नही रहता वहां वारुण वायु घुसपडताहै। चातुर्मास्यमें वारुणवायुकी प्रधानता रहतीहै। और ऋतुओंकी अपेक्षा वर्षा ऋतुमें वारुण प्राणपर प्रतिष्ठित दुष्ट प्राण अधिक प्रबल रहतेहै। अतएव–'वर्षासु दोषा कुप्यन्ति' इस आयुर्वैदिक सिद्धान्तके अनुसार इस ऋतुमें वात पित्त कफ तीनों धातु दोषाक्रान्त होजाते है। प्रकृतिमें व्याप्त प्रकाशाधिष्ठाता–इन्द्रप्राण एवं आग्नेय प्राण दोनोंही पानीकी प्रबलतासे मूर्च्छित होजाते हैं। दबजाते हैं। यही देवताओंका सोना कहलाताहै। अग्निः सर्वा देवताः, इन्द्रः सर्वा देवताः, के अनुसार इन्द्राग्नीके भीतर ३३ देवता प्रविष्टहै। कहना यही है कि वारुणवायु इन असुरोंकी प्रतिष्ठाहै। आप्य प्राणके सम्बन्धसे रुद्रवायु शिव (ठंढा) बन जाताहै। इसीके साथ राक्षसादि रहते हैं। अतएव भूत प्रेतादिको शिव के गण कहाजाताहै। जैसे मनुष्य भू और द्योमें अबद्ध रहकर किन्तु दोनो से सीमित रहकर अन्तरिक्षमें विचरा करताहै, एवमेव उभयतः अमूल द्यावापृथिवीसे परिच्छिन्न यह नाष्ट्रा राक्षस प्राण वारुण वायुके आधारपर अन्तरिक्षमें विचरा करतेहै। आज यह यजमान यज्ञ करनेवालाहै। सर्वव्यापक नाष्ट्रा प्राणका इस दिव्य भावापन्न यज्ञमें भी आक्रमण होना अनिवार्यहै। यदि ऐसा होजायगा तो आसुरप्राण युक्त यज्ञिय पदार्थोंमे निष्पन्न होनेवाला यज्ञात्मा (दैवात्मा) आसुरप्राणके प्रभावसे दिव्यबलसे क्षीण होताहुआ स्वर्ग लोकमें न जा सकेगा। इसलिए उसे हटाना नितान्त आवश्यकहै। पात्रों में जो असुर प्राण घुसगयाथा–उसके लिए तो प्रतपनक्रिया पर्य्याप्त थी। परन्तु आज यह अध्वर्यु हविग्रहणके लिए शकटके पास जा रहाहै। शकट और यज्ञ मण्डपके बीचमें वह प्राणभराहै। उसके आक्रमण को कैसे रोका जाय? इसका उत्तरहै–मन्त्रशक्ति। मन्त्र बोलनेसे आन्तरिक्ष्य आसुर प्राण नष्ट होजातेहैं। कैसे हो जातेहैं–इसके लिए निम्नलिखित संक्षिप्त मन्त्रविज्ञान पर लक्ष्य देना चाहिए–

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्"-इस सिद्धान्तके अनुसार विश्व के प्रभव प्रतिष्ठा परायण भूत सर्वव्यापक ब्रह्मके अर्थ, और शब्द भेदसे दो विवर्त्तहैं। अर्थ सृष्टि भी उसीसे होतीहै। शब्दसृष्टिभी उसीसेहोती है। शब्दार्थ सृष्टिके मूलभूत उस ब्रह्मका नामहै-'षोडशीपुरुष', जिसकाकि पूर्वके अङ्कोंमें कई स्थानोंपर निरूपण कियाजाचुकाहै।इस षोडशीमें अव्ययपुरुष सृष्टिका अधिष्ठान (आलम्बन) है। पञ्चकल अक्षर परामकृति नामसे प्रसिद्ध अव्यक्त पुरुष) निमित्त कारणहै। एवं-क्षर (अपरा प्रकृति नामसे प्रसिद्ध व्यक्त पुरुष) आरम्भण (उपादान कारण)है। अव्यय पुरुषको आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, भेदसे पांच कलाएं बतलाई गई हैं। इन पांचोंमें-आनन्द विज्ञान मन-मुक्तिसाक्षी भागहैं। मन प्राण वाक् सृष्टि साक्षीभागहै। सृष्टि में आनन्द विज्ञान सहकारी हैं। मन प्राण वाक् प्रधानहै। मुक्तिमें मन प्राण वाक् रूप निवृत्तिकर्म्म सहकारी है, आनन्द विज्ञान रूप ज्ञानभाग प्रधानहै। हमें प्रकृतमें सृष्टिका निरूपण करनाहै। अतएव आनन्दविज्ञानगर्भित मन प्राणवाङ्मय अव्ययात्माके सृष्टि भागकी ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। मन भाग ज्ञानशक्तिमयहै। प्राण भाग क्रियाशक्तिमयहै। वाक् भाग अर्थशक्तिरूपहै। इन तीन कलाओंसे ज्ञान, क्रिया, अर्थ यह तीन भाव पैदा होते हैं। सारी शब्दार्थ सृष्टि इन तीनोंमें अन्तर्भूतहै। ज्ञानमय मनका विकासस्थान अव्ययहै। क्रियामय प्राणका विकासस्थान अक्षरहै। एवं अर्थमयी वाकका विकासस्थान क्षर है। दूसरे शब्दोंमें ज्ञानसृष्टि मनोमय अव्ययसे होती है। क्रियासृष्टि प्राणमय अक्षरसे होतीहै। वाङ्मय क्षरसृष्टि का आलम्बन अव्ययका वाक् भागहै। क्रियामय अक्षरसृष्टिका अधिष्ठाता अव्ययका प्राण भागहै। एवं ज्ञानमय अव्ययसृष्टिका अधिष्ठाता अव्यय का मन भागहै। ज्ञानसृष्टि नाम मात्रकी सृष्टिहै। अतएव इसे 'भाव सृष्टि' कहा जाताहै। स्वायम्भुव-सप्तविध ऋषिप्राण, मानवी सृष्टिके मूल भूत

चार प्रकारके मनुप्राण[1], सत्वभावसृष्टिके अन्तर्भूत है। यह अव्यय सृष्टिहै। अनेक क्रियाएं मिलकर एक एक गुण बनताहै। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, यह पांच तन्मात्राएं ही 'गुणभूत' नामसे प्रसिद्धहैं। इस गुण सृष्टिका प्रवर्त्तक अक्षरहै। अनन्तर 'तत्तु समन्वयात्' (व्यास सूत्र) इस सिद्धान्तके अनुसार वैकारिक जगत् के उपादान भूत अर्थशक्तिमय क्षरके समन्वयसे वही अक्षर संसृष्ट गुणभूत क्रमशः अणुभूत, रेणुभूत, महाभूत, भूतभौतिक रूपमें परिणत होता हुआ अर्थ सृष्टिमें परिणत हो जाताहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'गुणकूटो द्रव्यम्' यह कहा जाताहै। संसारके सारे पदार्थ द्रव्यहैं। अर्थ है। इनकी समष्टि ही वैकारिक विश्वहै। इसका उपादान क्षरहै। गुणसृष्टिका अधिष्ठाता अक्षरहै। भाव सृष्टिका अधिष्ठाता अव्ययहै। अव्यय पुरुषहै। अक्षर इस पुरुषकी पराप्रकृतिहै। क्षर अपरा प्रकृतिहै। परापर प्रकृतिसे गुण और विकार सृष्टि होतीहै। एवं पुरुषसे भाव सृष्टि होती है। इस प्रकार त्रिपुरुष पुरुष ब्रह्मसे—"एकं वा इदं विबभूव सर्वम्" के अनुसार सबका उत्पन्न होना सिद्ध हो जाताहै। इसी सृष्टि त्रयी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर भगवान् कहते हैं—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।[2]
भवन्ति भावा भूताना मत्त एव पृथग्विधाः॥
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्—
(गीता ....) इति।

१—इस मनु-प्राणका निरूपण ....ब्राह्मणमें किया जायगा।

२—इस विषयका विषद विमेचन 'गीताविज्ञान भाष्यमें' देखना चाहिए। यह ग्रन्थ मुद्रणसापेक्षहै।

अव्यय, अक्षर, क्षर, तीनों क्रमशः भाव, गुण, विकार सृष्टिके प्रभव प्रतिष्ठा परायण बनते हुए सर्वत्र व्याप्त होरहे हैं। आप जितना भूतप्रपञ्च आखोंसे देखरहेहैं, सब क्षरहै, यही 'वाक्' है। उसके भीतर अक्षरहै, यही प्राणहै। सबके भीतर अव्ययहै, यही मनहै। क्षर स्थूलहै, यही भूतयोनि नामसे प्रसिद्धहै। अक्षर सूक्ष्महै, यही भूतभावन नामसे प्रसिद्धहै। एवं अव्यय सुसूक्ष्महै, यही भूतेश्वरहै। अव्यय सुसूक्ष्महै, अतएव उपनिषदों में यह 'गूढोत्मा'-(निगूढोत्मा-छुपाहुआ आत्मा) नामसे प्रसिद्धहै। 'तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः, के अनुसार वह केवल विज्ञानगम्यहै। इसी अभिप्रायसे कठश्रुति कहती है-

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यतेत्वग्न्यया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
(कठ १।३।१२) इति

मन, प्राण, वाक्, तीनोंकी समष्टि 'सत्ता' है। अव्ययकी चौथी कला विज्ञानहै, यही चेतनाहै। पांचवीं कला आनन्दहै। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् कहो, या आनन्द, चित, सत्ता, कहो एकही बातहै। पूर्व में कहा जाचुकाहै कि सृष्टिमें प्रधानता यद्यपि सत्तारूप मन प्राण वाक् की है-परन्तु आनन्द विज्ञान भी सहकारी रहते हैं। ऐसी अवस्थामें हम सह-सकते हैं कि साराविश्व 'सच्चिदानन्द' ब्रह्ममयहै। इस सच्चिदानन्द ब्रह्मसे ही अर्थसृष्टि होतीहै, इसीसे शब्दसृष्टि होतीहै। मन सुसूक्ष्महै, अतएव इसे 'अ' कहाजाताहै। क्योंकि शब्दसृष्टिमें-

"अकारो वै सर्वावाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"
(ऐ० आर० २।३।७)

इस ऐतरेय श्रुतिके अनुसार अकार मूलभूत एवं असंस्पृष्टहै, असंगहै।

वाक् स्थूलाहै। अतएव इसे 'म्' कहा जाताहै। क्योंकि शब्द सृष्टिमें 'म्' में संसर्ग भावका प्रवेशहै। मध्यपतित प्राणभाग स्थूलसूक्ष्ममहै। अतएव इसे 'उ' कहा जाताहै। 'उ' मे मुखभाग संकुचित हो जाताहै, परन्तु स्पर्श नहीं होनेपाता। इन तीनोंके अतिरिक्त एक परात्पर और बचजाताहै। इसीके सम्बन्धसे वह प्रजापति पोडशी कहा जाताहै। वही तत्व शब्दसृष्टिमें अर्द्धमात्रा नामसे प्रसिद्धहै यह अर्द्धमात्ररूप अखण्डहै। व्यापकहै। विश्वातीतहै। अव्यय पुरुष ईश्वर कहलाताहै। एक एक मायासे एक एक मायी ईश्वरका स्वरूप संपन्न होताहै। एक एक माया प्रपञ्च एक एक ब्रह्माण्डहै। सर्वबल विशिष्ट रसरूप उस परात्परमें ऐसे अनन्त मायाप्रपञ्चहै। अनन्त मायी ईश्वरोंका आधार भूत वह परात्पर 'परमेश्वर' नामसे प्रसिद्धहै ईश्वर अनन्त हैं। सावच्छिन्नहैं। परमेश्वर एकहै। निरवच्छिन्नहै। यह तत्व मन प्राण वाक् तीनोंसे अतीतहै। अतएव अविज्ञेयएवं अनिर्वचनीयहै। अर्द्धमात्रा रूप परात्परकी इसी अविज्ञेयताका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

'सविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"–इति।

इसी श्रौतसिद्धान्तका अनुकरण करता हुआ पुराण कहताहै—

अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्व देवी जननीपरा"- (देवीभागवत) इति।

इस स्रष्टा ईश्वरप्रजापतिमें—परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर चार भाग हैं। परात्पर अर्द्धमात्राहै। अव्यय 'अ' है। अक्षर 'उ' है। क्षर 'म्' है। यही 'ओम्' है। इसीलिए 'तस्य वाचकः प्रणवः' कहा जाताहै। 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्डक २।२।६) का भी यही रहस्यहै। परात्पर एवं

१—इस विषयका विशदविवचन हमारे लिखेहुए मुण्डकोपनिषद् के भाषाभाष्यमें देखना चाहिए। यह ग्रन्थ भी मुद्रण सापेक्ष है।

अव्ययको थोड़ी देरकेलिए छोड़ दीजिए—एवं अक्षर और क्षरकी ओर दृष्टि डालिए। अक्षरसे गुण सृष्टि होती है। गुणसृष्टि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, पांच तन्मात्राओंमें विभक्त है। इनमें शब्दतन्मात्रा प्रधानहै। इसीसे क्रमशः वा. ते. जं. पृ. की सृष्टि होती है। क्षर समन्वयसे वही गुणभूत अणु भूतमें परिणत होताहै। अणु रेणुमें, रेणु पञ्चमहाभूतमें परिणत होताहै। पञ्चमहाभूतोंका मूल वही शब्द तन्मात्राहै। क्षरकी पांच कलओंमेंसे पहिली कला प्राणहै। इससे स्वयम्भू मण्डलका विकास होताहै। दूसरी आप कला है। इससे आपोमय परमेष्ठीका विकास होताहै। आपोमय परमेष्ठी मैथुनी सृष्टिका मूलहै। यहींसे शब्द और अर्थ सृष्टि चलती है। परमेष्ठीमें भृगु, अङ्गिरा दो तत्वहैं। भृगुधारा आम्भृणी वाक्है, इससे अर्थ सृष्टि होतीहै। अङ्गिराधारा सरस्वती वाक्है। इससे शब्द सृष्टि होती है। दोनोंका प्रभव-स्थान एकहै। अतएव दोनों अभिन्नहैं। यही कारणहै कि अर्थसृष्टिका ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिसमें शब्द (ध्वनि) न होताहै। एवं ऐसा कोई शब्द नहीं जिसका अर्थसे सम्बन्ध नहो। इसी आधारपर 'न सन्ति यदृच्छा शब्दाः' (महाभाष्य) यह कहाजाताहै। इस शब्दार्थ प्रपञ्चका विशद निरूपण पूर्वके अङ्कोंमें किया जाचुकाहै। अतः उसकी पुनरुक्ति करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं। यहां हमें केवल यही बतलानाहै कि शब्दार्थमय प्रपञ्चका ऋषियोंने अपनी आर्षदृष्टिसे साक्षात् कारकिया। एवं उस अर्थ विज्ञानको तदनुरूप शब्दों द्वारा (जोकि शब्दसृष्टि ईश्वरीयाहै) उसका संकलन किया। परोक्ष पदार्थोंका शब्दद्वारा होनेवाला वह संकलही आजदिन 'वेद संहिता' नामसे प्रसिद्धहै। साधारणवाक वाक्है। परन्तु परोक्ष अर्थका निरूपण करनेवाली वाक् 'मन्त्र' है। प्रकृतिके प्राणदेवता भिन्नभिन्न छन्दोंसे छन्दितहैं जैसाकि पूर्वके अङ्कमें विस्तारके साथ बतलाया जाचुका है। उन उन छन्दोंसे छन्दित प्राणदेवताओंके छन्दके अनुरूपही मन्त्रोंके

छन्दहैं। वहां छन्दमें जैसी उदात्तादि स्वररूपा लहरहै, वही स्वर इस मन्त्रवाक्में डालेगए हैं। इसके बोलनेसें वह प्रकृतिका छन्दसे छन्दित-देवता पकड़में आजाताहै। यदि इसके बोलनेमें जरा भी गड़बड़ होजाती है तो उलटा अनिष्ट होजाताहै। मन्त्र वाक् उस शब्दार्थमय ब्रह्मकी प्रतिकृति है। इससे वह पंकडमें आजाताहै। अतएव इसे भी 'ब्रह्म' कहाजाताहै। इसका बल वही है। विद्वान् ब्राह्मणके मुखसे निकली हुई मन्त्रवाक् साक्षात् ब्रह्महै। इससें वह तत्त्व गृहीत होजाताहै। मन्त्र द्वारा देवता पकडमें आजाते है, देवता अग्निमयहैं। अग्नि आसुर माणका नाशकहै। अतएव कहीं आसुर माणके नाशके लिए साक्षात् वैध अग्निकी सहायताली जातीहै। जहां अग्नि कर्म्म सम्भव नहीं होता वहां इस मन्त्ररूप वागग्निकी सहायता लीजातीहै। मन्त्रवाक् वास्तवमें अग्निहै। शरीरका अग्निही वायुसे धक्काखाकर उर, कण्ठ, शिरमे जाकर मुखमें आताहुआ शब्द रूपमें परिणत होताहै। इसी आधारपर—

"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" । (शत० १।३।५।१। कं० १)

"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" । (ऐ० उ० २।४)

इत्यादि कहा जाताहै।

साधारण लौकिककी वागग्नि विच्छिन्न होतीहै, अतएव वह निर्वल होती है। इससे आसुर माणका नाश नहीं हो सकता। परन्तु स्वरयुक्ता देवमयी मन्त्रवाक् छन्दसे छन्दित रहनेके कारण एकरूपा रहतीहै। अतएव यह सबलहै। यही मन्त्रबलहै। यही ब्रह्मबलहै। ब्रह्मर्षि वसिष्ठनें राजर्षि विश्वामित्रको इसी ब्रह्मबलसे परास्त किया था। आज यह अध्वर्यु इसी ब्रह्म बलसें अन्तरिक्षमें व्याप्त आसुर माणका नाश करताहै। "वाग्वाइन्द्रः" के अनुसार मन्त्रवाक् साक्षात् इन्द्रहै। इन्द्र ही व्याकरण करताहै—जिसका कि निरूपण किसी आगेके प्रकरणमें किया जायगा। वाक् बोलते ही उस

का एक गोल मण्डल बनता है। उस मण्डलमें वही इन्द्र प्राण व्याप्त हो जाताहै। आसुर प्राण वारुणहै। वरुण और इन्द्रके परस्परमें अप्रमाहिष्य है। अतएव प्रबल इन्द्रप्राणके आते ही अन्तरिक्षमें रहनेवाला वारुण आसुर प्राण विलीन होजाताहै। ऐसा होनेसे इसका अन्तरिक्ष निरुपद्रव होजाता है। हम देखते हैं कि यदि किसीके मकानमें चोर घुस आताहै एवं उस समय खड़खड़ाहटसे जागे हुए घरके किसी मनुष्यके मुखसे 'अरे घरमें कौन है?'—यह अक्षर निकल जाते हैं तो आसुरप्राणयुक्त चोरका कलेजा कांप उठता है, एवं वह उसी समय वह भाग जाताहै। भला साधारण लौकिकी वाक्में जब उपद्रावक दुष्टोंको मार भगानेकी शक्तिहै तो फिर मन्त्रवाक्का तो कहनाही क्याहै। बस इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं— 'तद् ब्रह्मणैवैतदभयमनाष्टं कुरुते' इति।

"अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः"—के अनुसार अग्निमें सोमाहुति डालनेका नामही यज्ञहै। 'अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्य परिग्रहो यज्ञः' वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः'—'आध्यात्मिकप्राणदेवैः सह आधिदैविकप्राणदेवानां संगमनं यज्ञः" इत्यादि यज्ञके अनेक लक्षण किए जातेहैं। इन सारे लक्षणोंका पर्य्यवसान 'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः'—इसी लक्षणमें होताहै। अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत तीनों स्थानोंपर अग्निमें सोमकी आहुति होरही है। इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ पर तीनों स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हैं। 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः'—'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'—के अनुसार अधिदैवत विश्वके केन्द्रमें प्रतिष्ठित सूर्य्य निरन्तर अग्निहोत्र कर रहाहै। पारमेष्ठ्यसोम निरन्तर इस सौराग्निमें आहुत होरहाहै। हम प्रतिदिन सायंप्रातः, अपने शारीरअग्निमें अन्नसोमकी आहुति देरहेहैं। संसारका प्रत्येक भौतिक पदार्थ अग्निमयहै। वह भी सोमाहुति लेकरही स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित होरहाहै।

जबतक यज्ञहै, तभीतक इन तीनोंकी सत्ताहै। इन तीनो यज्ञोंमें जो आधिदैविक सौरयज्ञहै, वह हमारा आराध्यहै। इस सौरयज्ञके प्रभावसे ही सौरप्राणदेवता पार्थिव मर्त्यभावसे निकलकर अमृतभावमें परिणत होरहेहैं। हमारा आध्यात्मिक यज्ञ पार्थिव प्राणकी प्रधानतासे मर्त्यभावापन्नहै। बस—आध्यात्मिक प्राण देवताओंको उसी नित्य यज्ञकी प्रतिकृति भूत वैधयज्ञ द्वारा उन आधिदैविक प्राणदेवताओंके साथ मिलाकर अमृतभाव प्राप्तकर लेनाही कर्म्मप्रधान यज्ञका फलहै। यज्ञ—हवि, सोम, अति, महा भेदसे अनेक प्रकारके हैं। इनमें सब से पहिला यज्ञ हविर्यज्ञ है। अधिकारसमर्पक अग्निहोत्रके अनन्तर हविर्यज्ञ किया जाताहै। अनन्तर सोमयज्ञ किया जाताहै। सोमयज्ञका ही नाम 'ज्योतिष्टोम' है। यही स्वर्गप्राप्तिका साधकहै। परन्तु तबतक यह नहीं किया जासकता, जब तक कि पहिले हविर्यज्ञ नहीं कर लिया जाता। हविर्यज्ञ पार्थिव यज्ञकी प्रतिकृतिहै। सोमयज्ञ सौरयज्ञकी प्रतिकृतिहै। अध्यात्म को सूर्य्यमे लेजानाहै। बीचमें पार्थिव प्राणहै। अतः पहिले इनके साथ आध्यात्मिक देवताओंका मेल करना आवश्यक होजाता है। पार्थिवप्राण देवता 'द्यामंगिरसो ययुः'—(अथर्व० ८।१।६१) के अनुसार द्युलोकसे सम्बद्धहै। इनमें सम्बद्ध हमारे प्राणदेवता इनके द्वारा उस द्युलोकमें जानेके लिए समर्थ हो जाते हैं। पार्थिव यज्ञमें अन्नसोमकी आहुति होतीहै। पृथिवीके दो भाग कर डालिए। एक सूर्य्यकी ओर रहैगा, एक विरुद्ध दिक्में रहेगा। बस जो सूर्य्यविरोधी भागहै, वही गार्हपत्याग्निकुण्डहै। इसमें रहनेवाला पार्थिव अग्नि गार्हपत्याग्निहै। सूर्य्यकी ओरका पार्थिवखण्ड आहवनीयकुण्डहै। इसका अग्नि आहवनीयाग्निहै। मध्यका सारा प्रदेश वेदिहै। दक्षिण भाग दक्षिणाग्निकुण्डहै। वहांका अग्नि दक्षिणाग्नि है। यही 'अपगाग्नि' नामसे प्रसिद्धहै। चन्द्रसोम अन्नरूपमें परिणत होताहै। अन्नरूपमें परिणत इस चान्द्रसोमकी पार्थिव आहवनीय अग्निमें निरन्तर आहुति होती रहती है।

इसी आहुतिसे पृथिवी पिण्ड अपने-स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठितहै । सारे अन्न इसी पर उत्पन्न होते हैं । अन्तमें इसीमें आहुत होजातेहैं । पृथिवीपर रहनेवाले जितनें प्राणी हैं, सब अन्नमय है । अन्नमें—स्थूल, सूक्ष्म सुसूक्ष्म तीन भाग रहते है । स्थूल भाग पार्थिवहै । इसमे रसासृगादि सप्तधातु निर्म्माण होताहै । सूक्ष्म भाग आन्तरिक्ष्यहै । इससे ओज नामसे प्रसिद्ध प्राण उत्पन्न होताहै । सुसूक्ष्म भाग दिव्यहै । यही 'मन' कहलाताहै । सप्तधातु वाक् है, ओज प्राणहै, दिव्य सोमभाग मनहै । अन्न-मन प्राणवाङ्मयहै । इसको खानेवाले सारे प्राणी भी मनप्राणवाङ्मय ही है । वाक रूप अन्न-प्राणद्वारा चित्त-(मन) बनताहै । वह विषय ग्रहणमें इन्द्रियों द्वारा खर्च होकर फिर वाक् रूप अन्नलेताहै । यह धाराक्रम निरन्तर चला करताहै । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर ऐतरेयनें यज्ञका "वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः"—यह लक्षण किया है । अन्न जब खाया जाताहै तो वह पहिले 'ऊर्क्' बनता है । बलप्रद रसही 'ऊर्क्' है । इसीसे तृप्तिभाव पैदा होताहै । ऊर्क् प्राण बनताहै । प्राण इन्द्रकी विक्षेपण शक्तिद्वारा रोमकूपोंद्वारा बाहर निकल जाताहै । इस कमीको पूरी करनेके लिए प्राण पुनः अन्न लेताहै । अन्न पुनः ऊर्क् बनता है । ऊर्क् प्राण बनताहै । यह चक्र निरन्तर चलता रहताहै । इसी आधारपर यज्ञका 'अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्य परिग्रहो यज्ञः"—यह लक्षण किया जाताहै । इससे बतलाना यही है कि अन्न—मनप्राणवाङ्मयहै । उसी से सारी प्रजा उत्पन्न हुई है । अतएव प्रजा भी मनप्राणवाङ्मयहै । अन्न रूपाही है । अन्नही इनका प्रभव प्रतिष्ठा परायण है । अन्नके भीतर हमनें प्राण बतलायाहै । प्राणके भीतर मन बतलायाहै । सृष्टिमें इन तीनकी ही प्रधानताहै । परन्तु विज्ञान और आनन्द इनमें नहीं है यह बात नही है । मनके भीतर विज्ञान एवं आनन्दहै । अन्नमें सबहै । हमारेमें सब है । संसारमें जड या चेतन ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जिसमें पांचों नहों । पांचोंमें सबसे स्थूल

अन्नहै। पहले इसीपर दृष्टि जाती है। इसीके द्वारा आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण-वाङ्मय पञ्चकोशात्मक अव्यय ब्रह्मका ज्ञान होताहै। अतः सबसे पहिले इसी अन्न कलाका निरूपण करती हुई तैत्तिरीय श्रुति कहती है—

'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानिजायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"–(तै० उपनिषत्) इति।

इस सर्वविध अन्नकी पृथिवीमें आहुति होती रहती है। इसी हविर्यज्ञ की प्रतिकृति हमारा वैध हविर्यज्ञहै। क्योंकि प्राकृतिक हविर्यज्ञमें अन्नरूपमें परिणत सोमकी आहुति होती है। अतः इस वैधयज्ञमें भी अन्न सोमकी ही आहुति होनी चाहिए। आज यह यजमान हविर्यज्ञरूपा 'पौर्णमासेष्टि' करनेवालाहै। इसमें अन्नात्मक सोमकी आहुति होती है। अतः यजमान प्रतिनिधि अध्वर्यु उसी हविको लेनेके लिए जाताहै। अपरिपक्वान्नको हवि कहते हैं, एवं परिपक्वान्न 'पुरोडाश' नामसे प्रसिद्धहै। पुरोडाशकी आहुति होती है। तदर्थ आज इसे हवि लानाहै। यह हवि कहांसे लायाजाय, किस स्थानसे लाया हुआ हविर्द्रव्य यज्ञस्वरूप संपादक होगा। इसके लिए यज्ञ विद्यावेत्ता वैज्ञानिकोंने अनस (शकट–छकड़ा) को उपयुक्त समझाहै। शकटसे ही हविर्ग्रहण करना चाहिए। शकटसे हविर्ग्रहण करनेमें क्या लाभ है? बस इसी प्रश्नके समाधानके लिए निम्नलिखित 'हविर्ग्रहण मीमांसा' नामका प्रकरण हमारे सामने आताहै—

हविर्ग्रहण मीमांसा—

आगे आनेवाले (१।४) ब्राह्मणमें हम मनुका स्वरूप बतलाते हुए 'श्रद्धा' तत्वका निरूपण करनें वाले हैं। दीक्षा, तप, श्रद्धा, आकूति,

मयुक, चित्ति, आदि तत्व यज्ञके खास तत्वहैं। यज्ञ इन्हीं तत्वोंके आधारपर प्रतिष्ठितहै। इन सारे तत्वोंमें श्रद्धातत्व प्रधानहै। विना श्रद्धाके कोई भी कार्य सफल नहीं होसकता। सूर्य्यके ऊपर परमेष्ठी मण्डलहै। उसमें तेज और स्नेह दो तत्व उत्पन्न होतेहैं। यही दोनों तत्व संसारके मूलहैं। तेज अङ्गिराहै, अग्निहै। स्नेह भृगुहै, सोमहै। सोम द्रवभागहै। उसमें रहनेवाली गर्मी अङ्गिराहै। तेजोमय स्नेहतत्वही संसारका उपादानभूत 'शुक्र' है। ईशोपनिषत् का—"सपर्य्यगाच्छुक्रम"—(ईश १।८) यह मन्त्र इसी तेज स्नेहमय शुक्रका निरूपण करताहै। इस शुक्रमें जो स्नेहभागहै उसीका नाम श्रद्धाहै। यह श्रद्धारस चान्द्रसोमका जनकहै। चान्द्रसोम श्रद्धासे उत्पन्न होताहै। इसी आधारपर पञ्चाग्निविद्या प्रतिपादिका छान्दोग्यश्रुति कहती है।

'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति।
तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति"—(छान्दो० ५।३।२)

"'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' के अनुसार चन्द्रमाही सोमराजाहै। चन्द्र सोमद्वारा वह श्रद्धा रस अन्नमें प्रतिष्ठित होताहै। 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' के अनुसार अन्नगत दिव्यसोम मन बनताहै। वह सोम श्रद्धामयहै। अतएव सोममय मन भी श्रद्धामय होजाताहै। श्रद्धा—मनपर प्रतिष्ठितहै। मन विषयोंके साथ बद्ध होजाताहै, इसका एक मात्र कारण यही श्रद्धातत्व (स्नेह तत्व) है। कितनेही अन्न दिव्यभावापन्नहैं, कितने ही आसुरप्राण प्रधानहैं। श्रद्धारस अपने स्वरूपसे शुद्ध होताहुआ भी अन्न संसर्गमें तद्भावापन्न होजाताहै। बस जो जैसा अन्न खाताहै, उसकी श्रद्धा

१.—इस विषयका विशद विवेचन हमारे लिखेहुए ईशोपनिषत् के भाषाभाष्यमें देखना चाहिए। यह ग्रन्थ मुद्रण सापेक्षहै।

वैसीही होती है। एवं उसके लिए तत्सम पदार्थ ही श्रद्धेय होताहै। एक मनुष्य ऐसाहै जो—श्राद्ध, अवतार, मूर्तिपूजा, शास्त्र आदिपर श्रद्धा नहीं करता, अपितु कुत्सित शास्त्रविरुद्ध मद्यपानादिको ही आराध्य समझता है। एक इनपर अश्रद्धा करताहै, उनपर श्रद्धा रखताहै। पूर्व जन्मके संस्कार इस जन्मका संसर्ग, अन्न सम्बन्ध, शिक्षा, देशकी परिस्थिति, आदि आदि भाव श्रद्धाके स्वरूप संपादकहै। जैसी श्रद्धा होजाती है, उसे वैसाही होजाना पड़ता है। श्रद्धेयमें श्रद्धालु कभी दोषान्वेषण नहीं करसकता। अतएव श्रद्धाका "दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबंधकश्चित्तधारणं श्रद्धा"—यह लक्षण किया जाताहै। आज इसी श्रद्धादेवीकी कृपासे शास्त्र विरुद्ध कार्य्य उपादेय एवं उन्नतिके साधक समझे जारहे हैं। एवं उन्नतिके साधक कार्य उन श्रद्धालुओं की दृष्टिमें बाधक बनरहेहैं। इस सारे प्रपञ्चसे केवल बतलाना यही है कि श्रद्धाके द्वारा उस वस्तुका या भावका आत्मासे सम्बन्ध होजाता है। इसी आधारपर—'यो यः च्छ्रद्धः स एव सः'(गीता)यह कहा जाताहै। यह विपर्ययिणी श्रद्धा होगी—मन उसी विषयसे भावना द्वारा सम्बन्ध जोड़लेगा। मनोविज्ञान के अनुसार पदार्थोंके ग्रहण परित्यागका प्रधान अधिष्ठाता श्रद्धामय मनहै। यदि आप अपने श्रद्धामय मनमें—'मेरेपास कुछ नहीं है, कुछ नहीं है—यह भावना किया करते है तो—तो सचमुच आप थोड़े दिन बाद कुछ नहीं ही होजाते हैं। 'यह भी मिथ्या—यह भी ढोंग—यह सब पोपलीला है—कल्पना है"—इसी भावका अभ्यास करते करते आज भारतवर्ष सब कुछ अपने हाथ-से खोबैठाहै। एवं अब भी उसी 'कुछ नहीं' की ओर झुकरहाहै। ठीक इस के विरुद्ध यदि आप 'सब कुछहै'—यह भावना करते रहेंगे तो अपने आप मन अपनी इस शक्तिसे सब कुछ प्राप्त करनेमें समर्थ होजायगा। इसी आधार पर श्रुति कहती है—

"असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" ॥इति॥

यही कारणहै कि नास्तिके उपासक हजारों सम्प्रदाएं उत्पन्न हुई और कालके गालमें विलीन होगई । परन्तु सत्ताब्रह्मकी उपासना करने वाली हिन्दूजाति प्रबलसे प्रबल आक्रमणोंका तिरस्कार करती हुई आज भी संसारको अपनी सभ्यताका पाठ पढ़ानेके लिए जीवितहैं. और रहेगी। जब भावही सब कुछ है तो इससे सिद्ध होजाताहै कि यज्ञ कर्म्मोंमें जैसी भावना की जायगी वैसा फल अवश्यमेव मिलेगा । बस इसीलिए स्थान २ पर ऋषियोंने इस भावनाको ही प्रधान मानाहै । 'हमारी भावना मात्रसे उसके साथ कैसे हमारा सम्बन्ध होसकताहै ? आगेके भावनामय श्रौत वचनोंपर यह संदेह हो सकता था । इसके लिए हमें पहिलेसे ही पूर्वोक्त समाधान करनापड़ा । अब प्रकृतकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करतेहैं । खेतमेंसे धान काटा जाताहै । काटकर उसे सबसे पहिले शकटमें ही भरा-जाताहै । बादमें शकट द्वारा वह ग्राममें आताहै । शकटधान 'प्रथम भावापन्न' है । अग्रभावापन्न है । जो मनुष्य हर एक काममें 'अरे करलेंगे—देखाजायगा' यह सोचा करता है, उसका कार्य कभी पार नहीं पड़ता । क्योंकि उसकी वृत्ति उस भावनासे शिथिल होजाती है । इसलिए उचितहै कि कलपर किसी कामको न छोड़े । जो करनाहो वह पहले करे । आत्माको सदा अग्रभावा पन्न रखना चाहिए । यदि विद्या पढ़ना होतो—सब सहपाठियोंसे पहिले पहुंचे । पहिले विचारे । इस अग्रतासे आत्मामें स्फूर्ति आती है । आत्मबल बढ़ता है. फिर उस कार्यमें उत्तरोत्तर उन्नतिही होती है । इसी आधारपर लोक भाषामें निम्नलिखित सूक्तिएं प्रचलितहै—

कालकरे सो आजकर आजकरे सो अब ।
अवसर बीते जातहै फेर करैगा कब ॥

"पहिले करें साकाम भजले सो राम"

अग्रभावसे कार्य निर्भरता आती है। अतः यज्ञकर्त्ता अध्वर्युको आरम्भ से ही उस अग्रभावकी आराधना करनी चाहिए। शकट अग्रभावापन्न है। शालामें बादमें अन्न रक्खा जाता है। अतः वह वह 'पश्चेव' है। ऐसी अवस्थामें यदि शालासे धान ग्रहण किया जायगा तो—तद्गत पीछापना आत्मामें घुस पड़ैगा। वह आगेके कार्यमें निर्बलता पैदा करदेगा। ऐसा न हो—जो अग्र भावहै—उसीका हम ग्रहणकरैं—बस इसलिए अग्रभावापन्न शकटसे ही हविर्ग्रहण करना उचित्त है। इसी पहिली उत्पत्तिको लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स वा अनस एव गृह्णीयात्। अनो ह वा अग्रे, पश्चेव वा इदं यच्छालम्। स यदेवाग्रे-'तत् करवाणि' इति। तस्मादनस एव गृह्णीयात्।

५

अभ्युदय, निश्रेयस भेदसे सुख दो प्रकारका मानागयाहै। मुक्ति निःश्रेयस सुखहै। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, प्रासाद, पशु, अनुचर आदि २ विभूतिएं ऐहिक अभ्युदयसे सम्बन्ध रखती हैं, एवं 'सप्तदश' नामसे प्रसिद्ध नाचिकेत स्वर्गसुख पारलौकिक अभ्युदयहै। बस सुख तीन ही भागोंमें विभक्तहै। इन तीनोंमें पारलौकिक स्वर्गसुख प्राप्तिका साधन कर्मकाण्डहै। इष्ट, आपूर्त्त, दत्त नामसे प्रसिद्ध विद्या निरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म्म करता हुआ मनुष्य ऐहलौकिक सुख भोगता हुआ शरीर छोड़नेके अनन्तर उदन्वती, पीलुमती, प्रद्यौ इन तीनोंमें से किसी एक पितृस्वर्गमें जाताहै। वहां नियतकालतक सुख भोगकर पुनः इसी भूमण्डलपर कर्म्मानुसारिणी योनिमें आजाताहै। यज्ञ, तप, दान नामसे प्रसिद्ध विद्यासापेक्ष प्रवृत्तिकर्म्म करता हुआ मनुष्य जीवितदशामें

ऐहलौकिक सुख भोगता हुआ अनन्तर स्वर्गमें (देवस्वर्गमें) प्रतिष्ठित होताहै। पश्चात 'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति' के अनुसार पुनः यहीं आजाताहै। यदि वि० मा० कर्म्म-पद्धति छोडकर करताहै तो यह कर्म्मयोग- 'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः'' इस गीता सिद्धान्तके अनुसार ज्ञानयोग बनता हुआ निःश्रेयस नामसे प्रसिद्ध मुक्तिका साधक बनजाताहै। एवं अकर्म्म (निरर्थककर्म्म-जलताडनादि) और विकर्म्म (शास्त्र प्रतिषिद्ध-सुरापानादि) कर्म्म दोनों लोकोंमें दुःखके कारण होते हैं। यदि इन कर्म्मोंके अवान्तर विभागोंका मन्तार किया जाताहै तो अनन्त गतिए होजाती हैं, जिनका कि विशद स्वरूप, किसी आगेके प्रकरणोंमें बतलानेकी चेष्टा कीजायगी। अभी हमें केवल यही बतलानाहै कि हमारे प्रकृत यज्ञकाण्डका सम्बन्ध पार लौकिक स्वर्ग सुखसे है। स्वर्ग प्राप्तिही एकमात्र काम्य यज्ञका फलहै। सुख और दुःख है क्या पदार्थ ? इसका उत्तर देती हुई श्रुति कहती है-

'यो वै भूमा तद्वै सुखम्। यदल्पं तद्दुःखम्'-इति।

भूमाको सुख कहतेहैं। अल्पताको दुःख कहते हैं। अभी मनुष्य पैदा हुआ। अब क्रमशः बढ़ने लगा। युवावस्थामें पदार्पण किया। विवाह हुआ। पुत्र हुआ। द्रव्योपार्जन करने लगा। यह सब भूमा भावकी क्रमिक वृद्धिहै। ज्यों ज्यों मनुष्यके पास संपत्ति वृद्धि होती है, त्यों त्यों सुखकी वृद्धि होती है। इससे आनन्द आताहै। इसी सांसारिक आनन्दको वैज्ञानिक लोग- 'समृद्धानन्द' नामसे व्यवहृत करते हैं, एवं आत्मानन्दको 'शान्तानन्द' नाम से पुकारते हैं। दोनों ही भूमासे सम्बन्ध रखते हैं। साधारण मनुष्य सांसारिक सुखको दुःखका कारण समझते हैं। परन्तु ऐसा है नहीं। सांसारिक सुख दुःखका कारण नहीं है अपितु उसकी कमी दुःखका कारणहै। पुत्र होना सुखहै। परन्तु वह यदि मर जाताहै तो दुःख होताहै। यदि निरन्तर

वृद्धि ही होती रहै तो कभी दुःख नहीं होसकता। इसी विज्ञानके आधारपर 'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्–नकचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्'–यह श्रुति वचन हमारे सामनें आता है। 'हम कृतकृत्य होगए। अब हमें क्या करना है'–यह विचार कभीमत करो, अपितु जो तुह्मारे पास नहीं है, उसे लेनेंके लिए निरन्तर प्रयास करते रहो। कभी 'अलम्' 'पर्य्याप्तम्' यह भाव पासमे मत आनेदो। कहना नहीं होगाकि इस आदेशका तिरस्कार करनेंके कारण ही अधिकार विरुद्ध आत्मज्ञानका घटाटोप करनेंवाला आजका भारतीय जगत् अल्पताका उपासक बनकर आज एकान्ततः अल्प बनगया है। ज्ञान, विज्ञान शिल्प, आदि आदिके उच्च शिखरपर विराजमान हमारा भारतवर्ष आज अकर्म्मण्य बनकर सचमुच अपने पासमे सब कुछ खोबैठा है। जरासी ज्ञान मात्रासे विद्वान् अपने आपको कृतकृत्य मानलेते हैं। यही दशा इतर वर्णों की है। परन्तु श्रुति कहती है कि भूलते हो। अभी मार्ग बहुत है। इसी विषयका बड़ासुन्दर निरूपण करता हुआ निम्नलिखित उपनिषद् वचन हमारे सामनें आता है–

'यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेव त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्–(केन०) इति।

तात्पर्य्य कहनेंका यही है कि भूमाभाव सुखका कारण है। आज यज्ञ द्वारा यजमान इसी भूमा सुखको प्राप्त करना चाहता है। इस लिए यह अभी से अपने श्रद्धामय मनको भूमा भावकी ओर झुकाता है। जब अन्न अधिक होता है तो शकटकी अपेक्षा होती है। अतएव हम शकटको अवश्य ही भूमा भावापन्न कहनेके लिए तय्यार हैं। इससे हविर्ग्रहण करनेंसे यजमानका मन अवश्य ही भूमाभावकी ओर झुक जाता है। बस इस भूमाको प्राप्त करनेंके

लिए ही (जोकि इसका अभीष्ट फलहै) शकटसे हविर्ग्रहण किया जाताहै । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

"तद् भूमानमेवैतदुपति" यह कहाहै ।

६

शकटसेभी अधिकभूमा खेतीमेंहै । अन्नकाटकर जंगलमें ढेर लगादिया-जाताहै । यदि भूमाही अपेक्षितहै, तबतो वहीं से हविग्रहण करना चाहिए ? इस पूर्वपक्षका निराकरण करतेहुए याज्ञवल्क्य कहतेहैं कि यह सचहै कि शकटकी अपेक्षा वहां भूमा अधिकहै । परन्तु ध्यानरहे—हम यज्ञ कररहेहैं । अतः हमें उसी भूमाका ग्रहण करना चाहिए जोकि यज्ञमे सम्बन्ध रखती-हो । खेतमें पड़ाहुआ अन्न अयज्ञियहै । शकटस्थ अन्न यज्ञियहै । 'यज्ञेन यज्ञ मयजन्त' यह सिद्धान्तहै । अतः इस यज्ञमें यज्ञरूप शकटान्नकाही ग्रहण कर-नाउचितहै । इससे श्रुति यहभी शिक्षादेतीहै कि तुम भूमाका सचयकरो परन्तु यज्ञिय (यज्ञरूप आत्मानुकूल) भूमाका संचयकरो । यदि अन्याय से अत्याचारसे तुम भूमा प्राप्त करोगे तो वह दुःखका कारण बनजायगी । सुख मिलेगा परन्तु यह सुख आत्माका घातक होगा । माना कि तुमनें वकालत से डाक्टरीसे एवं और और साधनोंसे मिथ्याभाषण, आडम्बर आदि आदि महास्त्रोंके उपयोगसे खूब धन संचयकर लिया । एवं उसके द्वारा विलासमें रत रहे । परन्तु विश्वासकरो यह भूमा अन्तमें तुम्हारे (आत्माके) विनाशका कारण होगी । इसलिए भूमा वह प्राप्त करनी चाहिए जो न्यायसंगत हो, वर्णधर्म्मानुकूल हो । आत्मयज्ञको समृद्ध करनेवाली हो । हमारी शकट भूमा ऐसी ही है । इसीलिए इसीसे हविर्ग्रहण करना उचितहै । शकट भूमा ऐसी ही कैसे है ? इसका उत्तर है—परोक्षार्थ को देखनेवाले महर्षियोंका आदेश ।

उनका विश्वास हैकि शकटभूमा यज्ञियहै। ९ म कंडिकामें इस शकटकी यज्ञरूपता बतलाई जानेवाली है। अभी केवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगा कि यज्ञ प्रतिपादक यजुर्वेदमें शकट सम्बन्धी ही मन्त्र उपलब्ध होते हैं। 'मन्त्र' निर्म्माण प्राकृतिक विज्ञानके आधारपर अवलम्बित है। जैसा प्रकृतिमें हैं तदनुरूप ही मन्त्रहै। चूंकि शकटसे ग्रहण करनेका मन्त्रहै—एतएव हम अवश्यही शकटको यज्ञरूप कहनेके लिए तय्यारहै। याज्ञवल्क्यसे पहिले कितनें ही ऋषि भस्त्रासे हविर्ग्रहण करते थे। उनकी समालोचना करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि संभवहै—किसी शाखामें भस्त्रा सम्बन्धी मन्त्र उन ऋषियोंको उपलब्ध होताहोगा। परन्तु आज हमें जो शाखाएं उपलब्ध होती है—उनमें हम भस्त्रा सम्बन्धी मन्त्रका अभाव पाते हैं। इस समय तो शकट सम्बन्धी यजुर्मन्त्र ही उपलब्ध होताहै। अतः 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस सिद्धान्तके अनुसार हम यज्ञसे यज्ञनिर्म्माण करें—यज्ञिय भूमा से अपनेयज्ञको भूमायुक्त बनावें—इस भावनाको प्रधानमानकर यज्ञरूप शकट सेही हविर्ग्रहण करनाचाहिए। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'यज्ञाद्यज्ञं निर्ममा'-इति—यह कहाहै।

७

जहांतक बनपडे वहांतक तो शकटसे ही हविर्ग्रहण करना उचितहै। परन्तु संभव है—यज्ञ कालमें शकट न हो। तब क्या करना चाहिए। शकटा भावमें किससे हविग्रहण करना चाहिए—यह प्रश्न सामने आताहै। इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहतेहैं कि—"उतो पात्र्यै गृह्णन्ति"—पात्रीसे यहां इडापात्री अभिप्रेतहै। इडाप्राशनद्रव्य पकानेकी पात्री इडापात्री है। अतएव यह कर्म इडा प्राशन नामसे प्रसिद्ध है। यदि शकट न मिले तो इस इडा पात्रीको

शकटका प्रतिनिधि मानकर इसमें हवि भरदेना चाहिए। परन्तु इसमें इतना और करना पड़ेगा कि जिस समय अध्वर्यु इड़ापात्रीसे हविर्ग्रहण करै–उस समय 'स्फ्य' को उसके नीचे लगाले, जिससे कि ग्रहण करते समय हविर्द्रव्य भूमिपर न गिरजाय। एक बात–और यदि शकटसे ही हविग्रहण किया जाताहै, तब तो–शकटके धू भागका स्पर्श करते हुए 'धूरसि' यही मन्त्र बोला जाताहै। यदि पात्रीसे ग्रहण करनें का पक्ष है तो धूरसि इस मन्त्रके पूर्वमें "यतो युनजाम ततो विमुञ्चाम"–इतना निगदमन्त्र और जोड़ दिया जाताहै। शेष सारा कार्य्य शकटग्रहणवत् ही होताहै। निम्नलिखित सूत्र इसी विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

पात्र्या वा स्फ्योपहितायाम् । (का० श्रौ० अ० २।२८)

धूरीषारोहणानि पात्रीबिले जपति । (का० श्रौ० अ० २।२८)

दृहन्तामित्युत्थानम्" । (का० श्रौ० अ० २।२९) इति।

इड़ापात्रीको शकट मानकर शकट सम्बन्धी साराकर्म्म यहां भी करना चाहिए–तीनों सूत्रोंका यही तात्पर्य्य है। 'धूरसि' यह धू स्पर्शका मन्त्रहै। 'देवानामसि' यह ईषा स्पर्शका मन्त्रहै। 'विष्णुस्त्वाक्रमताम्' यह शकटारोहणका मन्त्रहै। 'धूरीषारोहणानि' के अनुसार यह तीनों मन्त्र उदगग्र स्थित इड़ापात्रीके बिलके पास (जहां हविर्द्रव्य रक्खागयाहै वही प्रदेशबिल है) बैठकर बोलने चाहिए। एवं 'दृहन्ता दुर्य्याः'-यह शकटसे नीचे उतरनेका मन्त्रहै। यहांपर यह मन्त्र बोलते हुए अध्वर्युको आसनसे उठजाना चाहिए। 'यतो युनजाम ततो विमुञ्चाम' यह भाव पात्रीसे ग्रहण करनेपर ही उपलब्ध होताहै। अतएव पात्री ग्रहण पक्षमें ही इस निगद मन्त्रका सम्बन्ध किया जाताहै। तात्पर्य्य यही है कि यदि शकटसे हविर्ग्रहण किया जाताहै तब तो जुहू और उपभृत इन दोनोंको धूभागके समीप रक्खकर

जाताहै, यदि इड़ापात्रीसे ग्रहण किया जाताहै तो वेदिके उत्तरांस (उत्तरस्कंध) के समीप स्फ्यको उत्तराग्र रखकर इसके समीप ही पूर्वाग्रमें जुहूपभृतको रखनेका आदेश है। जैसाकि कात्यायन कहते हैं—

"घृताची इति धुरि निदधाति"—

"अनासिचेद् ग्रहणम्" का० श्रौ० सू० अ० ३। कं० ७ सू० १.६।

"स्फ्ये पात्र्यां चेत्" का० श्रौ० सू० (१० ३.७।२०) इति।

पात्री ग्रहण पक्षमें स्फ्यके साथ ही जुहूपभृत का योगहै, एवं इसीसे वियोगहै। परन्तु शकट ग्रहण पक्षमें यह बात नहीं है। यहां जुहूपभृतका धूसे ही योगहै। इस पक्षमें वैय्यधिकरण्यहै। पात्री पक्षमें योगवियोगका सामानाधिकरण्यहै। इसी सामानाधिकरण्यको बतलाते हुए इस पक्षान्तरका निरूपण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यतोह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति"—इति।

८

इति हविर्ग्रहणमीमांसा समाप्ता।

शकटसे, यदि शकट समयपर न मिले तो स्फ्य पहिता इड़ापात्रीसे हविर्ग्रहण करना चाहिए। एवं जो कर्म्म शकटके सम्बन्धमें होताहै वह सब पात्रीके सम्बन्धमें भी करना चाहिए यह पूर्वमें बतलाया जाचुकाहै। शकट के सम्बन्धमें क्या कर्म्म करना पड़ताहै—अब यही प्रकरण प्रारंभ होताहै। प्राकृतिक नित्य यज्ञका प्रतिकृतिभूत पुरुष जैसे 'यज्ञ' है एवमेव तत् प्रति

कृतिभुन यह शकट भी यज्ञ स्वरूप है। प्रकृतिके यज्ञमें यों तो अवान्तर अनेक पदार्थ होतेहैं परन्तु प्रधान रूपसे उसमें अग्नि,वेदि हविर्द्धान तीन पदार्थ होते है। हविर्वेदि दर्शपौर्णमासेष्टिसे सम्बन्ध रखती है, एवं महावेदिका ग्रह-यागापरपर्य्यायक ज्योतिष्टोमयज्ञसे सम्बन्धहै। साराभूमण्डल गार्हपत्या-ग्निकुण्डहै। भूपृष्ठसे सूर्य्यतकका सारा प्रदेश महावेदि है। १७ हवां अह-र्गण उत्तरावेदिस्थ आहवनीयहै। एकविंशस्थ सूर्य्य यूपहै। सूर्यरूप यूप के नीचे १७ हवां आहवनीयहै। इसीमें व्यापक सोमकी निरन्तर आहुति होती रहती है। अतएव 'आहूयते यत्र सोमः' इस व्युत्पत्तिसे इसे आहव-नीय कहाजाता है। इस आहवनीयसे नीचे अन्नरस (जोकि अन्नरस 'ऊर्क्' नामसे प्रसिद्धहै) नियतस्थानपर प्रतिष्ठित रहता है। अन्नरस ही प्राणदेव-ताओंका हवि है। यह हवि अन्तरिक्षके जिस प्रदेशमें प्रतिष्ठित रहताहै, उसे याज्ञिक परिभाषामें 'हविर्द्धान' शकट कहा जाताहै। पार्थिव ओषध्या-दिका रसरूप सोम पृथिवीसे उत्क्रान्त होकर पहिले इस प्रदेशमें प्रतिष्ठित होताहै, अनन्तर यहांसे १७ हवें आहवनीयमें आहुत होताहै। अग्नि और वेदिवत यह हवि भी यज्ञका प्रधान उपकारकहै। हविर्द्धानसे नीचेका प्रदेश सदोमण्डपहै। यहीं ८ प्रकारका नक्षत्राग्नि है। यही अग्निएं याज्ञिक परिभा-षामें धिष्ण्याग्नि नामसे प्रसिद्धहैं। ६ मध्यमें है। आग्नीध्रीय उत्तर में है, मार्जालीय दक्षिणमें है। इसके नीचे आवसथ्य सभ्य नामसे प्रसिद्ध दो अग्नि औरहैं। हविर्यज्ञका स्वरूप बतलाते हुए हमनें केवल भूमण्डलमें ही अग्नित्रयीकी सत्ता बतलाई थी। पृथिवीका पृष्ठभाग गार्हपत्य बतलाया था। सूर्यकी ओरका भाग आहवनीय बतलाया था। आज इस महायज्ञमें अग्नित्रयरूप सारा भूमण्डल गार्हपत्य बनजाताहै। १७वां स्थान आहवनीय होताहै। इसी भेदको समझानेके लिए याज्ञिकोनें हविर्यज्ञके पृष्ठरूप गार्हप-त्यकी—'पुराणगार्हपत्य' संज्ञा रक्खी है। एवं हविर्यज्ञके आहवनीय भत

किन्तु महायज्ञके गार्हपत्यभूत सूर्य्य सम्मुख पार्थिवाग्निकी 'नूतनगार्हपत्य' संज्ञा रक्खी है। इस विषयका विशद निरूपण आगे आनेवाले ब्राह्मणोंमें विस्तारसे होनेवालाहै, अतः यहां अधिक न बढ़ाकर हम केवल यही बतलाना चाहतेहैं कि पुराण—नूतन गार्हपत्य, ८ धिष्ण्य, आहवनीय, सभ्य आवसथ्य, यह सब अग्नि हैं। सारात्रैलोक्य वेदिहै। अन्तरिक्षमें प्रतिष्ठित हविका आधार भूत स्थान हविर्द्धान है। इस प्रकार यज्ञमें तीनही पदार्थ मुख्यहै। हमारे इस शकटमें तीनों भाव ज्योंके त्यों मौजूदहैं। अतएव हम अवश्यही शकटको 'यज्ञ' कहनेके लिए तय्यारहै।

पहिले अग्निको ही लीजिए। बैल अपने कंधोंपर शकटके जिस भागको रखकर शकटका वहन करते है वह 'धूः' नामसे प्रसिद्धहै। शकटके दोनों धू प्रदेश साक्षात् अग्निहै। यज्ञाग्नि यहां धू है—यह कल्पना नहीं है, अपितु वास्तव में अग्नि धू हैं। यही कारण हैकि जो बैल अपने कन्धोंसे इस धू भागका वहन करते है इनके कंधे अग्निदग्धवत होजाते है। स्कंध और धूके घर्षणसे वहां अग्नि उत्पन्न होताहै। वही अग्नि बैलोंके उस प्रदेशके रक्तको जलाताहै। अतएव वह प्रदेश शून्य होजाताहै। क्योंकि 'यावानु वै रसः तावानात्मा' इस सिद्धान्तके अनुसार रसरूप रक्तही चैतन्यभाव की प्रतिष्ठाहै। अग्निका काम जलानाहै। जलाना कार्य्य है। इस कार्यसे अवश्यही कारणाग्नि अनुमेय बनजाताहै। अब चलिए वेदि की ओर। जिन अग्रभागस्थ दोलम्बे दण्डोंके आधारपर शकट खडा किया जाताहै वहांसे शकटके पश्चिमप्रदेशतकका सारा भाग (दूसरे शब्दोंमें सारा शकट) वेदि है। एवं शकटके जिस प्रदेशमें हविरक्खा जाताहै, नीड नामसे प्रसिद्ध वही भाग इस शकट यज्ञका 'हविर्द्धान' है। शकट निर्म्माण यज्ञकी प्रतिकृतिपर ही हुआ है। आपको सुनकर आश्चर्य होगाकि भारतीय सारे आविष्कार प्रकृतिकी नकलहै। इसी आधारपर—

'यद्वै देवा अकुर्वस्तत् करवाणि'-'देवाननुविधा वै मनुष्या'—

इत्यादि निगम प्रमाणित हैं। इन्हीं सब कारणोंको लक्ष्यमें रखकर पूर्वमें 'यज्ञो वा अनः' इत्यादि कहा है। एवं इस कण्डिकामें—'तस्य वा एतस्याग्नेः' इत्यादि रूपसे उसी यज्ञ भावका निरूपण कियागयाहै।

९

"हे अग्ने! आप धू हैं। संताप पहुचानेवाले हैं। तापधर्म्मा हैं। अतएव जो संताप पहुंचा रहाहै आप उसे संतप्तकरो। जो हमारेको संतप्तकर रहाहो उसे भी संतप्तकरो। एवं उनको संतप्तकरो जिन्हें हम संतप्त कर रहे हैं"—इस अर्थको प्रकट करनेवाले—'धूरसि' इत्यादि मन्त्रको बोलता हुआ अध्वर्यु शकट के धू भागका स्पर्श करताहै। महापुरुषोंका अनादर करके किसी कार्यके लिए आगे बढ़ना संकटका कारणहै। इसी भूलने मार्गस्थ नन्दिनी माताका अनादर करनेवाले स्वर्ग जाते हुए राजादिलीपको अभिलषित फलसे कुछ काल तक वञ्चित रक्खाथा। नीड़ प्रदेशमेंसे अध्वर्यु हवि लावेगा। मध्यमें अग्निरूप धू पड़ताहै। इसका अतिक्रमण होना अवश्यंभावीहै। यह यजमानका अनिष्टकर होगा। इसलिए उचितहै कि अध्वर्यु मन्त्रद्वारा पहिलेही उससे अपने अपराधको क्षमा करवाले। बस धू स्पर्श करते हुए मन्त्र बोलने की एकमात्र यही उपपत्ति है।

व्यापक चैतन्यवादपर एक दृष्टि—

"शकट यज्ञरूपहै। शकटका धू प्रदेश साक्षात् अग्निहै। इतनाही नहीं अपितु उस अग्निको भले बुरेका ज्ञान भी होरहाहै। वह समझ रहाहै कि आज अध्वर्यु मेरा अतिक्रमण करके हविलेने जारहाहै। अग्नि अतिक्रमण

रूप अनादरसे रुष्ट होकर अध्वर्युका अनिष्ट करते हुए यजमानका अनिष्ट कर सकताहै । ऐसा न हो अग्नि हमारा अनिष्ट न कर बैठे—इसीलिए हविर्ग्रहणसे पहिले अध्वर्यु 'धूरसि' यह मन्त्र बोलता हुआ उसकी स्तुति करताहै। इस स्तुतिसे वह अग्नि उसी प्रकार अपने अतिक्रमण भावको भूल जाताहै जैसे कि क्रुद्धस्वामी सेवककी गिड़गिड़ाहटपर तरस खाकर उसके अपराध को भूल जाताहै ।"—क्या श्रुतिके पूर्वोक्त अक्षर विश्वास करनें लायक हैं ? क्या आजके वैज्ञानिक युगमें ऐसी बातोंका कोई मूल्य है । सर्वथा जड़ अग्नि और उसके लिए प्रार्थना । यही नहीं—प्रार्थना सुनलीजाती है, अग्नि क्षमा भी करदेते है । मालुम होताहै ऋषि साहित्यके आचार्य थे । इसीलिए तो कवियोंकी भांति वे जड़ पदार्थोंका भी चेतन रूपसे निरूपण करते हैं । ऐसी ऐसी असंभव अप्राकृतिक बातें देखकर ही तो विज्ञानके अन्तस्तलका अवगाहन करनेंवाले पाश्चात्य वैज्ञानिकोंनें वेदको गडरियोंके गीत बतलाया है । क्या हम यहीपर विश्राम करलें । क्या पाश्चात्योंका सिद्धान्त ठीकहै । हम कहेंगे ठीकहै—और अवश्यही ठीकहै । क्यों ? उत्तर स्पष्टहै । मन प्राण वाङ्मय आत्माके वाक्भागका नाम 'भूत प्रपञ्च' है । यही आज दिन पाश्चात्य भाषामें 'मेटर' नामसे प्रसिद्ध है । जिन वैज्ञानिकोंका आराध्य एकमात्र भूत प्रपञ्चहै, जो अभीतक केवल भूतवर्गको ही पहिचान पाएहै—यदि वे वेदको गडरियोंका गीत बतलावें तो कोई आश्चर्य नही । जन्मान्ध यदि दिनमें अंधेरा समझताहै तो इसमें उसका क्या अपराध है। उसकी अन्धकार भावना यथार्थ है । समय आवेगा और अवश्य आवेगा—जिस दिन भूतानुस्यूत प्राण प्राणानुस्यूत मन तत्वको पहिचानता हुआ आधुनिक वैज्ञानिक जगत अवश्य ही वेदको साक्षात् परमेश्वरकी वाणी समझेगा । उसके अक्षर अक्षर पर विश्वास करेगा । अस्तु उनकेलिए वह समय कभी आवे परन्तु अध्यात्म विद्याके आचार्य—भारतवर्षके लिए तो वह समय सदासे ही रहाहै. एवं सदा

ही रहेगा। भारतवर्षका व्यापक 'चैतन्यवाद' विज्ञानकी दृढ नींवपर प्रतिष्ठित है। संसारकी कोई भी शक्ति उसे नहीं उखाड सकती। आगे आने वाले प्रकरणोंमें पदपदपर इस चैतन्य भावकी प्रधानता है, इसलिए हम यह उचित समझते हैं कि संक्षिप्त रूपसे यहांपर उसका निरूपणाकर दियाजाय। जिससे भविष्यमें सन्देहका अवसर ही न रहे। आशाहै—प्रेमी पाठकोंके लिए यह विषय अधिक मनोरञ्जक होगा।

"संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें चेतना न हो"—इस व्यापक चैतन्यवादका निरूपण करती हुई उपनिषत् श्रुति कहती है—

ईशावास्यमिदमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (ईशोपनिषत् १)।

संसारका प्रत्येक पदार्थ चेतनामयहै। कैसे है? इसके लिए पहिले सृष्टि क्रमपर ध्यान देना आवश्यक होगा। ईश्वरसे सृष्टि होती है—यह आस्तिकों का दृढ विश्वास है। वह ईश्वर क्या पदार्थ है?इसका उत्तर देती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'—(गीता) इति।

अव्यय पुरुषका ही नाम ईश्वर है। इस अव्यय पुरुषकी आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् यह पांच कलाएं हैं। इन पांचों कलाओंका पूर्वके अङ्क में कई स्थानोंपर निरूपण किया जाचुकाहै। यहां पर केवल इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि इन पांचों कलाओंके कारण अव्यय पुरुष ज्ञान कर्म

१—ईशोपनिषत् के सारे मन्त्र धर्म्मनीति, राजनीति, विज्ञान, तीनों भावोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इन तीनोंमें से प्रकृतमें विज्ञानपक्ष ही अभिप्रेत है। इन सब भावों का निरूपण हमारे लिखे हुए ईशके भाषाभाष्यमें देखना चाहिए।

मयहै। आनन्द विज्ञान ज्ञान भागहै। प्राणवाक् कर्म्म भाग है। मध्यपतित मन उभयात्मकहै। अमृत और मृत्यु नामसे प्रसिद्ध रस बलकी (सर्व बल विशिष्ट रसकी) समष्टि परात्परहै। यही परमेश्वरहै। यही व्यापक अतएव मन प्राण वाक्से अतीत विश्वातीत ब्रह्महै। इसीके लिए—'यस्यामतं तस्यमतं' "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि कहाजाताहै। इस परात्पर व्यापक तत्वके किसी एक प्रदेशमें अनन्तबलोंको अपनेमें प्रतिष्ठित रखनेवाले जाया, धारा, आप, अभ्व, आदि नामोंसे प्रसिद्ध १६ बलको शोमेंसे सर्व प्रधान मूलभूत माया बलकोशका उदय होताहै। माया बल उस असीम् तत्वके उस प्रदेशको सीमित करदेताहै। वस मायाबलसे सीमित परात्परका वही अंश अव्यय नाम धारण करलेता है। अबतक वह सीमासे बाहरथा, अतएव अपुरुषथा। पुर (सीमा) से बाहरथा। परन्तु आज वही तत्व इस मायापुरके वशीभूत होकर 'पुरि शेते' इस व्युत्पत्तिसे 'पुरुष' नाम धारण करलेता है। इस पुरुषमें रस बल दो तत्वहै।

रस अमृत है। बल मृत्यु है। रस ज्ञान भागहै, यही ब्रह्महै। मृत्यु क्रियाहै, यही कर्म्म है। सांसारिक तद्रूप ब्रह्म कर्म्म (ज्ञानक्रिया) उस मूलभूत ब्रह्म कर्म्मका भौतिक रूपहै। विश्वातीत शुद्ध भाग दिव्य रूपहै। अव्यय पुरुषके विश्वातीत रस बल दिव्य ब्रह्म कर्म्महै। इसी अभिप्रायसे 'ब्रह्म कर्म च मे (मम—अव्ययपुरुषस्य) दिव्यम' (गीता) इत्यादि कहा जाताहै। मायावच्छिन्न ब्रह्म कर्म्मकी समष्टिरूप इसी मौलिक तत्वका नाम 'मन' है। जैसे संकल्प विकल्पात्मक मन 'इन्द्रियमन' नामसे प्रसिद्ध है, सारी इन्द्रियोंमें प्रज्ञारूपसे अनुस्यूत मन 'सर्वेन्द्रिय अतएव अनिन्द्रिय नामसे प्रसिद्ध है, एवमेव हमारा यह रस बलात्मक अव्ययमन 'श्वोवसीयसमन' नामसे प्रसिद्धहै। तैत्तिरीय श्रुतिमें यही 'श्वोवस्यब्रह्म' नामसे पुकाराजाताहै। उपद्रष्टृत्व, भोक्तृत्व, महेश्वरत्वादि ६ धर्म्मोंसे युक्त जीवाव्यय रूप मन जैसे प्रति

जीव संस्थाका प्रभव प्रतिष्ठा परायण है, अतएव सम्पूर्ण विश्वसमष्टिका प्रभव प्रतिष्ठा परायण वही श्वोवसीयस मन रूप ईश्वराव्यय है। इसीलिए इसके लिए 'यो लोकत्रयमाविश्य' यह कहाजाताहै । अपि च जैसे जीवाव्ययके उपद्रष्टृत्वादि ६ धर्म्म हैं, एवमेव इस ईश्वराव्ययके ११ धर्म्म हैं। जैसाकि स्मृति कहती है—

गति भर्त्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणं, सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् (गीता)

इन पूर्वोक्त धर्म्मोंसे युक्त वही श्वोवसीयसब्रह्म, इच्छा तप श्रमद्वारा सम्पूर्ण विश्वका निर्म्माणकर 'तत सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस सिद्धान्तके अनुसार सर्वत्र व्याप्त होजाताहै । इसमें सर्वहै, यह सबमें है । इसी ब्रह्मका निरूपण करती हुई तैत्तिरीय श्रुति कहती है—

"इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। न द्यौरासीत्, न पृथिवी, नान्तरिक्षम्। तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति। असतोऽधिमनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किंच। तदेतच्छ्वोवस्यसं नाम ब्रह्म" (तै०ब्रा०२कां।२प्र०।९अनु०) इति।

सृष्टिका प्रधान एवं प्रथमज रेत 'काम' (कामना इच्छा) है । कामके अनन्तर तप होताहै। तपके अनन्तर श्रम होताहै । इस प्रकार मन प्राण वाक् जनित काम, तप, श्रमके समन्वयसे नई वस्तुकी उत्पत्ति होतीं है। इन तीनोंमें भी कामना ही प्रधानहै, जैसाकि निम्न लिखित प्रकरणसे स्पष्ट हो जायगा—

'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इस श्रौत

सिद्धान्तके अनुसार सर्वजगत प्रभव प्रतिष्ठा परायणरूप मननामसे प्रसिद्ध इस श्वोवसीयस ब्रह्ममें सबसे पहिले कामनाका उदय होताहै। यही कामना संसारका प्रधान मूलकारण है, अतएव ऋषिने इसे 'रेत' कहाहै। कामना मनका व्यापार है। हमने बतलादिया है कि मन रस बलात्मकहै। रस बलात्मक मनसे कामनाका उदय होताहै। सुतरां कामनाका द्वैविध्य सिद्ध होजाताहै। मन उक्थ है। कामना इसके अर्क (रश्मि) है। यह अर्क रस और बल भेदसे दो प्रकारके है। बलगर्भित रसरूप अर्कका नाम 'मुमुक्षा' है, रस गर्भित बलप्रधान अर्कका नाम सिसृक्षा है। सिसृक्षा सृष्टिका आधारहै, मुमुक्षा मुक्तिका आलम्बन है। एक बात और, अबतक जो रस बलात्मक परात्पर ब्रह्म असीम होता हुआ हृदय (केन्द्र) बलसे शून्य था वही आज माया बलके कारण सीमित होताहुआ सहृदय बनजाताहै। अव्यय पुरुषरूप मनके साथही हृदयबल प्रादुर्भूत होताहै। हृदय ही इस मनकी प्रतिष्ठाहै। अतएव इसके लिए—

'हृत प्रतिष्ठ यदजिरं यविष्ठ तन्मेमनः शिव सङ्कल्पमस्तु' (यजुः सं०)

यह कहाजाताहै। इस हृदय बलका नामही 'प्रकृति' है। आहर्त्ता अतएव 'हृ' नामसे प्रसिद्ध विष्णु एककलाहै। विक्षेपण धर्म्मा अतएव 'द' नाम से प्रसिद्ध इन्द्र दूसरीहै कलाहै। नियमन कर्त्ता अतएव 'यम' नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मा तीसरी कलाहै। ब्रह्मगर्भित विष्णुरूपसोम चौथी कलाहै, एवं ब्रह्म गर्भित इन्द्ररूपअग्नि पांचवी कलाहै। पञ्चकलोपेत हृदय ही प्रजापति है। यही अव्यक्तहै। यही प्रकृतिहै। इसके—'अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासी दर्द्धममृतम्' के अनुसार अमृतमर्त्य दो भागहैं। अमृत भाग अविपरिणामी होनेसें 'अक्षर' कहलाताहै। मर्त्यभाग विपरिणामी होनेंसे क्षर कहलाता है। यह मर्त्यक्षर उसी अक्षरसे प्रादुर्भूत हुआहै—अतएव इसके लिए 'ब्रह्माक्षर

समुद्रवम' यह कहाजाताहै। जैसे चिदात्मा अव्यय नामसे प्रसिद्धहै, अक्षर अमृत नामसे प्रसिद्धहै, परात्पर शाश्वतधर्म्म नामसे प्रसिद्धहै निर्विशेष (शुद्ध रस) ऐकान्तिक सुख नामसे प्रसिद्धहै, एवमेव जगदुपादानभूत क्षर 'ब्रह्म' नामसे प्रसिद्धहै। यह ब्रह्म (क्षर) अक्षर समुद्रवहै। बस विपरिणामी क्षर ब्रह्मरूप अपरा प्रकृति, एवं अविपरिणामी किन्तु कुर्वद्रूप अमृत नामसे प्रसिद्ध क्षररूप पराप्रकृति ही अव्ययाधारपर स [illegible] निर्माण करतीहैं। पञ्चजन, पुरंजन, विश्वसृट्, पुर, आदि [illegible] वैकारिक भाग होनेसे बहिरंग प्रकृति नामसे प्रसिद्धहै, परन्तु अक्षर और आत्मक्षर दोनो आत्मस्वरूपमें प्रविष्ट होनेके कारण अन्तरंग प्रकृति है। यह उसकी स्वा प्रकृतिहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया'—(गीता) यह कहाजाताहै। बस इस अव्यय, अक्षर क्षरकी समष्टिको ही हम जगत् कर्त्ता ईश्वर कहेंगे। क्षरकी अपेक्षासे यह ईश्वर जगत् बना हुआ है। अक्षरकी अपेक्षासे यही जगत् को बनारहाहै। अव्ययकी अपेक्षासे उसीपर जगत् बनरहाहै। यह कर्त्ता है। कार्य्यहै। कारणहै। अकर्त्ताहै। सब कुछहै। ईश्वरके तीन भागोंमें पहिला अव्यय भाग ज्ञान प्रधान होनेसे अविकुर्वाणहै। तीसरा क्षरभाग अर्थरूप होनेसे विकुर्वाणहै। मध्यपतित अक्षर भाग क्रिया प्रधान होनेसे कुर्वाणहै। सृष्टि क्रिया सापेक्षहै। अतएव—'तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते' (मुण्डक) इत्यादि श्रुतिएं अक्षरको ही कर्त्ता बतलाती हैं। क्षर व्यक्तहै। अक्षर अव्यक्तहै।

१—इस विषयका विस्तृत विवेचन गीता प्रमाणके—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

इस श्लोक के निरूपणमें देखनाचाहिए।

'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः' के अनुसार अव्यय 'पर' है। अक्षर परावरहै। क्षर अपरहै। क्षर पूर्व कथनानुसार 'ब्रह्म' है। ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध क्षर, पर नामसे प्रसिद्ध अव्यय-मध्यपतित अक्षर दोनों का संचालकहै। अक्षरके द्वाराही अव्ययकी पांचों कलाओंका विकास होता है-जैसा कि अनुपदमें ही बतलाया जानेवालाहै। अक्षरके द्वाराही क्षर कलाएं उद्भूत होती हैं। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर उपनिषत् श्रुति कहती है-

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्-(कठ) इति।

अस्तु कर्म्म प्रधान यज्ञ प्रकरणमें हम आत्मप्रकरणको अधिक नहीं बढ़ाना चाहते-इस प्रपञ्चसे बतलाना हमें केवल यही है कि अक्षरके कारण ही (हृदय बलके कारणही) उस एककल मनोमय अव्ययपुरुषमें पांच कलाओं का उदय होताहै। आज दिन चेतना और चित् को पर्य्याय समझा जाता है। परन्तु यह भूलहै। चित् भिन्न वस्तुहै। चेतना भिन्न पदार्थ है। अक्षर चेतना है। अव्यय चित् है। अक्षर अव्ययके ऊपर अन्तः और बहिरूप दो चितिएं करताहै। अतएव 'चेतयते सा' इस व्युत्पत्तिसे अक्षर चेतना नामसे प्रसिद्धहै। चिति व्यापारहै। व्यापार क्रियाहै। क्रियाका अधिष्ठाता एकमात्र अक्षरहीहै। अव्यय मनमें रस बल दो तत्वहैं। अक्षर उसपर उसीके रस भागकी भी चिति करताहै, बलभागकी भी चिति करताहै। मनपर रस की चिति होती है। परन्तु रसमें बलका आत्यन्तिक अभाव है यह बात नहीं हैं। बल भी अवश्यहै। परन्तु रस प्रधानतासे वह दबगयाहै। बस ऐसी अवस्थासे युक्त पहिली रसचितिका नाम 'विज्ञान' है। आगे जाकर बलभाग सर्वथा अभिभूत होजाताहै। उसी अवस्थका नाम 'आनन्द' है। आनन्द विज्ञान दोनों रस चितिहैं। यही रसचिति 'अन्तश्चिति' कहलाती है। इसी

प्रकार बलप्रधाना रसगर्भिणी चिति 'प्राण' है। इसमें रस भाग भी है। परन्तु आगे जाकर वह एकान्ततः अभिभूत होजाताहै। वही 'वाक' चिति है। इन दोनों चितियोंका नाम 'बलचिति' है। यही वहिश्चिति है। इस प्रकार रसबलके तारतम्यसे उस अव्यय मनपर-आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक, इन चार चितियोंका सम्बन्ध होजाता है। इन चारों चितियोंके कारण वह पुरुष 'चिदात्मा' नामसे व्यवहृत होने लगताहै। इन पांचों चितियोंके निम्न लिखित लक्षण समझने चाहिएं-

१-सर्वथा प्रसुप्तं यद् बलं तदवच्छिन्नो रसः-आनन्दः।

२-किञ्चित प्रबुद्धं यद् बलं तदवच्छिन्नो रसः-विज्ञानम।

३-रस बलयोः साम्यावस्थापन्न ब्रह्म-मनः।

४-किञ्चित प्रबुद्धो यो रसस्तदवच्छिन्नं बलं-प्राणः।

५-सर्वथा प्रसुप्तो यो रसस्तदवच्छिन्नं बलं-वाक्।

१.-जिस रसने अपनी प्रधानतासे बलको सर्वथा अभिभूत करडालाहै ऐसे रसका नामही आनन्दहै।

२.-जिस रसमें बल किञ्चित मात्रामें उल्बणहै-वही रस विज्ञानहै।

३-रसबलकी समानावस्थाही मनहै।

४-किञ्चित मात्रामें उल्बण किन्तु बलसे दबाहुआ रसही प्राणहै।

५-रसको सर्वथा अभिभूत करनेवाला बलही वाक्है।

विश्वमें व्याप्त रहनें वाले चैतन्यका निरूपण अपेक्षित है । विश्व सृष्टिसाक्षी अव्यय पुरुषके मन प्राण वाग भागसे सम्बन्ध रखताहै । आनन्द विज्ञान नही है, यह बात नहीं है । परन्तु वे यहां गौणहै । अतएव उनकी अपेक्षा न रखकर सृष्टिसाक्षी आत्माके लिए केवल 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" (बृ आ०) यही कहा जाताहै । इस अक्षरसे आत्मक्षरके द्वारा सारा विश्व बनाहै । विश्वनिर्म्माण कैसे हुआ ? इसप्रश्नका समाधान यहां करना अप्राकृत होगा । अक्षरकी ब्रह्मादि पांचों कलाओंसे क्रमशः प्राणादि पाचो कलाएं प्रादुर्भुत होती हैं । पांचोंके पञ्चीकरणसे विश्वसृट् उत्पन्न होते है । अनन्तर सर्वहुत यज्ञसे पञ्चजन, पञ्चजनसे वेद, लोक, देव, भूत, पशु, यह पांच पुरंजन पैदा होते है । पांचों पुरजनोंसे क्रमशः स्वयम्भु परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा यह पाच पुर पैदा होते हैं । इन पांचोंको उत्पन्न कर क्षराक्षरविशिष्ट वह सच्चिदानन्दघन आत्मा 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार 'इन पुरोंमें प्रविष्ट होजाता है । अतएव उसे विश्वचर, विश्वाधार जगन्नियन्ता, आदि नामोसे व्यवहृत किया जाताहै । इस आत्म सत्ताके कारण ही पांचो पुर 'ब्रह्मपुर' नामसे प्रसिद्धैं । वह महाविश्व उस ईश्वरात्मा का शरीर है । इधर यह क्षुद्र शरीर इस जीवात्माका विश्वहै । विश्वरूप महा शरीरधारी उस ईश्वरसे ही सारीभूतभौतिकी सृष्टि हुई है । सब उसके अंश है । इसी अभिप्रायसे भगवान् व्यास कहते हैं—

"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा वापि दाशकितवादित्वमधीयत एके"

(शा० द० २ । ४३ सू०) इति ।

ऐसी अवस्थामें उस चैतन्यके अंशभुत विश्वके पदार्थोंमें चैतन्यका अभाव कदापि नही मानाजासकता । चैतन्य उल्बणहो या अनुल्बण—यह बात दूसरी है, परन्तु नहीं हो यह बात नही हैं । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थ मात्रमें होनेवाली क्रियाहै । साधारण मनुष्योंकी दृष्टिके अनुसार जड़ पदार्थोंमे भी

व्यापार देखाजाताहै । आदान विसर्गरूप कर्म—प्रत्येक पदार्थमें देखा जाताहै । यदि यह कर्म्म न होता तो कभी पदार्थ पुराना न पडता, अतएव हम सबको कर्म्माक्रान्त माननेके लिए तय्यार हैं । यह क्रिया बिना कामना मयमनके असंभव है । बिना ज्ञानके क्रिया हो ही नहीं सकती । कामना क्रियाका आधार है । कामना मनसे निकलती हैं । मन ज्ञानमय हैं । सुतरां सबमें चैतन्य सत्ता सिद्ध होजाती है । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्"—(मनुः २।४) इति ।

'यदि सबमें चेतना समानहै तो फिर अस्मदादिवत्—पाषाणादिमें भी इन्द्रिएं क्यों नहीं होती ? इस प्रश्नका उत्तर है—पदार्थ तारतम्य । आत्मा सब में समानहै । केवल भौतिक पदार्थोंके संनिवेशतारतम्यसे पदार्थोंमें इस वैचित्र्य भावका उदय होताहै । १०—११—१२ अङ्कोंमें बडे विस्तारके साथ १४ प्रकारके भूत सर्गका निरूपण किया जाचुकाहै । पार्थिव अर्थ प्रधान वैश्वानर, आन्तरिक्ष्य क्रिया प्रधानतैजस, दिव्यज्ञान प्रधान प्राज्ञके तारतम्य से असज्ञ, अन्तःसंज्ञः ससंज्ञ भेदसे १४ प्रकारका भूतसर्ग तीन भागोंमें विभक्त है । पाषाणादि असंज्ञहैं । इनमें केवल वैश्वानर है । वृक्षादि अन्तः संज्ञहै । इनमें वै० तैजसहैं । हमसब चेतन नामसे प्रसिद्ध संसज्ञहैं । हमारे में—वै० तै० प्रा० तीनों हैं । प्राज्ञ इन्द्रहै । इसका विकास हमारेमें है । अतएव इन्द्रियोंका विकास इन्द्र प्रधान ससज्ञ जीवोंमें ही होताहै । जड और चेतन की व्यवस्था आत्माके भावाभावपर अवलम्बित नहीं है । अपितु महर्षि चरकने—

'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्' । इस कथन के—

के अनुसार इन्द्रियोंका भावाभावही जड चेतन का व्यवस्थापक है। बंद घटमें रक्खा हुआ दीपक यदि अन्धकारको दूर करनेमें असमर्थ है तो एतावतैव घटमें प्रकाशका अभाव नहीं माना जासकता। एवमेव इन्द्रियोंका अभाव व्यापक आत्मसत्ताको उच्छिन्न नहीं कर सकता। चान्द्रमज्ञानरूप संकल्प विकल्पात्मक इन्द्रियमन भले ही उन पदार्थों में न हो—परन्तु सर्व-व्यापक अव्यय रूप ज्ञानघन श्वोवसीयसमन भूतमात्रमें प्रतिष्ठित है। उसे देखना साधारण मनुष्योंका काम नहीं है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्तिधीराः' के अनुसार उसके देखनेका चक्षु विज्ञान है। महामहिमशाली ऋषियोंने अपने विज्ञान चक्षुसे भूतमात्रमें चैतन्यकी सत्ता देखी—तदनुसार सारे कर्म्म कलापको व्यवस्थित किया। ईश्वर सच्चिदानन्द है। सत्ता, अस्ति भावहै। चेतना उपलब्धि है। जो उपलब्ध होताहै, वो है—वही रस है। वही आनन्द है। तीनों अविनाभूत है। संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है. जिसमें 'अस्ति' न हो। अस्ति विना भातिके अनुपपन्नहै। दोनों रसाविनाभूत हैं। इस अस्ति भास्ति रस दृष्टिसे भी सर्वत्र चैतन्य व्याप्तिसिद्ध होजाती हैं। बस इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'—यह कहा गया है। इसीका स्पष्टी करण महर्षि कठनें—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।

दृश्यतेत्वग्र्ययाबुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः'—इस रूपसे किया है।

पूर्वके अङ्कोंमें आठ प्रकारके देवताओंका निरूपण करते हुए जिस अक्षर रूप अभिमानी देवताओंका निरूपण किया था वह यही आत्म देवताहै।

इसी अभिमानी देवताको अक्षर रूप अन्तर्य्यामी कहाजाताहै। चैतन्य घन यह अन्तर्यामी लौकिकी किंवदन्तीके अनुसार घट घटमें व्यापकहै। पानी सर्वथा भौतिक पदार्थ है, परन्तु उसमें अभिमानी देवता प्रतिष्ठितहै।

यही समझकर हम उसकी स्तुतिकरते है । श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' यह परीक्षित अतएव निश्चित सिद्धान्तहै । जिसकी व्यापक चैतन्यवादके अस्तित्वपर श्रद्धाहै, वह अवश्यही सबमें उसे देखताहै । उस की दृष्टिमें जड़ चेतन इस द्वैतभावका समावेश नही है । अतएव जहां औष-धि क्षुरिकासे काटीजाती हैं, वहां 'ओषधे त्रायस्व' कहाजाताहै । दीक्षित यजमानके केशवपन करते समय स्वधिते मैनं हिंसीः' कहाजाताहै । उपांशुस-वन नामसे प्रसिद्ध सोमवल्ली पीसनेकी शिलापर रक्खेहुए ग्रावाओंको "शृणोतु ग्रावाणः"–यह कहाजाताहै। यह आलङ्कारिक वर्णन नहीहै, अपितु जैसी स्थितिहै, उसका दिग्दर्शनहै । शकटके धू प्रदेशके अभिमानी देवता अग्नि हैं । उनका अ'नक्रमण होता है । यह अनिष्टकरहै, तन्निवारणार्थ उनकी स्तुति करना परम आवश्यक है । इस विषयमें अभी बहुत कुछ वक्तव्य है । परन्तु विस्तार भयसे यहीं प्रकरणको समाप्तकर आगे चलते हैं–

१०

मन्त्र ब्रह्मशक्तिहै, जैसाकि ब्राह्मणकी चौथी कण्डिकामें विस्तारके साथ बतलाया जाचुकाहै । इसी वाग् वज्रसे यज्ञ कर्त्ता ऋषि अपनें शत्रुओं को नष्टकिया करते थे । अरुणपुत्र अतएव–आरुणि नामसे प्रसिद्ध याज्ञ-वल्क्यके गुरू उद्दालक याज्ञवल्यसे कहाकरते थे कि याज्ञवल्क्य ! मैं पक्ष पक्षमें अपनें शत्रुओंको नष्ट किया करताहूं । उसी इतिहासका स्मरण दिलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आरुणि 'धूरसि' इस ब्रह्मबलको लक्ष्यमें रख-कर ही 'अर्द्धमासशोह०' इत्यादि कहाकरते थे । इस कथनका तात्पर्य्य यही हैकि जो विद्वान इस विज्ञानको जानता हुआ दर्शपौर्णमासेष्टि करताहै, संसारमें उसका कोई भी शत्रु नहीं रहता ।

११

इस प्रकार—"अपरास्य पश्चादतस्तिष्ठति समङ्क्ति धूरसीति धुरभिमर्शनम्" (का० श्रौ० २।२।३।१३) इस श्रौत सूत्रके अनुसार अपरा नामसे प्रसिद्ध दक्षिण अग्निके पश्चिम भागमें प्रतिष्ठित शकटके धू भागका 'धूरसि' इत्यादि मन्त्रसे स्पर्श करनेके अनन्तर वह अध्वर्यु 'देवानामित्युपस्तम्भनम्य पश्चादीषाम्' (का० श्रौ० २।३।१४)के अनुसार 'देवानमसि०' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ ईषाका स्पर्श करता है। हे अग्निरूप शकट ? आप देवताओंका हवि वहन करनेवाले हो। आप चर्म्मं रज्जुसे वेष्टित होनेके कारण सरिनतमहो। हविर्द्रव्यसे परिपूर्ण हो। अतएव देवताओंको अत्यन्त प्रिय हो। एवं देवताओंका आह्वान करनेवाले हो। आप अकुटिल हो। क्योंकि आप अकुटिल होनेके कारण स्थिर भावापन्नहो, अतएव हम आपसे प्रार्थना करते है कि आप हमारे हविर्द्धान शकटको दृढ़ करो। आप और यज्ञपति दोनों ही दृढ़ बने रहे, अपनी प्रतिष्ठा न छोड़ें—हम आपसे यही चाहते है'—यह है मन्त्रका अक्षरार्थ। इस मन्त्रका अध्यात्म अधिभूत (वैधयज्ञ) अधिदैवत तीनोंसे सम्बन्धहै। अग्नि संसारमें क्या काम करताहै ? अग्निका क्या स्वरूप है ? मन्त्र इन्हीं प्रश्नोंका समाधान करताहै। पहिले आधिदैविक स्वरूपकी और ही आपका ध्यान आकर्षित करते है। अग्नि कई प्रकारका है। सूर्यमें भिन्न अग्निहै। अन्तरिक्षमें भिन्न अग्निहै। सूर्यसे ऊपर प्रतिष्ठित परमेष्ठीमें भिन्न अग्नि है। परमेष्ठीसे ऊपर प्रतिष्ठित स्वयम्भुमें भिन्न अग्नि है। पृथिवीमें भिन्न ही प्रकारका अग्नि है। हमारे प्रकृत हविर्यज्ञका सम्बन्ध भूपिण्डसे है, जैसाकि पूर्वमें बतलाया जाचुका है। बस यहां वही पार्थिव अग्नि अभिप्रेत है। सौर प्राण देवता आहुति लेनेवाले है। पृथिवीका अग्नि आहुति पहुंचानें वालाहै। पृथिवीपिण्डमें भूत और प्राण दो तत्वहै। भूत प्रसत्तहै, प्राण अप्रसक्तहै। भूत प्राण भेदसे पृथिवी भी दो ही प्रकारकी होजाती है। भूतमयी पिण्ड पृथिवीको हम आंखोंसे देखरहेहैं। परन्तु अधामच्छदा प्राणमयी अमृता

पृथिवीको हम देखनेमें असमर्थ हैं। अतएव इन दोनोंको निरुक्त अनिरुक्त कहाजाताहै। भूत पृथिवी निरुक्ताहै। अमृता पृथिवी अनिरुक्ता है। अनिरुक्त भाग अमृताग्नि है। निरुक्त भूत मर्त्याग्नि है। याज्ञिक परिभाषामें यही दोनों 'चितेनिधेयाग्नि' 'चित्याग्नि' नामसे प्रसिद्ध हैं। भूमण्डलपर पैदा होनेवाली ओषधि, वनस्पति, कृमि, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्यआदि सारी प्रजाका इसीसे सम्बन्ध है। 'आयुर्वा अग्निः' (श० ६।७।३।७) 'अग्निर्वाऽआयुष्मानायुष ईष्टे' (श० १।३।८।४।८) के अनुसार प्रजामात्रका पार्थिवाग्नि ही जीवनाधार है। प्रजापालकत्वेनैव इसे प्रजापति कहाजाताहै। भूत भाग होनेसे यह प्रजापति निरुक्तानिरुक्त कहलाताहै। जैसाकि श्रुति कहती है— प्रजापतिरेषोऽग्निः। उभयम्वेतत् प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च। परिमितश्च परिमितश्च" (श० ६।५।३।७) इति। इस प्रजापतिके कारण 'प्राजापत्यो वा अयं (भू०) लोकः'–(तै० ब्रा० १।३।७।५) के अनुसार यह भूलोक प्राजापत्यलोक कहलाताहै। भूमण्डलपर व्याप्त ओषधि वनस्पतियोंका रस इसी पार्थिव प्राजापत्याग्निके कारण सौर प्राणदेवताओंमें निरन्तर आहुत होतारहताहै। उसी रसको ले लेकर सूर्य वर्षाद्वारा पुनः इसलोकमें ओषधि वनस्पतिएं उत्पन्न किया करतेहैं। इस आदान विसर्गात्मक यज्ञके कारण ही दोनों लोक स्व स्वरूपमें प्रतिष्ठितहैं। ओषधि वनस्पतियोंकी आहुति नहीं होती, अपितु इन का रस जाताहै। रस आर्द्र भागहै। पानी है। यह पानी अग्नि द्वारा ऊपर जाताहै। सूर्य्य द्वारा पुनः पृथिवीमें आताहै। सूर्य्य पर्जन्य (वृष्टिका अधिष्ठाता वायु) द्वारा यहां बरसाताहै। अग्नि वहां बरसाताहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर मन्त्र श्रुति कहती है—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।

भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः" । (ऋक् १।१६४।५१) इति।

इसी अभिप्रायसे—'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति। यदा वाव खल्वसावा-

दिवो न्यद् रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते अथ वर्षति'—यह कहाजाताहै। पार्थिव हविको अपने ऊपर प्रतिष्ठित रखकर अग्नि उसे द्युलोकमें पहुंचातेहैं, अतएव हम इन्हें अवश्यही वन्हितम (भारवाही—हव्यवाहक) कहनेंके लिए तय्यारहैं। पृथिवीसे निकलनेंवाला प्राणाग्नि अंगिरा नामसे प्रसिद्धहै। जैसे आदित्याग्नि किंवा सावित्राग्नि सूर्य्यसे निरन्तर पृथिवीकी ओर आया करताहै, एवमेव यह अनिरुक्त प्राणाग्नि पृथिवीमें से निकलकर निरन्तर सूर्य्यमें जाया करताहै। इसी अभिप्रायसे—

इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन्।
प्रभुर्जयो यथा पथि द्यामंगिरसो ययुः (अथर्व १८।१।६१)यह कहाजाताहै।

निरुक्त भूपिण्डरूप भूताग्नि हवि लेजानेंमें असमर्थ है। हविलेजाना एकमात्र प्राणरूप अनिरुक्त अग्निकाही कामहै। इसी अभिप्रायसे ताण्ड्यश्रुति कहतीहै—

'स (प्रजापतिः) ऐक्षत—यन्निरुक्तमाहरिष्यामि-असुरा मे यज्ञं हनिष्यन्तीति। सोऽनिरुक्तमाहरत्'—(तां० ब्रा० १८।१।३) इति।

इसप्रकार पूर्वोक्त श्रौत एवं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनुः)

इस स्मार्त्त सिद्धान्तके अनुसार अग्निका हव्यवाहकत्व भलीभांति सिद्ध होजाताहै। अतएव इसकेलिए—'वन्हितमम्' कहाहै। भूताग्नि प्राणाग्निमय भूपिण्ड शकटहै। औषधि वनस्पतिरूप अन्न इस शकटमें भराहुआहै। यह शकट चलताहै। पृथिवी सूर्य्यके चारों ओर परिक्रमा लगाती है। इसी परिभ्रमणके द्वारा सारे सौरदेवता इस शकटरूप पार्थिवाग्निसे अन्नग्रहण

करतेहैं । अतिवेगसे चलता हुआ भी यह शकट (पृथिवी) नहीं टूटता । इसके सारे अवयव दृढ़ रहतेहैं। क्योंकि, यह सस्नितमहै । सौररश्मियें हीं चर्मरज्जु हैं । इससे यह भूमण्डल चारों ओरसे वेष्टित होरहाहै । यदि सूर्य्यका आकर्षण न होतो पृथिवी अपने नियतमार्गसे च्युत होतेहुई खण्ड खण्ड रूपमें परिणत होजाय । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'सस्नितमम' कहाहै । पृथिवीके किसी नियत प्रदेशमेंही हवि नहीहै । अपितु सारा भूपिण्ड अन्नरससे परिपूर्णहै । कहीं औषधिहै । कहीं वनस्पतिहैं । कहीं पशु आदिहैं । इस परिपूर्णताकी अपेक्षासेही 'पप्रितमम' कहाहै । अन्नसे अन्नादकी सत्ता रहती है। सौर प्राणदेवता अन्न खानेवालेहैं । जो पार्थिवाग्नि अन्न जैसी प्रियवस्तु देवताओंको देतेहैं देवताओंका इस हविः प्रदाता अग्निसे बढ़कर अधिक प्रियतम और कौन होसकता है । इसी अभिप्रायसे 'जुष्टतमम्' कहाहै । पार्थिव अग्निद्वारा ही सौर प्राणदेवताओंका भूमण्डलसे सम्बन्ध होता है । सौर रश्मियोंमें सौर देवता प्रतिष्ठितहैं । सूर्य्यसे निकलकर यह रश्मियें चारों ओर जारही है । भूमण्डल बीचमें अवरोधक होजाताहै । अतएव इन रश्मियोंको इस लोककी प्रजाके साथ सम्बन्ध करना पडताहै । पार्थिवाग्निमय भूपिण्डकी कृपासेही सौर प्राणदेवताओंका हमारे आत्मामें आगमन होताहै । इसी अभिप्रायसे—'देवहूतमम' कहाहै । पृथिवी और पृथिवीका अग्निदोनों सरलहैं । अतएव दोनोंके जानेकामार्ग नियतहै । भूपिण्ड कभी क्रान्ति वृत्तको नहीं छोड़ता । अंगिराग्नि कभी शुनोकको छोड़कर अन्यपथ का अनुसरण नहीं करता । दोनों नियतपथारूढ होनेके कारण अकुटिलहै । इसी अभिप्रायसे 'अह्रुतमसि' कहाहै । इसप्रकार ईश्वरप्रजापतिका अग्निप्रजापतिरूप यह भूपिण्डात्मक अन्नसे परिपूर्ण छकडा—सर्वत्र घूम घूमकर सबको अन्नप्रदानकर सबके आयुको स्वस्वरूपमे प्रतिष्ठित रखताहै । यही हविर्धान शकटहै । सोमयज्ञमें इसीकी प्रतिकृतिपर हविर्द्धानमण्डपमें हविर्द्धा-

नशकट खड़ाकर उसमें हविरूप सोमांशु रक्खेजातेहैं। पार्थिव हविरूप अन्नभी इसीपर प्रतिष्ठितहैं। आन्तरिक्ष्य सोमरसकी प्रतिष्ठाभी यही है। अतएव हविर्यज्ञ, और सोमयज्ञ दोनों यज्ञ इसीसे सुसंपन्न होते हैं।

अब चलिए अध्यात्म पक्षकी ओर। हम क्याहैं? इसका उत्तरहै मन, प्राण, वाक्। मन आत्माहै। प्राण देवताहै। वाक् भूतहै। रसा सृक् मांसादि युक्त स्थूल शरीर भूत प्रपञ्चहै। यही शरीरहै। यही भूताग्नि है। इसके भीतर जो गर्मी है वही प्राणाग्नि है। प्राणाग्नि अनिरुक्त है, भूताग्नि निरुक्त है। ऊष्मारूप प्राणाग्नि जबतक रहताहै, तभीतक आयुसत्ता रहती है। भूत प्राण दोनों अग्निहैं। पार्थिव भूताग्निसे भूतभाग बनाहै। प्राणाग्निसे प्राण भाग निष्पन्न हुआहै। इनमें तीसरा मनोमय आत्मा भोक्ताहै। प्राणाग्नि द्वारा ही अन्नाहरण होता है। यह प्राणाग्निभूताग्निरूप शकट, शारीरचर्म्मसे चारों ओरसे वेष्टित है। चर्म्मनद्ध इस शरीर शकटके द्वारा ही आत्म देवताओंमें अन्नाहुति होती है। एक चमत्कार और है। शकट घूम घूमकर ही अन्न पहुंचानेंमें समर्थ होताहै। जो अकर्म्मण्यहैं, आलसी हैं, उनका शकट जीर्ण होता हुआ अन्नाहरण करनेंमें असमर्थ होजाता है। चलता फिरता शकट (शरीर) ही कामकी वस्तु है। शेष सारे भाव यहां भी ज्योंके त्योंही समझने चाहिए।

अब चलिए अधिभूतकी ओर। अधिभूतसे ऐतिह्य और वैधयज्ञ दोनों अभिमतहैं। पूर्वके अङ्कोंमें यह विस्तारके साथ बतलाया जाचुका है कि—

इसी भूमण्डलपर किसी समय त्रैलोक्य विभाग था। जिसे आज एशिया कहते है, वही हमारा भौम त्रैलोक्य था। इस त्रैलोक्यके अग्नि, वायु, इन्द्र तीन देवता अधिपति थे। भारतवर्षके सम्राट् मनु थे। इस मानवीय

प्रजाके ऊपर मनुका अधिकार था। इधर मनु स्वर्गाधिपति इन्द्रके शासनके नीचे थे। इन्द्रनें अपनी ओरसे प्रतिनिधि रूपमें अग्निदेवताको इस भारतवर्षके लिए नियुक्त कररक्खा था। यह अग्नि श्रुति ग्रन्थोमें 'शवसोनपात्' नामसे प्रसिद्धहैं। आज जिस देशमें प्रतिनिधिके लिए 'वायसराय' या लाड-साहब' शब्द प्रयुक्त किया जाताहै। उसी अर्थके लिए वेदमें शवसोनपात् शब्द प्रयुक्त हुआहै। यह शवसोनपात् अग्नि ही 'एष वै देवेभ्यो हव्यं भरति' इत्यादिके अनुसार मानवीय प्रजासे कर लेकर देवताओंक पास (स्वर्गमें) पहुंचाया करते थे। शकटों द्वारा सारा करद्रव्य यहांसे अग्निद्वारा वहां लेजाया जाता था। इस हवि वहन करनेंके कारण ही तत्कालीन देवमण्डलीमें यह अग्नि 'वन्हितम' नामसे प्रसिद्ध हुए।

प्राणदेवताओंके आधारपर मनुष्य देवताओंनें वैध यज्ञका आविष्कार किया। मनुष्य देवताओंसे यह यज्ञविद्या भारतवर्षमें आई। जैसा प्रकृति में होताहै, वैसा ही देवताओंका वैध यज्ञ था। 'देवाननु विधा वै मनुष्याः' के अनुसार ठीक उसीकी प्रतिकृति आज इस मनुष्य यजमानका वैधयज्ञ है। वहां शकट था, यहां शकट है। शकट उस हव्यवाहन अग्निकी प्रतिकृति है। इसलिए हम इस शकटको अग्नि कहसकते हैं। चर्म्म रज्जुसे वेष्टित होनेंके कारण यह सस्नितम है। हविसे भरा हुआ है, अतएव देवताओंका प्रियतम है। प्राण देवता इस शकटगत हविको लेनेंके लिए ही इस यज्ञमें आते हैं, अतएव हम इसे अवश्य ही देवहूतम (देवताओंको यज्ञमें बुलानेंवाला) कहसकते हैं। इस शकटगत अभिमानी देवतासे अध्वर्यु प्रार्थना करताहै कि हे अग्ने (प्राणाग्ने) आप अपनें प्रतिष्ठारूप (शरीररूप) इस हविर्द्धान शकटको दृढ़ रखिए। आपका यज्ञपति (यजमान) स्थानसे च्युत न होजाय। किसी मनुष्यसे यदि कोई वस्तु लेनाहो तो पहिले उसकी खूब प्रशंसा करो। बढ़ावादो। ऐसा करनेंसे वह

प्रसन्न होकर खुले मनसे वह वस्तु तुम्हे देदेगा। बलात्कारसे—लेनेमें उसे दुःख होताहै। बलात्कार भी न सही—तुम्हारे बहुत आग्रह करनेपर यदि वह वस्तु तुम्हें प्राप्त भी हो जायगी तब भी उसमें उस मनुष्यका संकुचित भाव प्रविष्ट रहेगा। ऐसी वस्तु कदापि शुभफलप्रद नहीं होगी। इस लिए 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्' इस सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखते हुए उसे प्रसन्न करके अतएव उदार मनोयुक्त बनाकर ही वस्तुलो। बस इसी भावके लिए 'शतमनसो हविर्गृह्णानि' इसी प्रयोजनके लिए 'देवनामसि' इत्यादि बोलता है। जिसे भाषामें 'बढ़ावादेना' कहते है वेद भाषामें वही 'उपस्तुति' नामसे प्रसिद्ध है। यदि हवि लेते समय शकटका कोई अवयव टूट जाताहै तो 'यावद्वित्तं तावदात्मा' के अनुसार इसका असर यज्ञपति (यजमान)पर होताहै। इसलिए आरोहणसे पहिले ही उस अन्तर्य्यामी अग्नि देवतासे प्रार्थना की जाती है कि आप तो अहृत हो। अतएव आप इस शरीररूप शकटको दृढ़ बनाते हुए यजमानको स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रखिए।

१२

इस प्रकार 'देवनामसि' बोलते हुए ईशाका स्पर्श करनेके अनन्तर 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु हविग्रहणके लिए शकटपर चढ़ता है। यज्ञको विष्णु कहते है। इस यज्ञरूप विष्णुके द्वाराही देवताओं के लिए अन्नाहरण होताहै। विष्णु देवता ही शकटपर चढ़के अन्न लाकर देवताओंमें उसे आहुत करते हैं। यह अध्वर्यु अपने यज्ञका विष्णुहै। अतएव अपनेको उसी शब्दसे सम्बोधितकरता हुआ—विष्णु (विष्णुरूप अध्वर्यु) आपपर आक्रमण करे। यह कहकर शकटपर चढ़ता है। विष्णु यज्ञ कैसे हैं? वह किस शकटपर आक्रमण करते हैं? कौनसा अन्न लाते हैं? इत्यादि विषयोंका वैज्ञानिक विवेचन आगे आनेवाले वेदि ब्राह्मणमें(१।२।३)यद्यपि

विस्तारसे होनेवालाहै, तथापि प्रसंगात् यहां भी उसका संक्षिप्त निरूपण करना अनुचित न होगा—

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, इन पांच अक्षरोंसे संपूर्ण विश्वका निर्म्माण होताहै, जैसा कि पूर्वके २ अङ्कमे विस्तारसे बतलाया जाचुका है। छोटेसे छोटे, एवं बड़ेसे बडे, यच्चयावत पदार्थोंमें पांचो अक्षर प्रतिष्ठित हैं। इन पांचों अक्षरोंके साथ–प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद, यह पांचोंक्षर निस सम्बद्ध रहते है। इन पांचोंसे यह पांचों उस वस्तुके प्रभव प्रतिष्ठा परायण बने रहते हैं। पांचो अक्षरोंमें तीन अक्षरोंका एक स्वतन्त्र विभागहै। दो अक्षरका दूसरा स्वतन्त्र विभागहै। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, तीनकी समष्टि का नाम अन्तर्य्यामी है। अग्नि सोमका नाम सूत्रात्माहै। जैसे पञ्चकल अव्यय पुरुषका मध्यपतित श्वोवसीयस मन दोनों ओर जाता है, एवमेव पञ्चकल इस अक्षर पुरुषका मध्यपतित इन्द्र दोनों ओर जाताहै। अतएव हम इन्द्र, अग्नि, सोमकी समष्टिको ही सूत्रात्मा कहेंगे। ब्रह्माके साथ प्राण क्षरका सम्बन्ध है। विष्णुके साथ 'आप' क्षरका सम्बन्ध है। इन्द्रके साथ 'वाक्' क्षरका सम्बन्ध है। तीनों क्षरोंसे युक्त तीनों अक्षर ही अन्तर्य्यामी हैं। इन तीनोंके भिन्न भिन्न स्वभाव है। प्राणमय ब्रह्मा प्रतिष्ठा तत्वहै। आपोमय विष्णु आगतिधर्म्मा है। वाङ्मय इन्द्र विक्षेपण धर्म्मा है। प्रतिष्ठा रूप ब्रह्मतत्वपर प्रतिष्ठित आगति, विक्षेपण धर्म्मा इन्द्र विष्णु प्रतिष्ठित हैं। तीनोंकी समष्टि ही 'हृदय' है। जैसाकि पूर्वके अङ्कोंमें विस्तारके साथ बतलाया जाचुका है। प्रत्येक वस्तुका हृदय, इसी हृ (विष्णु), द (इन्द्र), य (ब्रह्मा), से सम्बन्ध रखताहै। हृदयके आधार वह वस्तु पिण्ड स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है।

प्रजापतिश्चरतिगर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' (यजुः ३१।१९)

यह मन्त्र इसी केन्द्र विद्याका निरूपण करता है। हृदयरूप प्रजापति प्रत्येक वस्तुके गर्भमें (केन्द्रमें) प्रतिष्ठित रहताहै । वह अन्तर रूप होनेसे नित्यहै। अतएव अजायमान है। परन्तु विश्वासकरो उसके आधारपर रहने वाले पिण्डगतसारे पदार्थ उसीसे उत्पन्न हुएहैं। वह स्वयं अनुत्पन्न होकर (क्षरद्वारा) सबको उत्पन्न करताहै। कारण ही कार्यकी प्रतिष्ठा होती है। वर्तुल (गोल)वस्तुमें त्रिकोणमितिद्वारा केन्द्रका पता लगाया जासकता है। परन्तु षट्-कोण चतुष्कोण पदार्थोंके केन्द्रका पता लगाना साधारण मनुष्योंका काम नहीं है। जो विद्वान् हैं, वैज्ञानिक हैं, वही उसकी योनि (केन्द्र) को पहिचान सकते हैं। इस प्रकार केन्द्रज्ञानकी दुर्विज्ञेयता बतलाकर उसके पहिचाननेका सरल उपाय बतलाती हुई आगे जाकर श्रुति कहती हैकि विश्वास करो इसी केन्द्रके आधार पर सारे पदार्थ प्रतिष्ठित है । वस्तुके नीचे सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूचिकाके अग्र भागका सम्बन्ध करदो। जहां वह वस्तु उस अग्रभागपर प्रतिष्ठित होजाय समझो वही उसका केन्द्र स्थानहै। केन्द्र भागके पास जाकर वह सूच्यग्र भाग सारी वस्तुको अपने ऊपर प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ होजायगा। यही इसको पहिचाननेका सरल उपाय है। केन्द्रविद्याको जानने वाला विद्वान् गुरुतर वस्तुको भी केन्द्रद्वारा सहजमें ही उठा सकता है। अस्तु कहना यही हैकि केन्द्र शक्तिका ही नाम अन्तर्य्यामी है। उसमें स्थिति, आगति, गति तीन तत्त्व है । शक्तित्रय समष्टि ही हृदयहै। अब चलिए पिण्डकी ओर। अग्नि अक्षर अन्नाद क्षरसे युक्त रहता है। सोमाक्षर अन्न क्षरसे युक्त रहता है। क्षरावच्छिन्न इन्द्रगर्भित अग्नीसोम ही वस्तु पिण्ड का प्रभव प्रतिष्ठा परायण है। इसीका नाम सूत्रात्मा है । आप जो कुछ आंखोंसे देखते हैं, सब अग्नीसोम प्रपञ्च है । इसी आधारपर 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह कहाजाता है। इस विश्वके केन्द्रमें समष्टि व्यष्टिरूपसे वही अन्तर्य्यामी प्रतिष्ठित है। उदाहरणके लिए भूपिण्डकी ओर ही आपका

ध्यान आकर्षित किया जाताहै । भूपिण्डमें भी पांचों हैं । पांचों क्या है ? पांचोंकी समष्टिका नामही भूपिण्डहै । यद्यपि इसमें हैं पांचों परन्तु पञ्चीकृत अग्निमय होनेके कारण 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' के अनुसार भूपिण्डको अग्नि ही माना जाता है । भूपिण्डके ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि सोम, पांचों अक्षर एवं प्राण, आप, वाक, अन्नाद, अन्न, पांचों क्षर अग्नि प्रधान ही हैं । अग्निही ब्रह्माहै । अग्निही विष्णुहै । अग्निही इन्द्रहै । अग्निही सोमहै । इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर 'अग्निः सर्वादेवता' यह कहाजाताहै । भूमण्डलमें ब्रह्म प्रतिष्ठापर प्रतिष्ठित इन्द्र विष्णुके द्वारा निरन्तर आदान विसर्गात्मक यज्ञ हुआ करताहै । इन्द्रद्वारा पार्थिव पदार्थ निरन्तर उच्छिन्न हुआ करते हैं । इसीको प्रजापतिका विस्रंसन कहाजाताहै । विस्रस्त प्रजापति (क्षीणकाय प्रजापति) आदान धर्म्मा विष्णुकी कृपासे निरन्तर उसे पुनः संहित किया करते हैं । यही यज्ञ 'अपच्छयज्ञ' नामसे प्रसिद्ध है । विष्णु और इन्द्रकी इस परस्परकी स्पर्द्धाके कारण—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र संयुक्त प्राण, आप, वाक इन तीनोंक्षरोंका क्षरण होताहै । तीनोंक्षर बाहर निकलकर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते हैं । ब्रह्माक्षरमय प्राणका बहिर्मण्डल 'वेद' कहलाताहै । विष्णुमय आपका बहिर्मण्डल लोक कहलाताहै । एवं इन्द्रमय वाक् का बहिर्मण्डल 'वषट्कार' कहलाताहै । तीनोंमण्डल प्राणरूप होनेसे अधामच्छद हैं । अतएव तीनों एक ही स्थानपर प्रतिष्ठित रहनेमें समर्थ होजाते हैं । भूपिण्डको केन्द्र बनाकर इसके चारों ओर तीनों सर्वत्र एकरूपसे व्याप्त हैं । अतएव 'पूर्णं वै सहस्रम्' इस निगम श्रुतिके अनुसार वेद, लोक, वषट्कार (वाक्) तीनों 'सहस्र' कहलाते हैं । वेद साहस्रीका प्राणमय ब्रह्मासे सम्बन्ध है, लोक साहस्रीका आपोमय विष्णुसे सम्बन्धहै, एवं वाक् साहस्रीका वाङ्मय इन्द्रसे सम्बन्ध है । यही कारण है कि इन्द्रके लिए जब आहुति दीजाती है—'इन्द्राय वौषट्' इस वषट्कारसे ही दीजाती है ॥

मण्डल व्याप्तिकी समाप्ति यहीं होती है । यह सारी लीला इन्द्र विष्णुकी स्पर्द्धासे ही होती है । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

उभाजिग्यथुर्नपराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः ।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथा त्रेधासहस्रं वितदैरयेथाम्—

"किंतत् सहस्रमिति—इमे लोकाः इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्"—
[देखो श० अङ्क ३ पृ० ८६]

इस निरूपणसे पाठकोंको यह भली भांति विदित होगया होगाकि लोकसाहस्रीका वितान आपोमय विष्णुसेही होताहै । आपोमय विष्णु अशनायायुक्त है । बुभुक्षाको ही अशनायाका कहते हैं । एतद्रूप बनकर ही विष्णु बाहर निकलते है । भूपिण्डमें हमने चित्य चितेनिधेय भेदसे दो प्रकारका अग्नि बतलाया है । चित्याग्नि पिण्डरूप है । चितेनिधेयाग्नि प्राणरूप है । यह चितेनिधेय प्राणाग्नि विष्णुसे युक्त है । विष्णु अग्निरूपमें परिणत होकर बाहर निकलते है । न केवल विष्णु ही अपितु पूर्व कथनानुसार पृथिवीसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी अक्षर अग्निमय बनकर निकलते हैं । उदाहरणार्थ शरीरको ही लीजिए । बुभुक्षित मनुष्य अन्नखानेकी इच्छा करता है । इसी इच्छाका नाम अशनाया है । यह इच्छा आदान शक्त्यवच्छिन्न विष्णुमयी है । इसका स्वरूप अग्नि ही है । शरीराग्नि ही इस अवस्थामें क्षुब्ध होताहै । कहना यही है कि—विष्णु अग्निमय बनकर ही ऊपर जाते है । पृथिवी पृष्ठसे सूर्य्यतक आहुतिद्रव्यरूप सोम भरा हुआहै । 'स्वमातथन्तोर्वन्तारिक्षम्' के अनुसार अन्तरिक्षरूप हविर्द्धान शकटमें प्रतिष्ठित सोमरूप हविको लाकर पार्थिव देवताओंमें आहुत करना ही विष्णुका एकमात्र कामहै । अग्निरूप विष्णु ऊपर जाताहै । स्तोम भेदसे इसके तीन विक्रम होते हैं । त्रिवृत्स्तोम इसका पहिला विक्रम है । पञ्चदशस्तोम दूसरा

विक्रम है। २१. विंशस्तोम तीसरा विक्रम है। जिस वाक् साहस्रीका पूर्वमें आभास कराया गयाहै, उसके अनुसार पार्थिव प्राणके ३३ विभाग होजाते हैं। 'त्रयस्त्रिंशत्तन्तवो ये वितत्निरे' इस के अनुसार यह ३३ विभाग तन्तु कहलाते हैं। इन्हींको स्तौम्य देवता कहते है। इन ३३में २१ तक अग्नि रहता है। ऊपर सोम रहताहै। २१ तक रहनेवाला अग्नि–घन, तरल, विरल, भेदसे ६, १५, २१ इन तीन स्तोमोंमें विभक्त होजाता है। एक ही अग्नि की तीन अवस्था होजाती है। त्रिवृत्स्तोम पृथिवी लोक है। इसमें अग्नि नामसे प्रसिद्ध घन अग्निकी सत्ताहै। पञ्चदशस्तोम अन्तरिक्ष लोकहै। इस में वायु नामसे प्रसिद्ध तरल अग्निकी सत्ता है। एकविंशस्तोम द्युलोक है। इसमें आदित्य नामसे प्रसिद्ध विरल अग्निकी सत्ता है। ऊपरका चौथा सोमलोक है। इसीके लिए 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः'–यह कहाजाता है। यह चारों लोक पार्थिव लोक है। पृथिवीका ही अमृत प्राण साहस्री रूपमें परिणत होकर चार लोक बनगया है। भूपिण्ड वेदि है। ६, १५, २१ वाली अमृत प्राणमयी पृथिवी महावेदि है। महावेदि रूपा पृथिवी त्रैलोक्यरूपाहै। वेदि पिण्ड रूपाहै। महावेदिके तीनो लोकोंमें विष्णु प्राण व्याप्त है। यह महावेदि गर्भरूपाहै। इसमें भी सोमहै। २१ के ऊपर तो सोम लोक है ही। अपने पहिले विक्रमसे विष्णुप्राण त्रिवृत सोमरूप पृथिवी लोक को अपने अधिकारमें करताहै। दूसरेसे पञ्चदशस्तोम रूप अन्तरिक्षमें व्याप्त होताहै। एवं तीसरेसे एकविंशरूप द्युलोकमें व्याप्त होताहै। आपोमय विष्णु आप भागसे लोक निर्माण करता हुआ आगे बढ़ताहै। लोक सृष्टि केवल आपोमुख परही निर्भरहै। (देखो अङ्क१.०।१.१) वेद साहस्री, वाक् साहस्री दोनोंकी प्रतिष्ठा लोकसाहस्री है। यदि आपोमय लोक न होतो वेद, वाक् किसपर प्रतिष्ठित रहें। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर–'यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं विन्दैरयेथाम्'–कहाहै। अब भागपर स्पर्द्धा होनेसे तीन साहस्रिएं होतीं

हैं। यही कारण हैकि यद्यपि तीनोंके क्रमशः अ० दि० इन्द्र अधिष्ठाता हैं। तथापि मूलभूत होनेसे विष्णुको ही तीनो साहस्रियोंका अधिष्ठाता मानलियाजाता है, जैसाकि ऐतरेय श्रुति कहती है– स इमाँल्लोकान् वि च क्रमे, अथो वेदान्, अथो वाचम्, (ऐत० ६।१५) इति। इस प्रकार ईश्वर शरीर के मात्रामात्र भाग रूप पृथिवीमें प्रतिष्ठित अतएव 'वामन' नामसे प्रसिद्ध भगवान् विष्णु अपने तीन विक्रमोंसे त्रैलोक्यको अपने अधिकारमें करलेते है। तीनोमें हमने अग्नि, वायु, आदित्य तीन देवताओंकी सत्ता बतलाई है। तीनों ही पार्थिव देवताहैं। तीनोंके ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, अधि देवताहैं। आठों वसुओंमें पहिला वसु अग्निहै। यह उपक्रममें है। १२ वां आदित्य विष्णुहै। विष्णु अन्तमें आदित्य रूपमें विक्रमित होताहै। एकओर में अग्निहै। यह देवताओंके पृष्ठ पोषक है। अन्तमें विष्णु हैं। यह द्वारपाल है। वहांपर विष्णुको सदा पहरा देनापड़ताहै। सारे देवता दोनोके मध्यमें हैं। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' (ऐ. १।१)

'अन्तो विष्णुर्देवतानाम्' (ताण्ड्य० २१।४।२६)

'एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च' (ऐ० १।१)

'विष्णुर्वै देवानां द्वारपः' (ऐ० १।३०) इत्यादि कहाजाताहै।

आज महावेदिरूप पृथिवीके पृथिवीलोकमें (९ स्तोममें) वसुदेवताओंने अपना विक्रमण कररक्खाहै। अन्तरिक्षमें रुद्रदेवता व्याप्त होरहेहैं। द्युलोकमें आदित्योंका राज्य होरहाहै। इसप्रकार त्रैलोक्यमें प्राणदेवताओंकी विक्रान्ति देखीजातीहै। यह सब उसी विष्णुकी विक्रान्तिका फलहै। विष्णु सोम लाकर आहुति देतेहैं। इससे यज्ञस्वरूप सिद्धि होतीहै। यज्ञद्वारा

अग्निमय प्राणदेवता २१ तक जानेमें समर्थ होते हैं। जैसे घृताहुतिसे अग्नि-ज्वाला बड़ीदूरतक व्याप्त होजातीहै। इसीप्रकार सोमाहुति से प्रज्वलित प्राणदेवता पृथिवी पिण्डमें से निकलकर २१ तक जाते हुए त्रैलोक्यको अपने अधिकारमें करलेते हैं। यह सब अग्नीसोमात्मक यज्ञकी कृपा है। यज्ञ विष्णुकी कृपाहै। अशनायारूप विष्णुही सोम हूति डालकर यज्ञ करते हैं। यदि आदानशक्तिके अधिष्ठाता विष्णु नहोतेतो सोमाहुति असंभवथी। विना सोमके यज्ञ निष्पत्ति असंभवथी। सोमका अग्निमें आहुत होनाही यज्ञहै। सोमकी आहुति आपोमय अतएव 'सोमवंशी' नामसे पुराणोंमें प्रसिद्ध विष्णु द्वाराही होतीहै। अतएव सोम और विष्णुका अभेद मानलिया जाताहै। जैसाकि श्रुति कहतीहै—

'यो वै विष्णुः सोमः सः' (शत० ३।३।४।२१) इति।

बस इसी आधरपर यज्ञ स्वरूप सम्पादक विष्णुको हम अवश्य ही 'यज्ञ' कहनेके लिए तय्यार हैं। इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'यज्ञो वै विष्णुः। स देवेभ्य इमां विक्रान्ति विचक्रमे० इत्यादि कहाहै

आज यह अध्वर्यु यजमानका दिव्य आत्मा बनाने चलाहै। उसमें ३३ देवताओंकी विक्रान्ति अपेक्षितहै। विक्रान्तिके लिए विष्णुका विक्रमण अपेक्षित है। एतदर्थ 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' बोलता हुआ शकटपर चढ़ताहै। शकट त्रैलोक्यकी प्रतिकृति है। अध्वर्यु विष्णु स्थानीयहै। यजमानके लिए आज यह अध्वर्युरूप विष्णु उसी विक्रान्तिका विक्रमण करताहै। इसी अभिप्रायमें याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एतामु एवैष एतस्मै विक्रान्ति विक्रमते'। इति

इस प्रकार 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' यह मन्त्र बोलताहुआ अध्वर्यु हविर्ग्रहणके लिए शकटपर चढ़जाताहै। चढ़नेके अनन्तर 'उरु वाताय' यह मन्त्र बोलताहुआ अध्वर्यु शकटस्थ हविपर दृष्टि डालताहै। शकट भूमाभावापन्नहै यह पूर्वमें बतलाया जाचुकाहै। शालास्थित अन्नकी अपेक्षा यह हवि भूमाभावापन्नहै—इसमें कोई सदेह नहीं परन्तु शकटरूप सीमाभावसे बद्ध होनेके कारण यह परिच्छिन्न होताहुआ अल्पतासे भी शून्य नहीं है। शकटमें रक्खाहुआ अन्न परिच्छिन्न होजाताहै। परिच्छेद एक प्रकारका बंधनहै। बंधन ही वरुणपाश कहलाताहै। 'वरुण्या रज्जु०' के अनुसार जहांभी कहीं किसीभी प्रकारका बंधनहै सब वरुण पाशहै। वरुण पाश के देवताहै। आप्यप्राणकाही नाम असुरहै जैसाकि पूर्वके अपांप्रणयन कर्ममें विस्तारके साथ बतलाया जाचुकाहै। वरुण आसुर प्राणमय पानीके अभिमानी देवता होतेहुए असुरोंके देवताहै। इसलिए शकटस्थ सीमाभावापन्न हविको हम आसुर भावसे आक्रान्त माननेके लिए तय्यारहैं। अपिच खेतमें रक्खाहुआ जो अन्न खुली हवामें रहताहुआ वायुगत इन्द्रके कारण वारुणभाव शून्यथा वही शकटमें आकर शकट और आधारभूत वस्त्र (वस्त्र लगाकर ही अनाज शकटमें भराजाताहै) से युक्तहो वायु संपत्तिसे अलग होताहुआ 'यद्वै किञ्चिद् वातो नाभिवाति तत् सर्वं वरुणदेवत्यम्' इस निगम श्रुतिके अनुसार अवश्यही आसुरभावयुक्त होजाताहै। ऐसा हवि आसुरप्राण विरोधि यज्ञिय देवताओंका स्वरूप बिगाड़नेमें समर्थहै। अतः हविग्रहणसे पहिले उसे दूर करना आवश्यकहै। उसका एकमात्र उपायहै मन्त्र बल। क्योंकि ग्रहण करनाहै शकटसे। ग्रहणसे पहिले उसे खुले मैदानमें रक्खा नहीं जासकता। बिना वायु सम्बन्धके उसका आसुरभाव हटनहीं सकता। ऐसी परिस्थितिमें मन्त्रवलही इसे वायु संपत्तिसे युक्त करसकताहै। ऋषिकी दृष्टिमें हवि चेतना युक्तहै। यदि मनुष्यको किसी बंद कमरेमें बंद करादिया जाताहै तो उसी

पर्व हैं। जान्वास्थिसे पादमूलान्त चौथा पर्व है। पद पांचवां पर्व है। शिर स्वयं पंचपर्वा है। वे पांचों पर्व—पार्श्व कपाल, जत्रुकास्थि, शङ्खास्थि, गण्डास्थि, अधो हन्वस्थि, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। दूसरा पर्व भी पंचपर्वा है। वे पांचों ग्रीवाकशेरुक, पर्शुक, कटीकशेरुक, श्रोणिफलक, त्रिकास्थि नामसे प्रसिद्ध हैं। ३-४-५ वां पर्व तीनों प्रकारान्तसे एक पर्व है। इसमें उर्वस्थि, जान्वास्थि, अनुजान्वास्थि, जंघास्थि, पादमूलशलाका, यह पांच पर्व हैं। अब केवल बाहुको लीजिए। वह भी अक्षकास्थि, अंसफलक, प्रगण्डास्थि, बहिः प्रकोष्ठास्थि, अन्तः प्रकोष्ठास्थि, हस्त, भेदसे पंच पर्वा है। केवल हाथको लीजिए। उसमें पांच अंगुलिएं हैं। प्रत्येक अंगुलीमें कूर्चास्थि नामसे प्रसिद्ध पांच पांच मृगशलाकाएं हैं यही व्यवस्था पैरोंकी अंगुलियोंमें हैं। ज्ञानेन्द्रिएं पांच हैं। कर्मेन्द्रिएं पांच हैं। लोम, त्वक्, मांस, अस्थि, मज्जा, (शत० ६।१।२।१७) भेदसे सम्पूर्ण शरीरमें पांच ही चितिपर्व हैं। इस प्रकार सारा प्रपञ्च इन पञ्चोंकी पंचायती व्यवस्थासे आक्रान्त है। पुरुषद्वारा स्त्रीकी योनिमें सिक्त (आहुत) द्रव द्रप्स (स्थूल बिन्दु—टपका नामसे भाषामें प्रसिद्ध ड्राप्स नामसे पाश्चात्य जगतमें प्रसिद्ध) कैसे इन नानाभावोंमें परिणत होताहै? अपने आपको विज्ञानका परमगुरू माननें वाले पाश्चात्य वैज्ञानिकों के पास क्या इस प्रश्नका कोई समाधान है?

उत्पन्न शिशुके केश पहिले भूरे होते हैं। अनन्तर काले होजाते हैं। अनन्तर श्वेत होजाते हैं। अनन्तर पीत होकर उड़ जाते हैं। उत्पन्न शिशु अदन्तक होताहै। फिर दांत आते हैं। फिर टूटकर नए आजाते हैं। वृद्धावस्थामें टूटकर फिर नहीं आते। बिना अस्थिवाला शुक्र आहुत होताहै और उससे हाडवाला पैदा होताहै। औषधि वनस्पत्यादिकी अपेक्षा कहीं अधिक उपादान शक्ति रखनेवाले मनुष्यादि चेतन प्राणियोंके हस्त पादादि काट लिए जाते हैं तो वे पुनः नहीं उत्पन्न होते। परन्तु इनकी अपेक्षा

सर्वथा कम उपादान शक्ति रखनेवाले अर्द्धचेतन वृक्षादिको काटदिया जाताहै तो वे पुनः अंकुरित होजाते है। क्या आजके विज्ञानके लिए यह असमाधेया प्रश्नावली नही हैं। क्या इन सबका 'प्रकृति ऐसाही करती है- यह सब नेचरलहै' यह उत्तर होसकता है। नहीं कदापि नहीं। यदि आपको इनका वास्तविक उत्तर जानना है तो वैदिक विज्ञानकी शरणमें आइए। बड़े गर्वके साथ 'ब्रह्मविद्यया हवै सर्व भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः' यह कहनेवाले विदितवेदितव्य विचारकक्षापारगामी महर्षि आपको इनका ठीकठीक उत्तरदेगें। प्रकृतमें इन सब प्रश्नोमेंसे यहां केवल पाङ्क्त यज्ञमात्रका ही संक्षिप्त समाधान करनेकी चेष्टाकी जाती है। जब संसारमें कुछ न था तो क्या था? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं। 'असदेवेदमग्र आसीत'। असत नामका प्राणतत्व ही सबसे पहिले था। वही प्राण जगतका मूल प्रभव होता हुआ आगे जाकर ऋषि नामसे प्रसिद्ध हुआ। यही ऋषिप्राण आगे जाकर चितिक्रमसे सप्तपुरुषात्मक पुरुषरूपमें परिणत होता हुआ 'प्रजापति' नामधारण करता है। इस प्रजापतिसे सर्व प्रथम प्रतिष्ठारूप वेद उत्पन्न होता है। वेदत्रयीके यजुर्वेदके जूरूप वाग् भागसे सर्व प्रथम पानी उत्पन्न होता है। वेदब्रह्म प्रतिष्ठापर प्रतिष्ठित वह सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति इसी त्रयी विधाके साथ इस आपो मण्डलमें घुस पड़ता है। इसी अभिप्रायसे—

> आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरो मयम्।
> अन्तरैते त्रयोवेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः"।

---

१ इस पाङ्क्त सृष्टिका विशदनिरूपण ईशोपनिषत् के सृष्टिप्रकरणमें विस्तारसे किया जाचुकाहै। संभवतः शीघ्रही यह उपनिषद्भाष्य पाठकों के सामने आवेगा। यहा इस सृष्टिका पूरा विवेचन नहीं किया जासकता। केवल दोचार पङ्क्तियोंमें आभासमात्र करायागयाहै।

यह कहाजाता है देखो शत० ४ अङ्क १०६ पृ०)

वही अण्डगर्भित त्रयीवेद आगे जाकर घनावस्थामें परिणत होता हुआ 'गायत्री मात्रिक' नाम धारण करता हुआ सूर्य रूपसे प्रगट होता है। बस हमारे रोदसी ब्रह्माण्डमें होनेवाले पाङ्क्त यज्ञके प्रभव प्रतिष्ठा परायण रूप "सैषा त्रयी विद्या तपति" (शत० १० कां)के अनुसार त्रयीवन त्रिगुणात्मक आपोमय परमेष्ठीके बीचमें बुद् बुद् रूपसे प्रतिष्ठित अतएव 'आपोनारा इति प्रोक्ता' इत्यादिके अनुसार 'नारायण' नामसे प्रसिद्ध भगवान् सहस्रदीधिति ही (सूर्य्य) हैं। अपने उदरमें सूर्यनारायणको रखनेवाला आपोमय परमेष्ठी मण्डल तीसरा द्युलोक है। तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' के अनुसार यह लोक सोममय है। सूर्य्य स्वयं अग्निमय है। सोम इसका अन्न है। बिना सोमाहुतिके यह अग्नि कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। अत एव अग्निको 'अन्नाद' (अन्न खानेवाला) कहाजाता है। वह पारमेष्ठ्य सोम इस सौर अग्निमें निरन्त आहुत होता रहता है। परमेष्ठी प्रजापति कहलाता हैं। (देखो शत० ११ काण्ड)। इस प्रजा काम प्रजापतिसे सबसे पहिले अग्नी सोमात्मक यही सौर यज्ञ उत्पन्न होता है। सूर्य्य यज्ञरूप है। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (श० ६।१।१) के अनुसार वेद तत्त्व ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है। यज्ञात्मक सूर्य्य, दूसरे शब्दोंमें सूर्य्यरूप यज्ञ, इसी पूर्वोक्त गायत्री मात्रिक वेदपर प्रतिष्ठित हैं। इसी अभिप्रायसे 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः'–(शत० १कां०१ प्र० १ अ० ४ब्रा० ३ कं०) यह कहाजाताहै। त्रयीमय अग्नीषोमात्मक यह सौर यज्ञ आगे जाकर ऋताग्निके कारण ऋतुरूपमें परिणत होता हुआ 'संवत्सर यज्ञ' नामसे प्रसिद्ध होताहै। ऋताग्निमें सोमकी आहुति होनेसे अग्नीषोमात्मक जो अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, वही 'ऋतु' कहलाता है। सोम

१. इस विषयका विशद विवेचन आगेके ब्राह्मणमें कियाजायगा।

एक धरातलहै । उसमें अग्निके उद्ग्राभ (चढ़ाव) निग्राभ (उतार) के तारतम्यसे पंच विभाग होजाते हैं । वेही पांचों विभाग वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत, हेमन्त नामसे प्रसिद्ध है । 'हेमन्त शिशिरयोः समासेन' के अनुसार शिशिरका हेमन्तमें अन्तर्भाव होजाता है । वसन्त ग्रीष्म एक विभाग है । शरद् हेमन्त एक विभाग है । वर्षा एक विभागहै । वसन्त ग्रीष्म दोनों ग्रीष्म ऋतु है । शरद्धेमन्त शीतर्तु है । वर्षा वर्षा ऋतुहै । उष्णकाल (लोक भाषामें—उन्हालू नामसे प्रसिद्ध), शीतकाल (लोक भाषामें श्याळू नामसे प्रसिद्ध), वर्षाकाल (बरसात) तीनकाल आज-दिन अति सुप्रसिद्ध है । तीनोंसे तीनही फसिल होतीहै । यह तीन चौमासे हैं । ४–४ मासका एक एक विभागहै । पहिला चोमासा अग्निप्रधानहै । तीसरा चोमासा सोमप्रधानहै । दोनों क्रमशः गर्मी सर्दी है । मध्यके चौमासेमें दोनोंका समन्वयहै । 'उष्मा (उमस) भी है, सर्दीभी है । अतएव वर्षाको सर्वऋतु मानलिया जाताहै । इतर दोनों चोमासोंका इस मध्यके चौमासेमें अन्तर्भावहै । यही कारण हैकि विज्ञान प्रधान भारतवर्ष उनदोनोंको चौमासा न कहकर वर्षाकालकोही चौमासा कहताहै । क्योंकि दोनों चौमासे इसके स्वरूपमें प्रविष्टहैं । अतएव इस शब्दका प्रधान अधिकारी वर्षाकालही है । इस व्यवहारका मूल निम्नलिखित श्रुतिवचनही है—

'सर्वे वर्षास्वादधीत' । वर्षा वै सर्वऋतवः । स यो वर्षमंकुर्म इति संवत्सरान् पश्यति । वर्षाहत्वेवं सर्वेषामृतूनां रूपम् । उतहि तद्वर्षासु भवति यदाहुः—'ग्रीष्मऽइववाऽद्य' इति । उतोतद्वर्षासु भवति यदाहुः—'शिशिर इव वा मद्य' इति । वर्षादिद्वर्षाः । अथैतदेवपरोक्षंरूपं । यदेव पुरस्ताद्वाति तद्वसन्तस्य रूपम् । यत् स्तनयति तद्ग्रीष्मस्य । यद्वर्षति तद्वर्षाणाम् । यद्विद्योतते तच्छरदः । यद्वृष्ट्वा उद्गृह्णाति तद्धेमन्तस्य । वर्षाः सर्वऋतवः । ऋतून् माविशत'—(श० २ कां० २ अ० १ ब्रा० ७–८ कं० इति ।

वरुण देवकी कृपासे ऐन्द्र वायुकी सत्ता हटजाती है। अतएव उसका दम घुटने लगताहै। वायुही श्वासप्रश्वास रूपमें परिणित होकर जीवन सत्ता रखता-ताहै। यह प्राणरूप वायु आज रुकगयाहै। शकटान्न दमघुट वनरहाहै। बस इसमें वायुरूप प्राण डालनेके लिएही 'उरु वाताय' बोला जाताहै। शरीरस्थ इन्द्रियोंमें चक्षुरिन्द्रिय सबसे अधिक उल्वणहै। प्राणघन आदित्यही अध्यात्ममें आकर चक्षु कहलाने लगताहै। प्राणात्मक आदित्य इन्द्ररूपहै। इन्द्र साक्षात् विद्युत्‌है। अतएव इसका विषयके साथ बहुत शीघ्र सम्बन्ध होताहै। अपने प्राणको दूसरेमें डालनेका प्रधान साधन विद्युत्‌रूप चक्षुही है। अतएव 'मेस्मेरेजम' नामकी क्रियामें दृष्टिको ही प्रधानता दीजातीहै। मन्त्रबल पहिला बलहै। चक्षुबल दूसरा बलहै। मन्त्रविद्युत्‌को चक्षुविद्युत्‌के साथ यदि मिलादिया जाताहै तो वह प्रबल होजातीहै। ऐसी विद्युत् कभी व्यर्थ नहीं जाती। इसी बलके आधारपर ऋषिलोग दृष्टिद्वारा कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थ होतेथे। आज अध्वर्यु मन्त्रविद्युत्‌युक्ता इसी चक्षुविद्युत्‌से हविमें प्राणडालकर उसे दिव्यभावसे युक्तकरताहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'अथ प्रेक्षते—तद् [illegible] चैवैतत् प्राणाय वाताय चक्षुर्गाय करोति' यह कहाहै।

१४

प्रेक्षणानन्तर 'अपहतं रक्षः' बोलताहुआ अध्वर्यु हविस्थानपर जोकुछ हविर्द्रव्यसे अतिरिक्त (विजातीय कंकर, तृणआदि) रहताहै, उसे उठाकर फेंकदेताहै। यदि कुछ इतर वस्तु नहीं होतीहै तो केवल स्पर्श-मात्रही कर-लेताहै। पूर्वमन्त्रसे आग्नेय प्राणको नष्टकियाथा, इसमन्त्रसे उस मरेहुएको बाहर फेंकताहै। भावनाद्वारा ही साराकाम होजाताहै, जैसाकि पूर्वके अंकमें

विस्तारकेसाथ बतलाया जाचुका है। देवता असुर किसी नियत व्यक्तिका नाम नहीं है, अपितु इनका तत्तद् भावोंसे ही सम्बन्ध है। विरोधी भावका नाम असुर है, अनुकूल भावका नाम देवता है। जो वस्तु हमारे अनुकूल होतीहुई हमारे कार्यको सुसंपन्न करतीहै, वह हमारे लिए देवता है। परन्तु जो विजातीय होनेसे हमारे प्रतिकूल होतीहुई हमारे कार्यका नाश करदेती है, कार्य्यधाराको रोकदेती है—वही नाष्ट्रा (नाशक) राक्षस (अवरोधक) है। हवि हमारे यज्ञस्वरूप को सुसंपन्न बनातीहै. अतएव यह हमारेलिए दिव्यभावहै। परन्तु तृणआदि विजातीय पदार्थ हविस्वरूपको नष्ट करतेहुए यज्ञ स्वरूपको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, अतः हविसे अतिरिक्त और कुछ पड़ाहुआ विजातीय भाव हमारेलिए नाष्ट्रा राक्षसहैं। अतः मन्त्रबलसे स्पर्शकर उन्हें निर्जीव बनाकर हविसे बाहर फैंकदेना नितान्त आवश्यकहै। मानलीजिए हविमें विजातीय द्रव्य नहीं है। क्या फिरभी मन्त्रबोलने की आवश्यकता है ? अवश्य। विजातीय तृण आदिसे भी कहीं भयङ्कर नाष्ट्राराक्षस तो आन्तरिक्ष्य वारुणवायुमें व्याप्त रहतेहैं। सर्वत्र अन्तरिक्षमें अमूर्त उभयतः (द्यावापृथिवीसे) परिच्छिन्न इन दिव्यभाव नाशक प्राणोंका राज्यहै। जहां ऐन्द्रवायु नहीं होता वहां यह अपना व्यापार कियाकरते हैं। दिनमें ऐन्द्रप्राणकी सत्ता रहती है, अतएव दिनमें इनको अपना प्रभाव जमानेका अवसर नहीं मिलता। परन्तु रात्रिमें इनका पूर्ण साम्राज्यहै। उसमेंभी ऐन्द्रप्राणके सर्वथा तिरोहित होजानेसे अर्द्धरात्रितो इनकी निश्चित आवसभूमिहै। कहना यही है कि अन्तरिक्षमें व्याप्त यह नाष्ट्राराक्षस सर्वत्र व्याप्त होतेहुए दिव्यभावापन्न इस शकटस्थ हविमें भी प्रविष्ट होरहेहैं। ऐसी अवस्थामें यदि इनको न हटाया जायगा तो यह दिव्ययज्ञ आसुरभावापन्न होता हुआ स्वस्वरूपसे च्युत होजायगा। अतएव मन्त्रबलसे इन्हें निकालना आवश्यकहै। मन्त्र वाक्है। साधारणवाक् नहीं बलवती वाक्है। वाक् इन्द्रहै। इन्द्र जहां प्रबलहै

यहां असुरोंका नाशहै । साथहीमें तपःपूत आहिताग्नि अध्वर्यु साक्षात् देवमूर्त्ति है, अग्निमय है, विद्युत्‌रूपहै । गर्भाधानादि संस्कारोंसे युक्त ब्राह्मणमें एक प्रकारका नया वैध अग्नि उत्पन्न होजाताहै । वह अग्नि आसुरभावको जलाडालताहै । अतएव इस अग्निको 'सांतपन' अग्नि कहा जाताहै । इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित श्रुति वचन हमारे सामने आते हैं—

१ "एष हवै सांतपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मणः । यस्य—गर्भाधानपुंसवन सीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनगोदानचूडाकरणोपनयनाप्लवनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सांतपनः ।" गोपथ ब्रा० पू० २।२३ इति ।

२ "ब्राह्मणो हैव सर्वा देवताः" तै० ब्रा० १।५।४ इति ॥

३ "एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद् ब्राह्मणः", तै० ब्रा० ३।७।३।२ इति ॥

मन्त्र भी ब्रह्महै । एवं 'ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यद् ब्राह्मणः' (शत० १३। २।५।२) के अनुसार ब्राह्मणभी ब्रह्महै । 'विद्युद्ध्येव ब्रह्म' (शत० १४ ८।७।१) के अनुसार ब्रह्म साक्षात् विद्युतहै । 'यदेतद्‌विद्युतो व्यद्युतदा' (केनोपनिषत्) के अनुसार विद्युत साक्षात् इन्द्रहै । इन्द्र असुरोंका नाश करने वाले हैं । बस आज यह अध्वर्यु मन्त्र बोलकर हविका स्पर्श करता हुआ अपनी आध्यात्मिक विद्युतसे, एवं मन्त्ररूप आधि भौतिक विद्युतसे हविगत राक्षसोंका आमूलचूड़ विनाशकर डालता है । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'यदुनाभ्येत्र—पूर्णेत्र । तमाङ्घ्रा०" इत्यादि कहा है ॥

अनन्तर हविर्ग्रहणके लिए 'पञ्चन्तां पञ्च' (पांच तुम्हारा ग्रहणकरें—तुम पांचसे पकड़ेजाओ) यह मन्त्र बोलता हुआ अपनी पांचों अंगुलियें हविमें डाल

ताहै। अंगुली भी पांच हैं। उधर यज्ञ भी पाङ्क्त (पंचावयव) है । ऐसी अवस्थामें पांचसे ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु यज्ञ स्वरूपको ही हविमें प्रतिष्ठित करता है। श्रुतिका अक्षर अक्षर गहन विज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। अक्षर साधारण प्रतीत होते हैं। परन्तु विज्ञान इतना गहनहै, जिसे समझ लेना अति दुस्तरकार्य है। यज्ञसे सारा विश्व बनाहै। एवं आज भी जो कुछ बनताहै, यज्ञसे ही बनाहै। संसारका प्रत्येक पदार्थ यज्ञरूपहै, यह पाङ्क्त होना है अतएव इस विश्वके लिए 'पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्' कहा जाताहै । आत्मासे सारा विश्वबनाहै। आत्मा षोडशकल है। अतएव 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' यह कहाजाताहै। ब्रह्मसे सारा विश्वबनाहै। ब्रह्मचतुष्पात् है। अतएव चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' कहाजाताहै। अग्नि सोमसे सारा विश्वबनाहै। अतएव अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह कहाजाताहै । सत्यानृतसे सारा विश्वबनाहै। अतएव 'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च' कहाजाता है । प्रजापतिसे सारा विश्वबनाहै। अतएव 'प्रजापतिरत्वेवेदं सर्वं यदिदं किंच' यह कहाजाताहै। पानीसे सारा विश्वबनाहै। अतएव सर्वमापोमयं जगत्' कहा जाताहै। देवताओंसे सारा विश्वबनाहै। अतएव 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो देवताभ्यः' कहाजाताहै । इस प्रकार श्रुति ग्रन्थोंमें सृष्टिके अनेक मूल बतलाए गए हैं। सब परस्पर सर्वथा भिन्न हैं । भिन्न भिन्न प्रभवोंकी अपेक्षा से सबकी कलाएं भिन्न भिन्न है। सभी प्रभव सच्चे हैं। श्रौत व्यहार मात्र सत्यहैं। परन्तु यह सत्यता केवल ब्रह्म विज्ञानपर निर्भर है। विज्ञान न समझनेसे श्रौत व्यवहारोंमें परस्परमें विरोध प्रतीत होताहै। वही विज्ञान ज्ञान से हट जाताहै। पूर्वोक्त व्यवहारोंमें से आज हम आपका ध्यान केवल यज्ञ प्रभवकी ओर आकर्षित करते हैं। विश्वको उत्पन्न करनेवाला यज्ञ सचमुच पांक्त है। संपूर्ण शरीर पंचपर्वा है। मस्तक पहिला पर्वहै। कण्ठसे मूलद्वार पर्य्यन्त दूसरा पर्व है। श्रोणिसे जान्वस्थि (गोड़ेकी कपाली) पर्य्यन्त तीसरा

प्रकृतिमें प्रधानरूपसे वसन्तादि पांच ऋतुएंही अपेक्षितहैं। पांचों ऋतुएं क्रमशः ७२—७२ दिनमें विभक्तहैं। ७२ दिनकी एक एक ऋतुहै। इस ७२ दिनमें भी १६, ४०, १६, यह तीन विभाग हैं। यही तीनों प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन, नामसे प्रसिद्धहैं। प्रातःसवन इस ऋतुका पूर्वाह्णकालहै। यही ग्रीष्महैं। माध्यन्दिनसवन मध्यान्हकाल है। यही वर्षाहै। सायंसवन अपराह्णकालहै। यही शीतर्तुहै। इसप्रकार सवन भेदसे पांचो ऋतुओं में तीनों कालोंकी सत्ता सिद्ध होजातीहै। पूर्वाह्णादिकाल घंटा, मिनट, पल, विपल, अनुपल, प्राण आदिका उपलक्षण है। दशा क्रमके अनुसार सब ऋतुओंमें सब ऋतुओंका समावेश रहताहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

"ऋतवो असृज्यन्त। तेसृष्टानानेवासन्। तेऽब्रुवन्—न वा इत्थं शक्ष्यामः प्रजनयितुम्। रूपैः समायामेति। त एकैकमृतुं रूपैः समायन्। तस्मादेकैकस्मिन् ऋतौ सर्वेषां ऋतूनां रूपम्'। (शत० ८।७।१।४) इति।

इससे यह भी सिद्ध होजाता है कि भिन्न भिन्न ऋतुओंमें उत्पन्न होनें वाले भिन्न भिन्न अन्नोंमें प्रत्येक अन्न पांचों ऋतुओंकी संपत्तिसे युक्त होता हुआ अवश्य ही पंचावय है। पंचावयभूतपूर्वोक्त ऋतुओंके सवनत्रयमें विभक्त ७२ दिनके प्रारम्भका १६ अहःकाल उसकी बाल्यावस्था है। ४० अहःकाल युवावस्था है। इसमें तत्तदृतुओंका पूर्ण विकास रहता है। यही लोकभाषामें 'चिल्ला' कहलाता है। चिल्ला 'चालीसा' का रूपान्तरमात्र है। उत्तरका १६ अहःकाल तत्तद् ऋतुओंकी वृद्धावस्था है। यज्ञ सम्बन्धमें प्रधानता इन्ही पांच ऋतुओंकी है। इसी आधारपर आज भी 'पू-थू पड़वा गाले तो दिन बहत्तर टाले' यह कहाजाता है। यदि ज्येष्ठकी पूर्णिमा और प्रतिपत्को पूर्ण वृष्टि न होजाती है तो शकुनशास्त्रके अनुसार पूरे चौमासेमें (७२ दिनतक) वृष्टिका अभाव होजा-

ताहै' पूर्व वाक्यका यही अर्थहै। सारे प्रपञ्चका निष्कर्ष यही हुआ कि अग्नीषोमात्मक सौरयज्ञ इन पांच ऋतुओंमें परिणत होकर संवत्सर कहलानें लगताहै। इसी संवत्सरात्मक पञ्चावयव सौरयज्ञसे सारी प्रजाका निर्म्माण होताहै। अतएव संवत्सरको प्रजापति कहाजाताहै। यह यज्ञरूपहै अतएव इस संवत्सर प्रजापतिको भी यज्ञ कहाजाता है। यह नित्ययज्ञ ऋतुभेदके कारण पाङ्क्त (पंचावयव) है। जैसाकि निम्न लिखित वचनोंसे स्पष्ट होजाताहै—

१–एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः (श० ४।३।४।३) इति।

२–संवत्सर संमितो वै यज्ञः। पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य। तं पञ्चभि राप्नोति। तस्मात् पञ्च जुहोति (श० ३।१।४।५) इति।

३–संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः (शत० २।२।२।४) इति।

'सौर संवत्सरयज्ञ पाङ्क्त है' यह पूर्वके सन्दर्भसे भलीभांति सिद्ध होजाताहै। इसीसे सारी प्रजाका निर्म्माण होताहै। 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' यह निश्चित सिद्धान्त है। अतएव पांक्तयज्ञसे उत्पन्न होने वाली प्रजामें पांक्तता निविष्ट रहती है। संवत्सर साक्षात् रूपसे प्रजोत्पत्तिका कारण नही बनता। अपितु वर्षा, अन्न, रेत क्रमसे कारण बनता है। रेतरूपमें परिणत संवत्सर ही प्रजाका कारण बनता है। इसी अभिप्रायसे 'संवत्सरे संवत्सरे वै रेतः सिक्तं प्रजायते (ऐ० ४।१.४) संवत्सरो वै प्रजननम् (गो० पू० २।१.५) संवत्सरं हि प्रजाः पशवोऽनु प्रजायन्ते (तां० ब्रा० १.०।१।८) इत्यादि कहाजाताहै। शुक्र संवत्सरकी प्रतिमाहै। इसमें पांच अवयवहैं। अतएव शरीरगत भूतचिति (स्थुलशरीर) देवचिति (सूक्ष्मशरीर), बीजचिति (कारणशरीर) तीनो पञ्चधा विभक्त होजाते है—

अब केवल प्रश्न यह बचजाताहै कि ऋतु पांचही क्योंहुई ? इसका उत्तरहै आत्मविद्या। आत्माको षोडशीपुरुष कहाजाताहै। इस षोडशीका पूर्वके प्रकरणोमें विस्तारसे निरूपण किया जाचुकाहै। अतएव अधिक न कहकरके केवल यही कहना पर्य्याप्त समझते है कि अव्ययआत्मा जगत्का मूलाधारहै। इसी अधिष्ठानपर आगेके अक्षरक्षरादि प्रतिष्ठित हैं। अव्ययात्मा आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण वाक् भेदसे पञ्चावयव है। यही पांचों 'कोश ब्रह्म' नामसे प्रसिद्धहै। इस अव्यय मनकी प्रतिष्ठारूप हृदयसे अक्षरतत्त्वका प्रादुर्भाव होताहै। चूंकि अव्ययात्मा पंचावयवहै। अतएव अक्षरभी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम भेदसे पंचावयव होजाताहै। 'ब्रह्माक्षर समुद्भवम्' के अनुसार ब्रह्मनामसे प्रसिद्ध क्षर अक्षरका मर्त्यभागहै। उसमेंभी इन्हीं नामोंसे प्रसिद्ध किन्तु मर्त्य पांच कलाएं है। बस पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकलात्मक्षर, निष्कल परात्परकी समष्टिही षोडषीपुरुषहै। यह विश्वके प्रत्येक पदार्थमें परमाणु परमाणुमें व्याप्त है। इसी विज्ञानके आधारपर 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' यह कहाजाता है। इस षोडशी प्रजापति के पचकल क्षरभागसे विकारक्षरका जन्म होताहै। चूंकि जन्मदाता आत्मक्षर पञ्चपर्वा है। अतएव विकारक्षरभी प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद भेदसे पञ्चपर्वा ही होता है। इन पांचोंके पञ्चीकरणसे उत्पन्न अतएव पञ्चजन नामसे प्रसिद्ध पाच पञ्चीकृतक्षर हैं। पञ्चीकृत पञ्चजनोंके सर्वहुत यज्ञसे पांच पुरंजन उत्पन्न होते हैं। यही पांचों वेद, लोक, प्रजा, वीर्य्य, पशु नाम से प्रसिद्धहै। यह विश्वका पहिला पाङ्क्तयज्ञहै। इसके पांचोंसे (जोकि पञ्चीकृत होनेसे प्रत्येक पांङ्क्त है), क्रमशः स्व० पर० सू० पृ० चन्द्र० का जन्म होताहै। पांचसे पांचही पैदा होते है। पांचों में पांच पांचही पर्व्वहै। स्वयम्भू आकाशहै। परमेष्ठी वायु (साम्बसदाशिव नामसे प्रसिद्ध शिववायु) है। सूर्य्य तेजहै। पृथिवी पृथिवीहै। 'अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' के अनु-

सार चन्द्रमा जलहै। पांचोभूत पञ्चीकृतहैं। इनका संवत्सर यज्ञमें विकास होताहै। अतएव ऋतुको पञ्चधा विभक्त होजाना पडताहै। यह पांचों क्षरहैं। यज्ञ प्रपञ्च क्षरहै। यज्ञमें पांच अवयव हैं। पांचोंकी समष्टिरूप जो एकत्वहै वही अक्षरहै। पांच होतेहुएभी पांचों एक यज्ञ कहलाता है। अतएव मानना पडताहै कि पञ्चावयव इस यज्ञके संधिस्थानीय ४ छिद्रोंको पूरा करनेवाला पांचोंक्षर कूटोंपर रहनेवाला एक तत्व है। वही छिद्रपूरक कूटस्थ अक्षर कहलाताहै। इसी अक्षर विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'अक्षरेणैव यज्ञस्य छिद्रमपिदधाति' (तां० ब्रा० ८।६।१३) यह कहाजाताहै। यह पाङ्क्त विकार-क्षर संघरूप संवत्सरयज्ञ प्रजापति उस षोडशी पुरुषसे अविनाभूतहै इसी अभिप्रायसे—

'सएष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः—(श० १४।४।३।२२) यह कहाजाताहै। विषय आवश्यकतासे अधिक लम्बा होगयाहै, एवं अभी यज्ञकी पाङ्क्ततामें बहुत कुछ वक्तव्य है, परन्तु विस्तार भयसे किसी आगेके प्रकरणके लिए इसे यहीं छोड़कर इस प्रकरणका उपसंहार कियाजाता है। पूर्वके निरूपणसे यह भली भांति सिद्ध होजाताहै कि यज्ञ पाङ्क्त है। हमारा शरीर उसीसे बनाहै। अतएव 'पुरुषो वै यज्ञः पुरुषसंमितो वै यज्ञः' यज्ञो वै पुरुषः' इत्यादि श्रौत व्यवहार प्रचलितहैं। हमारा हाथ भी एक यज्ञहै। इसका प्रत्यक्षप्रमाण पांच अंगुलिएंहैं। विना पाङ्क्तयज्ञके अंगुलिएं पांच होही नहीं सकती। पुरुष संमित यज्ञकी अंगुलिएं साक्षात् यज्ञकी प्रतिकृति हैं। और ओर अवयवोंकी अपेक्षा अंगुलियोंमें पञ्चावयवता सर्वथा स्फुट है। इसी अभिप्रायसे याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'तं वा अंगुलिभिर्मिमीते। पुरुषो वै यज्ञः।
तेनेदं सर्वं मितम्। तस्यैषावमा मात्रा यदङ्गुलयः' ॥

(शत० १०।१।६।२) इति

आज अध्वर्यु हविद्वारा पांक्तयज्ञ स्वरूप निष्पन्न करना चाहताहै। बस यह हवि प्रारम्भमें ही पांक्त संपत्तिसे युक्त होकर पांक्त होताहुआ यज्ञ बनजाय अतएव 'यच्छन्तां पञ्च' यह बोलते हुए पांचों अंगुलियोंका इसमें प्रवेश किया जाताहै। पांचसे यज्ञ प्रजापतिका स्वरूप पकड़में आजाता है। एवं प्रजापति सर्वरूप है। अतएव भारतियोंने निर्णय समितिमें पांचपञ्चोंको ही प्रधानता दी है। सर्वत्व संपादक इसी पांक्तविज्ञानके आधारपर 'अमुककी तो पांचों अंगुलिएं घीमें हैं"–यह कहाजाता है। स्वरूपसिद्धि प्राप्त होनेवाले मनुष्यके लिए ही पूर्ववाक्यका प्रयोग होताहै। बस–क्यों पांच अंगुलियों से हविग्रहण किया जाताहै? इसको यही संक्षिप्त उपपत्ति है। इसी उपपत्ति को लक्ष्यमें रखकर–

"पांक्तो वै यज्ञः। तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति"–यह कहाहै।

१६

इस प्रकार 'यच्छन्तां' मिसालभते (का० श्रौ० २।१.६) के अनुसार शकटस्थ हविमें पांचों अंगुलियोंका प्रवेश करनेके अनन्तर वह अध्वर्यु 'देवस्यत्वे' ति 'गृह्णाति आग्नेये चतुरो मुष्टीन्' (का० श्रौ० २।२०) के अनुसार 'देवस्यत्वा प्रसवे–(यजुः १।१०) इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ हविग्रहण करता है। हाथ डालकर चारबार हविलेकर उसे शूर्पस्थ अग्निहोत्र हवणीमें डालता है। इन चार मुष्टिग्रहणोंमें तीनमें तो देवस्यत्वा इत्यादि मन्त्र बोलाजाता है, एवं चौथी मुष्टि 'मुष्टी चोत्तमे' (का० श्रौ० १।७।११), 'चतुर्थी तूष्णीम्' (आप श्रौ० १।१७।१२) के अनुसार तूष्णीं ही डालता है। 'सवितादेवताके प्रसवमें अश्विनीकुमारोंके बाहुसे, पूषादेवताके हाथोंसे मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूं' मन्त्रका यही अक्षरार्थ है। इस मन्त्रमें प्राकृतिक नित्ययज्ञसे सम्ब

न्ध रखनेवाली नक्षत्रमूला अदितिका निरूपण है। अदिति शब्द वेदोंमें अनेक स्थानोंपर प्रयुक्त हुआहै। साधारण दृष्टिसे देखनेपर इन प्रयुक्त अदिति शब्दोंमे परस्पर विरोध प्रतीत होताहै। कहीं सारे त्रैलोक्यको अदिति बतलाया जाताहै। कहीं केवल पृथिवीको ही अदिति कहाजाताहै। कहीं पृथिवी को अदिति बतलाया जाताहै। कहीं त्रैलोक्यकी जड चेतनात्मक (स्थावर जंगम) प्रजाको अदिति बतलाया जाताहै। कहीं संसारके पदार्थोंको खाने वाले तत्व विशेषको अदिति कहाजाता है। कहीं गौको अदिति बतलाया जाताहै। कहीं वाक्को अदिति बतलाया जाताहै। इस प्रकार भिन्न भिन्न अर्थोंमें अदिति शब्द प्रयुक्त देखाजाता है। जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट होजाताहै—

१—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्। (ऋक्)

२—'मागामनागामदितिं वधिष्ट' (ऋक्० ८।१०१।१५)।

३—'वाग्वा अदितिः' (श० ६।५।२।२०)।

४—'इयं वै पृथिव्यदितिः' (श० ५ ३।१।४)।

५—'सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्' (श० १०।६।५।५) इत्यादि।

निम्न लिखित अदिति विज्ञानसे पूर्व वचनोंका सारा विरोध हटजाता है। खण्डनार्थक 'दो' धातुसे दिति शब्द निष्पन्न होताहै। कटाहुआ भाव विशेष ही 'दिति' है। दितिका अभाव ही अदिति है। अविच्छिन्न तत्व ही अदिति है। पृथिवी, सूर्य, नक्षत्र, भेदसे अदिति कुल तीन प्रकारकी है। इन तीनों अदितियोंमें इतर सारी अदितियोंका अन्तर्भाव होजाताहै। इन तीनोंमेंसे सर्व प्रथम सूर्यमूला अदितिकी ओर ही आपका ध्यान आकृ-

दित किया जाता है। एक ओर भूपिण्ड है। दूसरी ओर सूर्य्य पिण्ड है। सूर्य्यपिण्डस्थान द्युलोक कहलाता है, भूपिण्डस्थान भूलोक कहलाताहै। भूपिण्ड 'अयं' लोक है। सूर्य पिण्ड 'असौ' लोकहै। श्रुतियें जहां कहीं 'अयं लोक' आवे सर्वत्र भूलोकका ग्रहण समजना चाहिए। एवं जहां 'असौलोकः' आवे वहां द्युलोकका ग्रहण करना चाहिए। यह सामान्य परिभाषा है। यह भूलोकस्थ भूपिण्ड द्युलोकस्थ सूर्य्य पिण्डके चारों ओर क्रान्तिवृत्त नामसे प्रसिद्ध नियतमार्गपर परिक्रमा लगाया करता है। सूर्य्य और पृथिवी दोनोंमें ही भूत प्राण दोनोंकी सत्ताहै। पृथिवीभूत पृथिवी कहलाताहै। यह भूतमर्त्य भागहै। हम इसी मर्त्य भागको देख रहेहैं। पार्थिव प्राण अग्नि है। अग्नि इस भूतमयी पृथिवीके गर्भमें प्रविष्ट है। उधर सूर्य्य का भूतभाग 'तेज' नामसे प्रसिद्ध है, एवं प्राण भाग इन्द्र नामसे प्रसिद्धहै। तेजोमय सूर्य पिण्ड इन्द्रगर्भित है। इसी अभिप्रायसे—

'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' (श. १४।७।५।२०)यह कहाजाताहै

प्राण ही देवता है। भूत इसका आधार है। भूतपर प्रतिष्ठित प्राणदेवता चारों ओर व्याप्त रहते हैं। पृथिवीका प्राणाग्नि पृथिवी केन्द्रसे निकल कर गोलमण्डल बनाता हुआ पिण्डसे बड़ी दूरतक व्याप्त रहता है। एवमेव प्राणेन्द्र सूर्य केन्द्रसे निकलकर उसी प्रकार बड़ी दूरतक व्याप्त रहता है। पृथिवीमें प्राणाग्नि गौणहै, भूत भाग प्रधानहै। दूसरे शब्दोंमें देवता अनुल्वण है, भूत भाग उल्वण है। सूर्यमें प्राणेन्द्र प्रधानहै। भूतभाग गौणहै। देवता भाग सूर्य्यमें ही उल्वणहै। अतः 'चित्रं देवानामुदगात्' इत्यादि यजुर्मन्त्र सूर्यको देवघन बतलाते हैं। वस्तुतः है दोनोंमें दोनों। साथ ही में यह भी समझलेना चाहिए कि पृथिवीमें भी इन्द्रका अभाव नहीं है। सूर्यमें भी अग्निका अभाव नहीं है। दोनोंमें दोनों हैं। केवल प्रधानता अप्रधानतामें तारतम्य है। सूर्यमें इन्द्रप्राण प्रधान है, पृथिवीमें अग्निप्राण प्रधान है।

पार्थिवअग्नि गायत्र कहलाता है। गायत्राग्नि ही अष्टाक्षर बनता हुआ आठ-वसु कहलाताहै। सौरमण्डलसे आया हुआ ऐन्द्रप्राण पार्थिव वसु। जिसे युक्त हो तन्मय बनजाता है। अतएव पार्थिव इन्द्र 'वसव' कहलाताहै। एवमेव सौर अग्नि सवितासे युक्त हो 'सवित्राग्नि' कहलाने लगताहै। एवं बृहत् नाम से प्रसिद्ध महासामसे युक्त 'मह' भावापन्न सौर इन्द्र मघवा कहलाता है। पार्थिव इन्द्राग्नि पृथिवीसे निकलकर निरन्तर सूर्यमें जाया करता है, सौर इन्द्राग्नि सूर्यसे निकलकर पृथिवीमें आया करता है । इस आगति गतिसे दोनों प्राणोंका परस्पर यजन (मैत्र) होता रहताहै। विश्वरूप संपादक त्रैलोक्यमें व्याप्त प्रकृति सिद्ध यही नित्य ऐन्द्राग्न यज्ञ है। इन्द्रसे सबका आत्मा बनता है। अग्निसे सबका भूत बनता है। सौर अग्नि ऐन्द्रप्राण प्रधान होने से इन्द्र है। अतएव उसमें रहनेवाली प्रजा 'दिव्य प्रजा' (देवता) कहलाती है। पार्थिव आग्नेयप्राण अग्नि प्रधान है। अग्निको ही 'मनु' कहते है। अतएव तत् प्रधान पार्थिवीप्रजा 'मानव' नामसे प्रसिद्ध है । दोनों ही प्रजा ऐन्द्राग्न यज्ञपर प्रतिष्ठितहै। पृथिवीमें रहनेवाला आग्नेय प्राण सूर्य पिण्डके ऊपर तक (२२ वे अहर्गण तक) व्याप्त रहताहै। 'असौ वा आदित्य एष रथः' (श० ८।३।४।१५) के अनुसार सूर्य्य हिरण्मय रथहै। पार्थिव प्राण का अवसान इसके बाहरजाके होताहै। अतएव इसकी यह अवसान विन्दु 'रथन्तरसाम' नामसे व्यवहृत होती है। अवसान ही सामहै। वस्तुकी सीमा ही उस वस्तुका सामहै। साम एक हजारहै । उनमे सबसे अन्तका साम 'उद्दच' साम कहलाता है। यही निधनसाम नामसे भी प्रसिद्ध है। सूर्य्य जो मूर्ति है। स्वज्योतिहै। अतएव भूत प्रधान पृथिवीकी अपेक्षा इसका तेजोमय ऐन्द्रप्राण पृथिवीसे कहीं दूरतक व्याप्त रहता है। सारा त्रैलोक्य

१—इस विषयका विशदविवेचन आगे आनेवाले ब्राह्मणमें किया जायगा।

इस सौरमण्डलमें समाया हुआ है। सूर्यका २१ वां अहर्गण पृथिवीसे अनन्त दूर है। उससे ऊपरतक सौरप्राण जाता है। क्योंकि सौरप्राण सीमाके भीतर सब कुछ समाया हुआ है। त्रैलोक्यगत यच्च यावत् पदार्थोंके साम इस सामके उदरमें हैं। अतएव सौर सामको बृहत्साम कहाजाता है। इस बृहत् सामके कारण बृहत् नामसे प्रसिद्ध यह सूर्य—'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'—के अनुसार स्वयम्भू, परमेष्ठी, चन्द्र, पृथिवीरूप महा भुवनोंके केन्द्रमें बृहती छंदपर प्रतिष्ठित होकर तप रहा है। वेदि ही वेदकी प्रतिष्ठा है। वेद ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है। यज्ञही प्रजापतिकी प्रतिष्ठा है। प्रजापति ही प्रजाका प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण है। त्रयीधन सूर्यपिण्ड वेदि है। यह वेदि भूत प्राण भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। सूर्यपिण्ड भूतवेदि है। सौरप्राणमण्डल प्राणवेदि है। प्राणवेदि भूतवेदिकी अपेक्षा कहीं बड़ी है, अतएव इसे महावेदि कहाजाता है। सूर्यपिण्डरूप वेदिसे बाहर इसका स्वरूप प्रतिष्ठित है, अतएव इस महावेदिको बहिर्वेदि भी कहाजाता है। सूर्य पिण्डरूपा वेदि महावेदिके भीतर केन्द्रमें प्रतिष्ठित है। अतएव इसे अन्तर्वेदि कहाजाता है। यही परिमिता वेदि है। वह अपरिमिता वेदि है। दोनों वेदियें एक सौर संस्था है। यही संस्था पृथिवीमें है। भूपृष्ठसे रथन्तरसाम तक व्याप्त पार्थिव आग्नेय प्राणमण्डल महावेदि है। भूपिण्ड अन्तर्वेदि है। दोनोंकी समष्टि एक पार्थिव मण्डल है। इसी वेदि विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

"तस्याः (पृथिव्याः) एतत् परिमितं रूपं यदन्तर्वेदी। अथैष भूमाऽपरिमितो यो बहिर्वेदिः"—(ए० ८।५) इति।

१—ईशोपनिषत् के—भाषाभाष्यमें "अनेजदेकं मनसो जवीयः"—इत्यादि मन्त्रके वेद निरूपणमें वेद, वेदि, यज्ञ, प्रजापति भेदसे चतुर्द्धा विभक्त चतुष्पाद् ब्रह्मका विशद निरूपण देखना चाहिए।

मध्यस्थ सूर्यका तेजोमय प्राण सर्वत्र जाता हुआ हमारे भूपिण्डपर भी आता है। बस इसी प्राणकी महिमासे अदिति, दितिका स्वरूप संपन्न होता है। सूर्यमण्डलसे अविच्छिन्न रूपसे आता हुआ प्राण भूमण्डलका स्पर्श करता हुआ—इतर भागसे बाहर निकल जाताहै। जो प्राण भूपिण्डपर रह-जाताहै. वह तो प्रतिफलित होकर वापस सूर्यकी ओर ही चलाजाताहै, एवं पृथिवीके दोनों पार्श्वोंको छूता हुआ शेष भाग आगे निकलजाताहै। पृथिवी अवरोधक बनजाती है। अतएव पृथिव्यवच्छिन्न सौर प्राण आगे नहीं जानेपाता। अपितु इससे टकराकर वापस सूर्य्यलोककी ओरही चलाजाताहै। पृथिवीका पृष्ठ भाग इस सौरप्राणसे वञ्चित रहजाताहै। यहां आके उसकी अविच्छिन्न धारा टूट जाती है। बस पृथिवीके पृष्ठसे सूर्य्यतकका जो अवि-च्छिन्न—अखण्डित प्राणमण्डलहै वही अदिति है। सूर्य्यदिक्के विरोधमें रहनेवाला अतएव तमोमय भाग दितिहै। यहां आते हुए सौरप्रकाशका त्याग होजाताहै। अतएव इस तमोमय अतएव आसुर भाव प्रधान इस भागको "राहू" कहाजाताहै। 'सिंही भूत्वा चचार' के अनुसार पृथिवी सिंही है। इसीकी कृपासे इस तमोमय राहूका जन्म हुआ है। यही इसकी जन्मदात्री है। अतएव इस पार्थिव—राहूको 'सैंहिकेय' कहाजाताहै। जैसे पृथिवीमें राहू का जन्म होताहै. उसी प्रकार चन्द्रमामें भी राहूका जन्म होताहै। चन्द्रमाका जो भाग सूर्य्यकी ओर है वह पितृस्वर्ग कहलाताहै। चान्द्रराहूके इस स्वर्भाग की ओर भानु (सूर्य्य) रहता है. अतएव चान्द्रराहूको स्वर्भानु कहाजाताहै। सैंहिकेयराहुसे चन्द्रग्रहण होताहै। अतएव इसे 'विधुन्तुद' कहाजाताहै। एवं स्वर्भानुसे सूर्य्यग्रहण होताहै। अतएव इसके लिए 'स्वर्भानुर्ह वा आदित्यं तमसाऽविध्यत' (शां० का० ४।५।२) यह कहाजाताहै। पृथिवीकी छायासे चन्द्रग्रहण होताहै। चन्द्रमाकी छायासे सूर्यग्रहण होताहै यह सभी को विदित

१—इस विषयका विशदविवेचन हमारे लिखेहुए 'ग्रहणविज्ञान कुरुक्षेत्र' वाराणसी स्नान माहात्म्य' नामके निबन्धमें देखना चाहिए।

है। इस प्रपञ्चसे प्रकृतमें यही बतलाना है कि ऊपरसे आकर पृथिवीसे टकराता हुआ अतएव पार्थिव संपत्तिसे युक्त होता हुआ सूर्यतक व्याप्त जो पार्थिव प्राणसंश्लिष्ट सौर-प्राणमण्डल है वही अविच्छिन्न धाराके कारण 'अदिति' कहलाता है। सूर्य पिता है। पृथिवी माता है। अदिति का स्वरूप माता पृथिवी के सम्बन्धसे निष्पन्न होता है अतएव पार्थिव भागको ही अदिति मान लिया जाता है। परन्तु कौनसा पार्थिव भाग। वही पूर्वोक्त महावेदि रूपा बहिर्वेदि ! पृथिवी पृष्ठसे निकलकर २२ तक जानेवाला पार्थिव आग्नेयप्राण ही सौर प्राणसे संश्लिष्ट होकर अदिति कहलाने लगता है। पृष्ठसे २२ वें अहर्गणतक व्याप्त रहनेवाला यह पार्थिव अग्नि त्रिवृत, पञ्चदश, एकविंश, स्तोम भेदसे त्रेधा विभक्त है। इन तीनोंमें क्रमशः इस एक ही पार्थिव अग्निके अवस्था विशेष अग्नि, वायु आदित्य प्रतिष्ठित हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य इन तीनों शवसोनपातोंके अधिदेवता है। ये सारे देवता ही 'विश्वेदेव' कहलाते हैं। यह सब उस महापृथिवी रूप अदितिमें ही गर्भधारण करते हैं, वहीं प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी अभिप्रायसे—

> *अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ।*
> *आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप ॥* यह कहा जाता है।

त्रि० पञ्च० एकविंश तीनों पृथिवीके भाग हैं। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—"तिस्रो वाऽइमाः पृथिव्य इयमेवेकाद्वेअस्याः परे" (शत० ५।१।५ २१) यह कहा जाता है। अतएव इस सूर्य मूला अदितिके लिए अवश्य ही 'इयं वै पृथिव्यदिति' कह सकते हैं। भूपिण्ड (माता) त्रिवृत् रूप महिमा पृथिवी, पञ्चदश रूप अन्तरिक्ष, एकविंशरूप द्युलोक २१ पर रहनेवाला स्वयं पिता सूर्य, सारे देवता सब कुछ इसीमें प्रतिष्ठित हैं। महिमारूप अदितिमें जैसे विश्वेदेवा उत्पन्न होते हैं तथैव उसी अग्निरूप अदितिसे इस भूमण्डल पर 'पञ्चजन' उत्पन्न होते हैं। विश्वसृट् नामसे

प्रसिद्ध प्राण, आप, वाक, अन्नाद, अन्न, इन पांच तत्त्वोंके पञ्चीकरणमें पांच 'पंचजन' उत्पन्न होते हैं। आगजाकर इन पंचजनोंका सर्वहुत यज्ञ होता है। इस सर्वहुत-यज्ञरूप पांच पंचजनोंसे अग्नि आदि भूत उत्पन्न होते हैं। अग्नि चूंकि पांच पञ्चजनोंसे उत्पन्न होताहै। अतएव "पञ्चभिर्जनैरुत्पन्नः" इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस पार्थिव अग्निको 'पांचजन्य' (देखो यजुः १८।६७॥ शत० ९।५।१।५३)। कहाजाता है। इसी पांचजन्य अग्निमें धातु उपधातु, रस उपरसादि धातुजीव, औषधि वनस्पत्यादि मूलजीव, कृमि, कीट, पशु आदि चेतन जीव उत्पन्न होते हैं।

धातु—औषधि आदिका पहिला स्थावर विभागहै। कृमि दूसरा विभाग है। कीट तीसरा विभाग है। पक्षि चौथा विभाग है। एवं पशु (पुरुष-अश्व गो—अवि—अज) पांचवां विभाग है। पाञ्चजन्य अग्निमें यही पांच पंचजन उत्पन्न होते हैं। पांक्त अग्निसे उत्पन्न होनेवाले इस पांचों में लोम, त्वक्, मांस अस्थि, मज्जा, यह पांच पांच चितिएँ हैं। जैसाकि यज्ञकी पांक्तताका निरूपण करते हुए विस्तारसे बतलाया जाचुकाहै। यह पंचजन प्रजा भी उसी अदितिसे उत्पन्न हुई है। इसी सूर्यमूला अदितिका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

१

१—विश्वसृट्, पंचजन, पुरञ्जन, पुर आदिका विशद निरूपण ईशभाष्यके सृष्टि प्रकरणमें देखना चाहिए।

पृथिवी मूला अदितिः २।

दूसरी है पृथिवी मूला अदिति। भूमण्डलके दृश्य और अदृश्य दो विभाग है। दृश्यभागका नाम ही अदिति है। अदृश्य भाग ही अदिति है। इस अवस्थामें रात्रिमें भी अदिति-सत्ता सिद्ध होजाती है। सूर्य-मूला अदिति का अहःसे ही सम्बन्ध था। किन्तु इसका रात्रिमें भी सम्बन्धहै। क्योंकि रात्रिमें भी दृश्यभागका सम्बन्ध वैसा ही रहता है जैसाकि दिनमें। सूर्य मूला अदिति १२ हों आदित्योंके साथ सूर्यसे युक्त रहती है। परन्तु यह दृश्य कपालरूपा पृथिवी पिण्डात्मिका अदिति अपने आठ पुत्रोंके साथ ही सूर्यसे युक्त होनेमें समर्थ होती है। कारण इसका यही है कि पृथिवी घूमती हुई आगे चलती है। सूर्य द्वादश-आदित्य माणापन्न है। यह १२ हों आदित्य अदिति के पुत्र हैं। पूर्वक्षितिजपर जिस समय सूर्य आता है, वहांसे पश्चिम क्षितिज पर्यन्त ७ आदित्य प्राण रहते हैं। 'पश्यन्ति सप्तमं सर्वे' के अनुसार सामनेका पश्चिम–क्षितिजवाला आदित्य सातवां पड़ताहै। आठवां स्वयं सूर्य है। सौरकाल इन आठसेही युक्तहै। अतः दिनमें पृथिवी इन सा सेही सूर्य-केसाथ युक्तहोनेमें समर्थहोतीहै।

इसी पृथिवी मूला अदितिके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।

देवाँ उपप्रैत सप्तभिः परा मार्त्ताण्डमास्यत्॥ (ऋक० ८।३।९)

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत पूर्व्यं युगम।

प्रजायै मृत्यवे त्वत पुनर्मार्त्ताण्डमाभरत्॥ (ऋ. ८।३।२) इति।

पृथिवीका सारा गोला अदितिहै। दिनभी अदितिहै। रात्रीभी अदितिहै। साथहीमें साराभूपिण्ड दितिभीहै। दिनमें आधा दृश्यभाग अदितिहै, अदृश्यभाग दितिहै। रात्रिमें दिनका दृश्यभाग दितिहै। अदृश्यभाग रात्रिमें

हृश्य बनताहुआ अदितिहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'इयं वै पृथिवी अदितिः'-'इयं ह्येव दितिः'-यह कहा जाताहै।

२

नक्षत्रमूला अदितिः ३

तीसरी है नक्षत्रमूला अदिति। प्रकृतम यही तीसरी अदिति अभिप्रेतहै। जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। पृथिवी-परिभ्रमण-वृत्त जैसे क्रान्ति-वृत्त नामसे प्रसिद्धहै, एवमेव चन्द्रपरिभ्रमणवृत्त 'दक्षवृत्त' नामसे प्रसिद्धहै। दक्षवृत्त चन्द्रमाके सम्बन्धसे सोममयहै। सौम्यप्राण ही योषाहै। योषा ही स्त्री है। यह स्त्रीरूप दक्षसोम उस दक्षरेखा पर प्रतिष्ठितहै। दक्षवृत्तही इस सोमका प्रभवहै। अतएव इस सोमको दक्षकी कन्या मानलिया जाताहै। सोम योषा होनेसे स्त्री है, अतएव इसे दक्षकी कन्याही मानना उचितहै। सूर्य, चन्द्र, अरिष्टनेमि, धर्म्म, अङ्गिरा, कृशाश्व, भार्गव, आदि भिन्नभिन्न वृषाप्राणमय देवता इस योषाप्राणमय दक्षसोमका भोगकरतेहैं। सोमात्राच्छिन्न एकही दक्ष कक्षाके भिन्नभिन्न देवताओंके भोगके कारण ६० विभाग होजातेहैं। चन्द्रमा २७ नक्षत्रोंके सम्बन्धोंसे दक्षवृत्तके २७ विभागकर उनका भोगकरनेमें समर्थ होताहै। अतएव चन्द्रमाके सम्बन्धसे वह कन्या सोम २७ विभागोंमें विभक्त होजाताहै। यही २७ चन्द्रमाकी स्त्रियें हैं। वृद्धश्रवा इन्द्र (इन्द्रोपलक्षित चित्रानक्षत्र), विश्ववेदा पूषा (रेवती), तार्क्ष्य नामसे प्रसिद्ध अरिष्टनेमि (तार्क्ष्योपलक्षित श्रवणनक्षत्र), बृहस्पति, (लुब्धकबंधु नक्षत्र) इन चार स्वस्तिकोंके सम्बन्धसे इस दक्षवृत्तके चार विभाग होजाते हैं।

१-जिस समय इस विज्ञानका आविष्कार हुआ था उस समय रोहिणीनक्षत्रपर वसन्त-सम्पात था। अतएव रोहिणीनक्षत्र २७ नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ मानाजाता था। यही कारणहै कि पुराणमें जहां चन्द्रमाकी २७ पत्नियोंका निरूपण कियाहै वहां रोहिणीको चन्द्रमाकी प्रधान राज्ञी (पट्टरानी) बतलायाहै।

चारों अरिष्टनेमि हैं। कृशाश्वके सम्बन्धसे सम्पूर्ण दक्षवृत्तके दो विभाग होते है। अङ्गिराके सम्बन्धसे दो विभाग होतेहैं। धर्म्मके सम्बन्धसे १० विभाग होते हैं। भार्गवके सम्बन्धसे २ विभाग होते हैं। एवं मलिम्लुच (अधिकमास) के सम्बन्धसे सौर संवत्सरके १३ विभाग होते है। इसी लिए सूर्य सम्बन्धसे दक्षवृत्तके १३ विभाग होजाते हैं। सूर्य कश्यप रूपमें परिणत होकर ही सारी प्रजाका निर्म्माण करता है। सूर्यसे निकलकर त्रैलोक्यमें व्याप्त होनेवाला सौरप्राण ही 'कश्यप' कहलाताहै। सूर्यरश्मियें 'मरीचि' नामसे प्रसिद्ध है। इन मरीचियोंमें प्राणदपानव क्रियासे परस्परमें घर्षण होता है। मरीचिएँ अग्निमय है। 'अग्नेरापः' इस सिद्धान्तके अनुसार अग्निघर्षणसे पानी उत्पन्न होजाताहै। वही पानी आगे जाकर रुद्रवायुके सम्बन्धसे घन भावको प्राप्त होजाता है। जैसे अतितापसे, और ऊपरके वायु प्रवेशसे दुग्धके परमाणु घन होजाते है। दूसरे शब्दोंमें दुग्धका द्रव भाग (पानी), वायु दोनों प्रतिमूर्च्छित होकर घन बनजाते हैं, एवमेव मरीचियों से उत्पन पानी और वायु दोनों प्रतिमूर्च्छित होकर घन बनजाते हैं। यही घन पानी 'अपांशर' नामसे प्रसिद्ध है। जो अवस्था दुग्धशर (दूधकी मलाई) की होती है वही अवस्था अपांशर (पानीकी मलाई) की है। यदि अग्नितापके वेगसे दुग्धके परमाणु और भी अधिक संहत होजाते हैं तो आगे जाकर वह मलाई 'खोआ' (मावा) रूपमें परिणत होकर पिण्डरूपमें परिणत होजातीहै। यही अवस्था यहां होती है। एमूष वराहकी कृपासे आपोमय समु-

१—संसारमें जितने भी पिण्ड बनते हैं, वायुके सम्बन्धसे बनते हैं। एक काला बच्छेदेन घनपरमाणुओंका संवरण कर उनपर व्याप्त होताहुआ अतएव, 'मातरिश्वा' नामसे प्रसिद्ध होताहुआ यह वायु 'वृणुते इति वरः। अह्नोतीति अहः' वरश्चासौ अहश्च' इति। इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वराह' नाम धारण करलेताहै। इस वराहावतारका विशद निरूपण ईश उपनिषत्के भाष्यभाष्यमें देखना चाहिए।

द्रूपमें परमाणु रूपमें इतस्ततः बिखरे हुए पार्थिव परमाणुओंका संहनन होता है। संघात होताहै। अतएव वह परमाणु आगेजाकर 'भूपिण्ड' रूपमें परिणत होजाते हैं। पृथिवीपिण्ड यद्यपि मरीचिपानीसे बना है। परन्तु घनता अग्निसे ही आई है। अग्निकी रूक्षताने ही पानीको पिण्ड रूपमें परिणत कियाहै। वह अग्निमय प्राण अधिक दबावसे पृथिवीकेन्द्रसे निकलकर बड़ी दूरतक चारों और व्याप्त होजाताहै। इस व्यापारसे उस एक ही पार्थिव अग्निकी घन, तरल, विरल, यह तीन अवस्थाएं होजाती हैं। घन अग्नि पहिला पृथिवी लोकहै। तरल अग्नि वायुहै। यही दूसरा अन्तरिक्ष लोकहै। विरल अग्नि आदित्यहै। यही तीसरा द्युलोकहै। इसप्रकार सृष्टि कामनासे वह सूर्य्य प्रजापति अपने मरीची भागसे पानी उत्पन्नकर त्रैलोक्य रूपमें परिणित होजाताहै। तीनोंलोक मरीचिपानीसे उत्पन्नहुएहैं। इसी त्रैलोक्य विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहतेहैं—

'स एष एव मृत्युः य एष तपति' (१० कां। तृ० प्र०। ब्रा० ६। कं० २३)। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत—आत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। तद्यदपांशर आसीत् तत् समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। तस्य श्रान्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत। आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणस्त्रेधा विहितः" (शत १०।४।८।१—२—३ कं०) इति।

मृत्युरूप सूर्य्य मरीचिसे उत्पन्न त्रैलोक्यकी आकृति ठीक कूर्म्म (कछुए) जैसी है। कूर्म्मका बुध्न (पैंदा) समधरातल भावसे युक्त है। ऊपरका भाग वर्त्तुलहै। किसी निरावरण प्रान्तमें खड़े होजाइए। वहां आपको इस कूर्म्म प्रजापतिके साक्षात् दर्शन होजायगे। उस प्रान्तमें खड़े होकर आप देखेंगे कि चारों ओरका क्षितिज आकाशसे मिलाहुआ है। पार्थिव क्षितिज खगो

लसे मिलरहा है । बस वह गोल पार्थिव क्षितिज कूर्म्मका बुध्न है । ऊपर का वर्त्तुल खगोल ऊपरि भाग है । दोनोंके मध्यमें अन्तरिक्ष है । यही इस कूर्म्मका उदर है । पृथिवीमे अग्नि भराहै । अन्तरिक्षमें वायु भराहै । द्युभाग मे आदित्य भराहै । पृथिवीरूप बुध्नमें घनरसहै, अन्तरिक्षरूप उदरमें तरलरस है । द्युलोकरूप ऊपरके भागमे विरल रसहै । विरलरस आदित्यमय होनेसे 'मधु' है । क्योंकि आदित्यही मधुरस का अधिष्ठाता है । मध्यका तरलरस घृत है । नीचे का घनरस दधि है । यह तीनों रस त्रैलोक्यके रसहै । 'अग्नि वै चतुर्थो देवलोक आपः' के अनुसार तीनोंके अतिरिक्त द्युलोकसे ऊपर एक चौथा आपोलोक और बचजाताहै । आपो ह्येतस्य (सोमस्य) लोकः (श०४।४ ५।२१) के अनुसार यही सोमलोक है । एवं 'अमृताह्यापः' (त० १।७।६।३) के अनुसार सोम अमृतहै । यह कूर्म्मसे बाहरकी वस्तुहै । परन्तु त्रैलोक्य सृष्टिका आधार यहीहै । इसी पारमेष्ठ्य सोमकी आहुतिसे प्रज्वलित होता हुआ सूर्य्य रश्मिमय बनताहै । वही रश्मिएं पूर्वकथनानुसार आगे जाकर पानी बनकर त्रैलोक्यकी उत्पत्ति एवं स्थितिका कारण बनती है । इसप्रकार सृष्टिके मूलाधार दधि, घृत, मधु, अमृत, यह चार रस होजाते हैं । 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम' इस अनुगम श्रुतिके अनुसार सारा त्रैलोक्य, एवं उसमे रहनेवाली सारी प्रजाएं इन्हीं चार रसोंमें अंतर्भूत हैं । दधि भागसे अस्थि मांस, त्वक् चर्म्म आदि घन भाग उत्पन्न होता है । घृत भागसे कफ श्लेष्मा रुधिर, आदि तरल भाग उत्पन्न होतेहैं । मधुसे शुक्र उत्पन्न होताहै । अतएव शुक्रको शर्करा कहाजाताहै । अमृतसे मन बनता है । यही जीवनस्थिति का कारण है । प्रजामात्र दधि मधु आदि चारों रसोंकी समष्टिहै । अतएव इसका जीवन इन्हींसे होताहै । अन्नमात्रमें तारतम्यसे चारो रसहैं । जमेहुए दुग्धका नाम ही दधिहै । जो गेहूं आदि अन्न उत्पत्ति कालमें दुग्धमय रहते हैं । वही सूखकर ठोस बनजाते है । बस जो गेहूं आदिमें जो 'दाना' भाग

है वह दधिंह। वह पृथ्वी लोककी वस्तुहै। जब आटेके साथ पानीका सम्बन्ध किया जाताहै तो आटेमें एक लुआव आजाता है। स्नेहतत्व उत्पन्न होजाताहै। यही घृतहै। यह अन्तरिक्षकी वस्तुहै। प्रत्येक अन्नमें मिठास होता है। यही मधुहै। यह द्युलोककी वस्तुहै। इन तीनोंके अतिरिक्त अन्नमें एक स्वाद (जायका) होताहै। भिन्न भिन्न अन्नमें भिन्न भिन्न जायकाहै। जायकेदार अन्न अधिक प्रिय होताहै। जायका ही अमृतहै। यह मधुसे सर्वथा पृथक् रसहै। यह अमृत इन्द्रकी खुराकहै। जहां सोम मिलता है, इन्द्र उसी क्षण उसे चाटजाते हैं। तत् काल बनेहुए भोजनमें जो अमृतहै, थोड़े समय बाद उसका वह अमृत निकलजाताहै। यही अमृत मनकी खुराकहै। अतएव विना जायकेकी वस्तु मनभाविनी नहीं बनती। यदि कलाकन्दमे अमृत नहीं रहताहै तो मधुर रस रहते हुए भी मन उधर नहीं झुकता। अस्तु इस अप्राकृत प्रकरणको हम नही बढ़ाना चाहते। यहां हमें केवल यही बतलानाहै कि दधि मधु घृतात्मक कूर्म्म प्रजापति सारी प्रजाका निर्म्माण करतेहैं। सारा जगत निरुक्त मर्य्यादानुसार पश्यक नामसे प्रसिद्ध कश्यपसे उत्पन्न हुआ है। इसका स्वरूप मरीचिसे उत्पन्न हुआहै अतएव कश्यपके लिए 'कश्यपो वै मारीचः' कहा जाताहै। जैसा आकार कूर्म्म प्रजापतिका है, वैसाही कश्यप (कछुए) का है। अतएव इस प्राणीका कश्यप शब्द उस कूर्म्मपर जाकूदाहै। वह कूर्म्म शब्द कश्यप प्राणीपर आकूदाहै। इसी विद्याको समझानेके लिए ऋषियोंने इसका नाम कूर्म्म रखदिया है, उसका नाम कश्यप रखदियाहै। सूर्य्य प्रजापति कूर्म्मावतार धारण करके ही प्रजानिर्माणमें समर्थ होतेहैं। वह त्रैलोक्य व्यापक कूर्म्म प्रजापति दधि मधु घृतसे नित्य अभिषिक्त रहते हैं। एवं उनके चारोंओर सोममय आपो समुद्र (अमृत समुद्र) रहताहै। इसी विज्ञानके आधारपर चयन यज्ञमे उस कूर्म्म प्रजापतिकी चितिके लिए कछुएका चयन होताहै। उसपर दधि, घृत,

मधुका लेप किया जाताहै । पानीके स्थानमें उसके ऊपर नीचे दोनों ओर अवका (अपोमय क्षुद्र शैवाल) रक्खे जाते है। इसी पूर्वोक्त कूर्म्मोपचारका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है-

'कूर्म्ममुपदधाति । यो वै स एषां लोकानामप्सुमविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत् स कूर्म्मः । स एष इमऽएव लोकाः । तस्य यदधरं कपालमयं स लोकः । अथ यदुत्तरं सा द्यौः । अथ यदन्तरा तदन्तिरक्षम् । इमानेवैतेल्लोकानुपदधाति । तमभ्यनक्ति-दध्ना, मधुना, घृतेन । दधिहैवास्य लोकस्य रूपम् । घृतमन्तरिक्षस्य । मध्वमुष्य । स यत् कूर्म्मो नाम-एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । यदसृजत-अकरोत्तत् । यदकरोत्-तस्मात् कूर्म्मः । कश्यपो वै कूर्म्मः । तस्मादाहुः-सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः । अवका अधस्ताद् भवन्ति, अवका उपरिष्टात् । आपो वा अवकाः । अपामेवैनमेतन्मध्यतो दधाति (श० ७ कां० । ४ अ० । १ ब्रा०) इति ।

सारी प्रजाके प्रभव प्रतिष्ठा परायणभूत इसी कूर्म्म प्रजापतिको 'संवत्सर प्रजापति' कहते हैं । इस आदित्यात्मक संवत्सर रूप कूर्म्म प्रजापतिके १३ अवयव हैं । इसके सम्बन्धसे उस दक्ष वृत्तके १३ विभाग होजाते हैं । वह तेरहोंही देव, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गंधर्व, मनुष्य कृमि, कीट, पशु, पक्षि औषधि, वनस्पति, धातु, विष, रस[1] आदि आदि यच्च यावत् स्थावर जङ्गम प्रजाकी जननिए है । पिता सूर्य रूप कूर्म्म हैं । इसी आधारपर 'नूनंजनाः सूर्येण प्रसूताः'-यह कहाजाताहै । यदि पूर्वोक्त सब दाक्षायणियोंका संकलन किया जाताहै तो ६० विभाग होजाते है । यही दक्षप्रजापतिकी ६० कन्याएं, तत्तद्देवताओंसे भुक्त होकर तत्तत् प्रजा

१-इसी आधारपर 'जिसका कोई गोत्र नहीं उसका कश्यप गोत्र'-यह किंवदन्ती प्रचलित है ।

निर्म्माणका कारण बनती है। यह है अधिदैव चरित्र। इसीसे अध्यात्म सृष्टि होती है। इसीसे अधिभूत सृष्टि होती है। अतएव 'यदेवेह तदमुत्र—यदमुत्र तदन्विह' इस श्रौतसिद्धान्तके अनुसार जो व्यवस्था अधिदैवतमें है वही अध्यात्ममें समझनी चाहिए, वही अधिभूतमें भी। इसी भूमण्डलपर आदित्यादि मनुष्य देवता थे। दक्ष प्रजापति थे। उनके ६० कन्याएं थी। उनका पूर्वकर्मानुसार तत्तन्मनुष्य देवताओंके साथ विवाह हुआ था। इसी त्रिपुटी विज्ञान (अध्यात्म—अधिभूत—अधिदैवतविज्ञान) को लक्ष्यमें रखकर हमारा पुराण शास्त्र कहताहै—

दक्षस्तु षष्टि कन्यास्तु—सप्तविंशति (२७) मिन्दवे।
ददौ स दश (१०) धर्म्माय, कश्यपाय त्रयोदश (१३) ॥१॥
द्वे (२) चैवाङ्गिरसेऽप्रादाद् द्वे (२) कृशाश्वाय धीमते।
द्वे (२) चैव भृगुपुत्राय चतस्रोऽरिष्टनेमिने (४) ॥२॥ इति।

इन ६० दक्ष कन्याओंमें कश्यपके साथ सम्बन्ध रखनेवाली १३ दाक्षायणियोंमेंसे अदिति नामकी स्थिर दाक्षायणी का ही प्रकृत मन्त्रसे सम्बन्धहै। संवत्सरके १३ विभाग सर्वथा नियतहै। इनमें एक विभाग दितिहै। एक अदितिहै। शेषको अप्राकृत होनेसे छोड़ा जाताहै। संवत्सर प्रजापतिका दितिके साथ संयोग होनेसे यज्ञ विरोधी दैत्य (असुर) उत्पन्न होतेहैं। अदितिके संयोगसे यज्ञमूल आदित्य (देवता) उत्पन्न होते हैं। दोनों ही प्राजापत्यहैं। परन्तु दोनोंमें अश्वमाहिष्यहै। एक अंधेराहै, तो दूसरा उजाला है। एक तमोमय प्राणहै, तो दूसरा ज्योतिर्घन है। एक देवेन्द्रसे शासितहै, तो दूसरा दल वृत्र नामसे प्रसिद्ध असुरेन्द्रके शासनमें है। एक सत्यानुयायी है तो दूसरे अनृतके उपासक है। एक बलवान् है, तो दूसरे बुद्धिमानहैं। संवत्सर प्रजापतिसे उत्पन्न दोनों स्पर्द्धा करते रहते हैं। आर्थे खगोलमें

देवताओंका राज्यहै। जितनी दूरमें देवताओंका साम्राज्यहै वह खगोल मण्डल 'यज्ञिय मण्डल' है। एवं आधेमें असुरोंका साम्राज्य है। वह अयज्ञिय मण्डल है। दोनों मण्डल स्थिरहैं। एवं आकल्पान्त स्थिर रहेंगे। इनमें हमारा 'देवस्य त्वा सवितुः' इत्यादि मन्त्र अदितिमय यज्ञमण्डलका ही निरूपण करता है। एक तरफ स्वाती नक्षत्रहै। दूसरी ओर अश्विनी नक्षत्र और रेवती नक्षत्र दोनों नक्षत्रोंके मध्यकी बिन्दुहै। बस आकाशका इतना प्रदेशही अदिति मण्डलहै। इस मण्डलके ठीक खस्वस्तिकमें (मध्यमें) अदिति है। इस मध्य स्थानपर 'पुनर्वसु' नक्षत्रहै। पुनर्वसु नक्षत्रके तृतीय चरण पर ही अदिति बिन्दुहै। पूर्वमें स्वाती नक्षत्र पर्य्यन्त इसकी व्याप्ति है। पश्चिममें अश्विनी रेवती नक्षत्रकी मध्य बिन्दुतक व्याप्तिहै। इस देवमण्डलमें स्वाती से रेवती पर्य्यन्त १३॥ नक्षत्रोंका भोगहै। ठीक इतना ही मण्डल दिति मण्डल है। पुनर्वसु नक्षत्रके ठीक १८० अंशपर मूल नक्षत्र पड़ताहै। यहीं अदिति बिन्दुहै। खस्वस्तिकपर अदितिहै। अधः स्वस्तिकपर दितिहै। दोनों दोनों मण्डलोंके मध्यमें प्रतिष्ठित है। दिति दरिद्राहै। निर्ऋति है। मूलनक्षत्रकी अभिमानिनी देवता यही दिति है। अतएव मूलनक्षत्रमें उत्पन्न होनेवाला प्राणी महा दरिद्री, अति क्रूरकर्म्मा होताहै। पुनर्वसु संपत्ति युक्तहै। इस नक्षत्रमें खोई हुई वस्तुभी मिलजाती है। ज्योतिःशास्त्रके अनुसार इसकी अभिमानिनी देवता अदितिहै। इस अदितिका इस पुनर्वसु नक्षत्रके तृतीय चरणसे सम्बन्ध है अतएव इस स्थिरअदितिको हम अवश्य ही नक्षत्र मूला अदिति कहनेके लिए तय्यारहैं। मन्त्रसम्बन्धी विज्ञान समाप्त हुआ। अब मंत्रार्थ की ओर आपका ध्यान आर्पित किया जाता है—

सविता का स्वाती नक्षत्र कहते हैं। यद्यपि सभी नक्षत्र स्थिरहैं। तथापि पृथिवी परिभ्रमण के कारण इनको दृश्यमण्डलके अनुसार चल माना जाताहै। नक्षत्रों का उदयकालही इनका प्रसव कालहै। पूर्वक्षितिजमें जिस

नक्षत्रका उदय होताहै, वही काल उस नक्षत्रका प्रसव काल माना जाताहै। 'सवितादेवताके प्रसवमें' इस वाक्यका यही अर्थहै कि स्वाती नक्षत्र जिस-समय पूर्व क्षितिजपर उदित हुआहो। जिससमय स्वाती नक्षत्र का पूर्व क्षितिजपर उदय होताहै उससमय पश्चिम क्षितिजस्थ अश्विनी नक्षत्र डूब-जाता है। और पूषा नक्षत्र (रेवती) डूबने वाला होताहै। उत्तर दक्षिण ध्रुवतक इन नक्षत्रोंके प्राणका प्रसार रहताहै। दक्षिण ध्रुव पर्य्यन्त फैलाहुआ नाक्षत्रिकप्राण उस नक्षत्रकी दक्षिण भुजाहै। एवं उत्तर ध्रुवपर्य्यन्त व्याप्त रहनेवाला प्राण उस नक्षत्रकी वाम भुजाहै। वह अदिति विन्दु ठीक इस उत्तर दक्षिण ध्रुवके मध्यमें पडती है। यहां तक अश्विनी—पूषाका कर प्रसार है। पंचांगुलि युक्त हस्त हस्तहै। शेष सारा भाग बाहुहै। बाहू पीछेहै हस्त आगे है। ठीक यही स्थिति अश्विनी पूषाकी है। अश्विनीक्षत्र पीछे हटाहुआ है। पूषा आगे है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो-हस्ताभ्याम्' कहा है। यह अदिति नारी है। नारीसे मारुती अभिप्रेतहै। मरुत प्राणकी शक्ति ही 'मारुती' है। जिसमें मारुती प्रधान होती है. प्रजासृष्टि में वह स्त्री बनती है। जिसमें मरुत् प्रधान होताहै. वह पुरुष बनताहै। इस विषयमें अभी बहुत कुछ वक्तव्यहै। परन्तु विस्तार भयसे अधिक नहीं लिखा जासकता। प्रकरणका उपसंहार करते हुए अन्तमें हम यही बतलाना चाह-तेहैं कि आज यह यजमान यज्ञकर रहाहै। अतएव इसे यज्ञ मण्डलकी सम्पत्ति प्राप्त करना नितान्त अपेक्षितहै। यद्यपि पूर्वोक्त नक्षत्रमूला अदिति रूप यज्ञ मण्डल सर्वथा स्थिरहै। तथापि पृथिवी परिभ्रमणके कारण वह बदलजाताहै। नियत समयपर ही अदिति मण्डलका आगमन होताहै। अतः जहां तक बनपड़े उसी कालमें यज्ञ करना चाहिए। यदि वह काल न हो तो मन्त्रशक्ति द्वारा उस कालकी भावना करलेना तो अत्यन्त ही आव-श्यकहै। आज उसी काल सम्पत्तिको भावना द्वारा अपने यज्ञमें प्राप्त करने

के अभिप्रायसे अध्वर्यु—'देवस्यत्वा' इत्यादि बोलता हुआ शकटमें से हविग्रहण करताहै। प्रकृति यज्ञके सविता आदि देवता सत्य सहितहैं । अतः उनकी भावनासे गृहीत अन्न अवश्यही सत्य सम्पत्तिसे युक्त होता हुआ यज्ञिय बनजाताहै। इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'तत् सत्येनैवैतद् गृह्णाति'—यह कहा है।

अदिति मण्डल परिलेख।
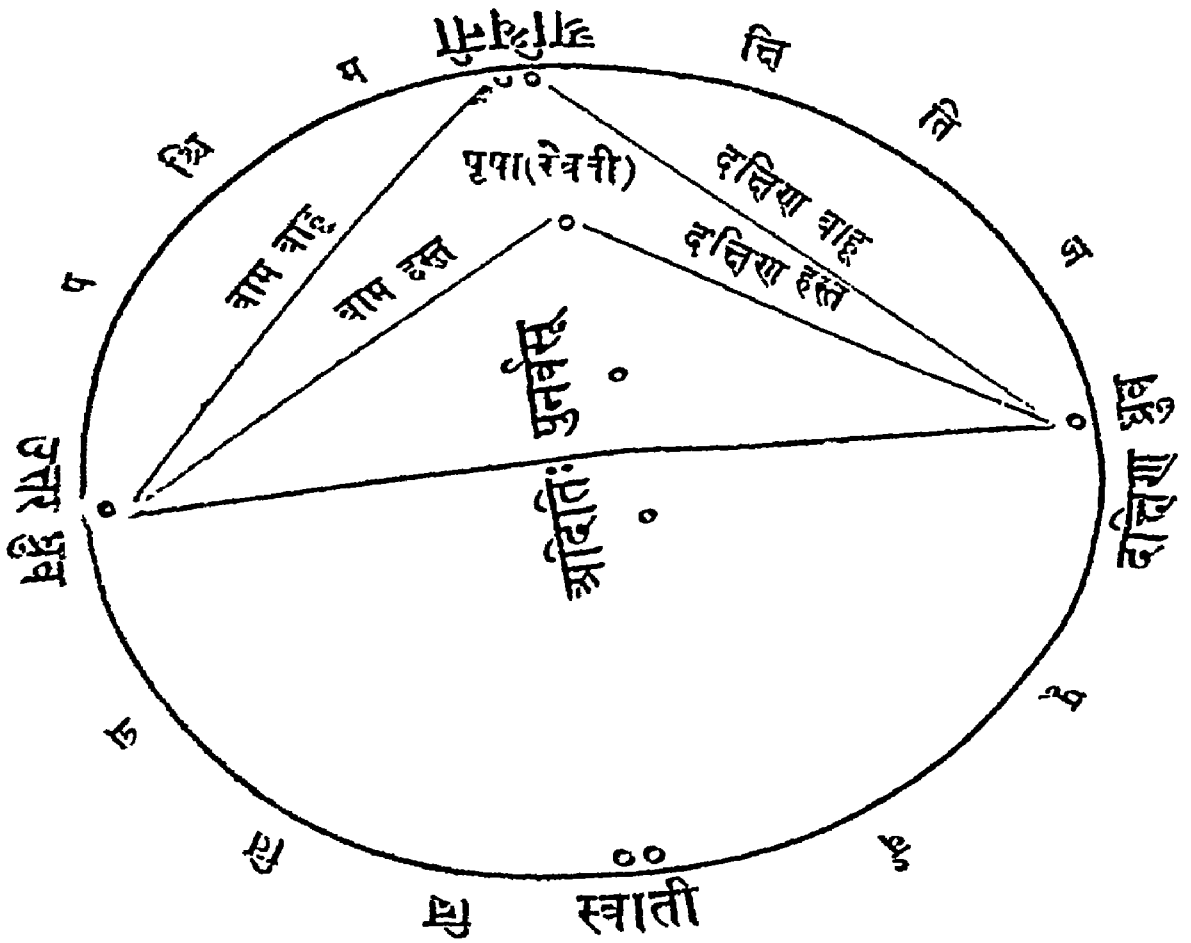
भिन्न भिन्न कर्म्ममें भिन्न भिन्न देवता होतेहैं । तत्तत् कर्म्ममें तत्तद्देव सम्बन्धी हवि सम्पादन करना पडताहै । बस जिस समय अध्वर्यु पुरोडाश सम्पादनके लिये हविग्रहण करताहै, उसी समय 'तत्त कर्म सम्बन्धी देवताओं का नाम निर्देश करदेताहै । तात्पर्य यही है कि कर्ममें जिन देवताओंको आहुति दीजातीहै. हविग्रहणकालमें उन देवताओं आहुति क्रमसे नामनिर्देश करकेही हविग्रहण करना चाहिये । कारण इसका यही है कि अध्वर्यु 'मैं आज प्राणमय देवताओंके यजनके लिए शकटमेंसे हविग्रहण करताहूं' यह भावना रखता हुवा हविग्रहण करताहै । भावना मनका व्यापारहै । मन सोममयहै । सोम देवताओंका अन्नहै । भावना होतेही प्रकृति मण्डलमें व्याप्त आग्नेयप्राण प्रधान सभी देवता इसकी ओर आकृष्ट होजातेहैं । सभी प्राण-देवता 'अध्वर्यु मेरे लिये हविग्रहण करताहै—मेरे लिये हविग्रहण करताहै''—यह समझने लगते हैं । नामनिर्देश के बिना जैसे सजातीय ब्राह्मणोंमें 'नहीं यह मुझे मिलेगा-नही यह मुझे मिलेगा' इसप्रकार झगड़ा होने लगता है. तथैव यहांभी देवतओंमें समद (झगड़ा) होनेकी सम्भावनाहै । समद क्षोभ का कारणहै । क्षोभ अशान्तिका मूलहै । अशान्ति दुःखकी जननीहै । यज्ञ-किया जाताहै सुखरुप स्वर्ग प्राप्ति केलिये । तदर्थ. यज्ञिय प्राण देवताओं को आहुतिद्वारा प्रसन्नकर उनसे स्वर्ग प्राप्तिद्वारा साधनभुत दिव्यात्मा उत्पन्न किया जाताहै । इधर नाम निर्देशके बिना देवताओंमें क्षोभमूलक समद होजाताहै । सारा यज्ञ व्यर्थ होजाताहै । इस लिए उचित है कि हविग्रहण कालमें देवताओंमें क्षोभ न हो । इसका उपाय है नाम निर्देश । नाम निर्देशसे 'नहीं यह मेरा है—नही यह मेराहै' । यह भाव हट जाताहै । जिसका नाम लिया जाताहै वही देवता यज्ञमें उपस्थित होजाताहै । परस्परमें असमद (शान्ति) होजाताहै । इस लिए नामनिर्देश करके ही हविग्रहण करना उचित है । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'ताभ्य एवैतत् सहसतीभ्योऽसमदं करोति' यह कहागया है ।

१८

समद हटाना नाम ग्रहणका पहिला प्रयोजनहै। देवताओंपर अभीष्ट फल प्रदान की जिम्मेवरी डालना दूसरा प्रयोजनहै। जिन देवताओं के लिए अध्वर्यु हविग्रहण करताहै, वे सभी देवता उस हविग्रहणसे अपने आपको उस यजमानका ऋणी (कर्ज़दार) समझते है । शनि, मंगल, बृहस्पति, आदि तो ग्रह है ही । परन्तु सब ग्रहोंमें प्रधान एवं वलिष्ठ यह 'अन्नग्रह' ही है ।

अन्नसे गृहीत वस्तु अन्नप्रदाताके साथ वद्ध होजाती है । साराविश्व ९ ग्रहोंसे वद्धहै । एवं विश्वको बन्धनमें रखने वाले स्वयं नवग्रह अन्नसे वद्ध है । सव ग्रह ही क्या-जड़ चेतनात्मक सारे पदार्थ इस अन्नग्रहदशासे आक्रान्तहै। सब सबको अन्न देरहेहैं, साथहीमें अन्नके एवजमें लेरहेहैं। लेनेवाले अन्नाद कहलातेहै । जो द्रव्य लियाजाताहै वह अन्न कहलाताहै । सब अन्नादहै, सब अन्नहै । अग्नितत्व अन्नादहै । अन्नतत्व सोमहै । विश्वमें अग्नि-सोमरुप अन्नाद अन्नके अतिरिक्त और कुछ नही है, इसी आधार पर 'अन्नादश्च वाऽइदं सर्वमन्नं च' (शत० १.८ का० १ अ० ६ ब्रा० १.९ कं०) यह कहाजाताहै । 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस श्रुतिका भी यही रहस्य है । वतलाना इससे यही है कि अन्न सब ग्रहोंका ग्रहहै । इसी अन्न ग्रहसे गृहीत वस्तु अन्नदाताके आधीन होजाती है । इसी अन्नग्रहताका निरूपण करती हुई ग्रहोपनिषत् श्रुति कहती है—

"एष वै ग्रहः—य एषतपति । वागेवग्रहः—वाचा हीदं सर्वं गृहीतम्। नामैव ग्रहः । नाम्ना हीदं सर्वं गृहीतम् । अन्नमेवग्रहः। अन्नेनहीदसर्वं गृहीतम् । तस्माद्यावन्तोनोऽशनमश्नन्ति ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति। एषैव स्थितिः। स य एष सोमग्रहः अन्नं वा एष सः । स यस्यै देवतायाऽएतं गृह्णन्ति सास्मै देवता एतेन ग्रहेण गृहीता तं कामं समर्द्धयति यत् काम्या गृह्णाति" (शत० २ कां० ६।५ । १-२-३-४-५ कं०) इति ।

सचमुच अन्नग्रह ऐसी ही वस्तु है। 'यावद् वित्तं तावदात्मा' इस श्रौत सिद्धान्तके अनुसार संपत्तितक मनप्राणवाङ्मय आत्माकी रश्मिएं व्याप्त रहती हैं। दुसरे शब्दोंमें अन्नमे अन्न स्वामीका आत्मा प्रविष्ट रहता है। इस अन्नके द्वारा अन्नप्रदाताका आत्मा अन्नगृहीतामें प्रविष्ट होजाता है। अन्नसे ही रसमलके क्रमिक विशकलनसे (देखो १ वर्ष २ अंक '४४ पृष्ठ) मन बनताहै। क्योंकि अन्नमें देने वालेका मन बैठाहै, अतएव लेनेवालेका मन अन्नके प्रभावसे देनेवालेके मनमे आक्रान्त होजाताहै। इसी बंधनके प्रभाव से उसको उस देनेवालेकी इच्छाके आश्रित होजाना पड़ताहै। चाहे न्याय हो, या अन्याय, यदि आपने अन्नग्रहसे उसे गृहीत करलियाहै तो अवश्यमेव उसे वह काम करना पड़ैगा। महाधर्म्मज्ञ कुरुकुल भूषण भीष्म पितामह, परमनीतिज्ञ विदुर, गुरुवर द्रोणाचार्य आदि महापुरुषोंको दुर्योधन प्रदत्त इसी अन्नग्रहसे गृहीत होकर अन्नप्रदाता. दुर्योधनकी अधर्म्ममूल इच्छाओंका साथ देना पड़ाथा। आज यह यजमान इसी अन्नग्रहसे उनप्राण देवताओंको अपने वशमे कर उनसे स्वर्गफल लेना चाहताहै। ऐसी अवस्था में नामग्रहण करकेही. हविग्रहण करना उचितहै। यदि नाम लेदिया जाताहै तो देवता अपने ऊपर उस कामनाकी जिम्मेवरी समझने लगतेहैं। यदि नाम नही लिया जाताहै तो 'नजानें किसके लिये हविग्रहण किया जाताहै' यह सोचते हुए फलकी औरसे उदासीन होजाते है। बस देवताओंकी इस फल सम्बन्धिनी उदासीनताको हटानेके लियेही नामग्रहण कियाजाताहै। यही नामग्रहणकी दूसरी उपपत्तिहैं। जिसक्रमसे आहुति दी जातीहै उसीक्रमसे नाम बोल बोलकर हविग्रहण कियाजाता है इसप्रकार 'यथादेवतमन्यत्' (का० श्रौ० २।२।८.) के अनुसार अन्यदेवताओं के लिये यथापूर्व ग्रहणकरके—

ग्रहणकरनेसे अतिरिक्त बचेहुए शकटस्थ अन्नका 'भूतायत्वेति शेपाभिमर्शनम्' (का०श्रौ०) के अनुसार 'भूतायत्वा नारातये' यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु स्पर्श करताहै। जितनासा हवि उस शकटमेंसे लेलियाहै। वह देवताओंके उपयोगमें आवेगा। देवताओंका हवि बनकर वह भाग समृद्ध होगा। परन्तु जो अन्न शकटमें बचगयाहै उसका क्या उपयोग। क्या वह निरर्थक जायगा। क्या वह योंही पड़ा रहेगा। यदि ऐसा होगातो वह समृद्धिसे बाहरकी वस्तु रहेगी। अन्नकी समृद्धि वही कहलातीहै कि वह प्राणियोंके उपयोगमें आवे। राति(दान) ही अन्नकी समृद्धिहै। दान, भोग दो समृद्धिएंहैं। जो न संपत्ति देताहै,न स्वयं भोगताहै वह नष्ट होजातीहै। जितनासा हवि देवताओंके लिये निकाल लिया गयाहै वहतो आहुतिद्वारा यजमानका दिव्यात्मा बनेगा। दूसरे शब्दोंमें वहतो यजमानका भोग बनेगा। परन्तु शेष भागका क्या प्रबन्ध। क्या वह अरातिके लियेहै। योंही पड़ा रहेगा। यदि ऐसाही होगातो समृद्धिरूप आप्यायन धर्मसे वह शकटस्थ अन्न रहित होता हुवा क्षोभ उत्पन्न करेगा। क्षोभजनित अशान्तिका सम्बन्ध यज्ञमें होगा। बस इसी क्षोभको हटाने केलिये 'भूताय०' इत्यादिमन्त्र बोलता हुवा अध्वर्यु उसका स्पर्श करताहै। शकटस्थ अन्नभी व्यर्थ नहीहै। गृहीतद्रव्य. यदि प्राणाग्निमें हुत होनेसे समृद्धहै तो शेष अन्न भूतस्वरूप सांतपनाग्नि (ब्राह्मण) में. हुत होनेके लियेहै। उसकाभी खास उपयोगहै। बतलाना इससे यहीहै कि शकटस्थ शेष अन्नको ब्राह्मण भोजनादि, यज्ञदानादि उत्तमकार्यमें ही लगाना चाहिये। शास्त्रविरुद्ध अधर्म कार्यमें उसका उपयोग नही करना चाहिये। एक बात और। भूतायत्वा० यह साकांक्ष शब्दहै। अतः 'परिशेपयामि' इसका अध्याहार कर 'भूतायत्वा नारातये परिशेपयामि' यह बोलना चाहिये। इसप्रकार ऐसा बोलता हुआ अध्वर्यु. जहांसे (शकटसे) हविग्रहण करताहै, उसी स्थानपर स्थित उस अन्नको दान रूप आप्यायन धर्मसे युक्त करदेताहै।

२०

इस प्रकार यथापूर्व हविग्रहणानन्तर शकटस्थ अन्नका स्पर्श करनेके अनन्तर वह अध्वर्यु वहीं खड़ा खड़ा 'स्वरभिविख्येपम्' यह मन्त्र बोलता हुआ पूर्व दिशाकी ओर देखताहै। विश्वसृष्टि ज्योति. पाप्मा भेदसे दो भागोंमें विभक्तहै। ज्योतिर्म्मयी सृष्टि देव सृष्टिहै। पाप्मा सृष्टि असुर सृष्टि है। प्रत्येक सृष्टिमें दोनोंभावहैं। देवता असुर दोनोंके सन्वयसेही प्रत्येक पदार्थ का निर्म्माण होताहै। पाप्मा भूतहै। ज्योति देवताहै। देवता प्राणहै, भूत वाक्है। भूत उस वस्तुका स्थूल शरीर बनताहै। देवता सूक्ष्म शरीर बनता है दोनों से कारण शरीर रूप आत्मा वेष्टित रहताहै। देवप्राण ज्ञानमयहै। भूत अविद्यामयहै। आवरणरूपहै। देवता सत्यसंहितहै, भूत बलसंहितहै। एक बलवान्है, दूसरा ज्ञानवानहै। बलरूप भौतिक प्रपञ्च आत्माका विरोधी धर्म्म है। ज्ञानरूप देव प्रपञ्च आत्माका स्वरूपधर्म्म है। देव प्राण प्राण है। इसका उक्थ (प्रभव) सूर्य्यहै। इसी आधार पर सूर्य्यके लिए 'चित्रं देवाना-मुदगात्'—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः' इत्यादि कहा जाताहै। असुर प्राण प्रधान भूतों का उक्थ पृथिवीहै। सौर देवता बृहत् सामसे युक्तहै। अतएव उनकी व्याप्ति सारे त्रैलोक्यमेंहै, एवं पाप्मा रूप असुर परिच्छिन्नहै। ससीमहै। ससीमता पाप्माका पहिला रूपहै। ज्योतिमे विकासहै। संकोच नहीं। पाप्मा में संकोच है विकास नहो। जिस शकटमे अध्वर्यु नें हविर्ग्रहण किया है, वह सीमितहै। स्वयं शकट भी सीमाभावापन्नहै। एवं शकटस्थ अन्न भी शकट और वस्त्रसे वेष्टित होने के कारण परिच्छिन्नहै। अतएवं हम अवश्यही इस शकट को पाप्मासे युक्त माननेके लिए तय्यारहैं। वह अध्वर्यु अन्नग्रहण करता हुआ इस पाप्मासे युक्त हो जाताहै। अन्न ग्रहण करता हुआ परिच्छेदरूप पाप्माको ले लेताहै। इसे इस हविद्वारा ज्योतिर्मय देवताओं का यजन करनाहै। पाप्मा उनका विरोधीहै। ऐसी अवस्थामें यदि यह पाप्माभाव अध्वर्यु में रह जायगा तो आहुति देते समय

भावनामें प्रविष्ट यह पाप्माभी आहुतिद्वारा देवताओं से निष्पन्न होने वाले उस यज्ञरूप देवात्मा में प्रविष्ट होजायगा। अतएव उचित है कि अध्वर्यु हविग्रहण करतेही उस पाप्माको अपनी भावनासे निकालदे। इसका उपायहै—पूर्वदिशोपलक्षित सूर्य्य की ओर देखना। सूर्य्य ज्योतिर्घनहै। पाप्मा तमहै। तमका सूर्य्य घोर शत्रुहै। जहां सौर प्रकाश रहताहै वहां तम कदापि नहीं रह सकता। शकटस्थ अन्न और शकट दोनों ही भौतिक पदार्थ है। अतएव पाप्मासे संसृष्ट है। परन्तु स्वर्गलोक ज्योतिर्म्मय होनेसे पाप्मा-शून्यहै। आज सूर्य्यरूप पूर्वदिशोपलक्षित स्वर्ग की ओर दृष्टि डालता हुआ अध्वर्यु अपने संकोचरूप तमोमय पाप्माभावको हटाताहै। स्वर्ग, अहः, सूर्य्य, स्वर, देव, यज्ञ यह छओं कहने को भिन्न पदार्थहैं। वस्तुतः—छओं एकही ज्योति तत्वहै। सूर्य्यही स्वर्ग है। यही अहः है। यही देव है। यही यज्ञहै। अग्निमें सोमकी आहुति होनेका नामही यज्ञहै। सूर्य्याग्निमें निरन्तर पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति नामसे प्रसिद्ध पवित्र सोमकी आहुति होती रहतीहै। इसी सोमाहुतिके प्रभावसेही सूर्य्य ज्योतिर्म्मय बन रहाहै। इसी आहुति के कारण हम सूर्य्यको यज्ञ कहनेके तय्यार लिएहै। प्रकाशका नाम अहःहै। तमका नाम रात्रिहै। अहः प्रकाश सूर्य्यकाही प्रकाशहै। वही अहः रूप में परिणत हो रहाहै। अतएव हम सूर्य्यको 'अहः भी' कह सकतेहैं। पृथिवीकी वाक् जैसे 'अनुष्टुप्' नामसे प्रसिद्धहै, एवमेव सौरीवाक् 'स्वर' नामसे प्रसिद्धहै। अनुष्टुप् वर्णों की अधिष्ठात्री है। सूर्य्य पिण्ड स्वर वाङमयहै। इसलिये भी हम सूर्य्यको स्वर कह सकतेहैं। एव तीन स्वर सामों के सम्बन्ध से भी सूर्य्यको स्वर कहा जासकताहै। पृथिवीके २१वें अहर्गण पर सूर्य्य प्रतिष्ठितहै। इसी आधार पर 'एकविंशो वा इत आदित्यः'—यह कहा जाताहै। प्राकृतिक यज्ञोंमें एक यज्ञ—'नवाहयज्ञ' नामसे प्रसिद्धहै। इस यज्ञमें ९ अहर्गण होते हैं। एक एक अहर्गण एक एक अहः कहलाता

है। अतएव यह यज्ञ 'नवाह यज्ञ' कहलाताहै। पृथिवी के १७वें अहर्गण से प्रारम्भ कर २५वें अहर्गण तक इस यज्ञकी व्याप्तिहै। इस नवाह यज्ञ का केन्द्र इक्कीसवां अहर्गणहै। १७–१८–१९–२० यह चार अहर्गण नीचे है। २२–२३–२४–२५ यह चार अहर्गण ऊपरहैं। मध्यमें २१वांहै। इसीपर सूर्य्य प्रतिष्ठितहै। यही आहवनीयाग्निहै। इसीमें निरन्तर सोमाहुति होती रहतीहै। इसीका नाम नवाह यज्ञहै। इतनी दूरमें कभी तमका प्रवेश नहीं होता। अतएव पौराणिक परिभाषामें यह यज्ञमण्डल 'श्वेतद्वीप' नामसे प्रसिद्धहै। इस द्वीपके चारो ओर पानी (वायु रूप पानी) भरा हुआहै। इस आपोमय मण्डलके बीचमें श्वेतद्वीपमें यज्ञमूर्त्ति सत्यनारायण भगवान् प्रतिष्ठितहैं। चातुर्मास्य के कारण पार्थिव त्रिविक्रम विष्णु ८ मास जागतेहैं, ४ मास सोतेहै। पारमेष्ठ्य गोलोकवासी गोविन्दविष्णु सदाही आपोमण्डलमें प्रविष्ट रहनेके कारण सदाही सोते रहतेहै। परन्तु श्वेतद्वीप निवासी सूर्य्यनारायण भगवान् सदा जागते रहतेहैं। 'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च-पत्न्यौ' (युजुर्वेद) के अनुसार इनके श्री और लक्ष्मी दो पत्नियांहैं। इस मण्डलमें कभी पानी का प्रवेश नही होता। इसी आधार पर इन्हें सदा जाग्रत कहा जाताहै। बस इस नवाहयज्ञमण्डलका ही नाम 'स्वर्ग' है। इसमें १७ वां स्वर्ग त्रिणाचिकेत स्वर्ग कहलाताहै। २१ वां स्वर्ग ब्रध्नस्य विष्टप कहलाताहै। इसीको 'नाक स्वर्गभी कहते हैं। एवं २५वां स्वर्ग प्रत्ननाक नामसे प्रसिद्धहै। प्रत्ननाक में इन्द्राविष्णुवहै। यही अहर्गण 'अविवाक्यमहः–महाव्रत–आदि नामोंसे भी प्रसिद्ध है। पुराणोंमें यही स्वर्ग 'अपुनर्मार' (यत्र गत्वा न पुनर्म्रियन्ते) अशोकमहिम आदि नामोंसे प्रसिद्धहै। यही पहिला 'इन्द्रविष्टप' किंवा इन्द्रस्वर्गहै। इन्द्रपदहै। मध्यका

---

१ इस विषय का विषद विवेचन गीता भाष्यान्तर्गत आचार्य रहस्य के 'परमेष्ठी कृष्णरहस्य' नाम के प्रकरण में देखना चाहिये।

एकविंश स्वर्ग विष्णुविष्टप कहलाताहै। उपक्रम स्थानीय मध्यका १७वां स्वर्ग अग्नि प्रधान होनेसे 'ब्रह्मविष्टप' कहलाताहै। कठोपनिषतमें नचिकेताके प्रश्न करने पर यमराजने इसी स्वर्ग्याग्निका निरूपण किया है। इन पूर्वोक्त तीनों स्वर्गोंकी समष्टि ही 'त्रिविष्टप' नामसे प्रसिद्ध है। इनमें प्रारम्भका १७वां नचिकेत स्वर्ग सामवेदमें 'अभिजित' कहलाताहै। एवं २५वां मत्ननाक विश्वजित कहलाताहै। इन्ही दोनोंका स्पर्श करता हुआ भूमण्डल केन्द्रस्थ सूर्यके चारों ओर परिक्रमा लगाता रहताहै। उस ओर विश्वजित् है। इस ओर अभिजित है। दोनोंके मध्यमें ७ अहर्गण है। 'सप्त वै देवस्वर्गाः'—(व्यास सूत्र) वाले प्रसिद्ध सात देवस्वर्ग यही सात अहर्गणहै। वे सातों देवस्वर्ग अग्नि, वायु, इन्द्र, सूर्य, वरुण, मृत्यु, ब्रह्मा इन ७ देवताओंके भेदसे क्रमशः अपोदक, ऋतधामा, अपराजित, व्रध्नस्य विष्टप्, अग्निश्रौ प्रश्नौ, रोचन, इन नामोंसे प्रसिद्धहैं। तैतिरीय संहितामें (१।७।५) ब्राह्म स्वर्गको 'विभाव्' नामसे भी व्यवहृत किया है। सामका स्वरूप बतलाए हुए ताण्ड्य ब्राह्मणमें (तां० १९-१०॥,१८-२॥,) पूर्वोक्त स्वर्गोंका विशद निरूपण कियागयाहै। अधिक जिज्ञासा रखनें वालोंको वही प्रकरण देखना चाहिए। यहां इस सारे प्रपञ्चसे केवल यही बतलानाहै कि पूर्वोक्त सातों देवस्वर्गोंमें से मध्यके २१ वे व्रध्नस्य विष्टप्में सूर्य प्रतिष्ठितहै। तीन देवस्वर्ग इसके ऊपर है। तीन नीचे है। इनमें सूर्य की स्वरवाक् अभिव्याप्त रहतीहै। अतएव यह ऊपर नीचेके ६ ओंसाम सामवेदमें 'स्वरसाम' नामसे प्रसिद्धहै। तीन स्वरसाम सूर्य्यके नीचेहै। तीन स्वरसाम सूर्य्यके ऊपरहै। प्रसंगागत इतना और समझलेना चाहिएकि सूर्य्यप्रतिष्ठा रूप २१ वां अहर्गण 'विषुवदहः' नामसे प्रसिद्धहै। वस स्वरसा-[2]

---

१ इस विषय का निरूपण कठभाष्यमें देखना चाहिये।

२ 'स्वर्भानुर्हवा आदित्यं तमसा' इत्यादिका इसी स्वर सामसे सम्बन्धहै स्वरसामही ग्रहणका जनकहै, जिसकाकि विशद निरूपण 'ग्रहण विज्ञान' नामके निबन्धमें द्रष्टव्यहै।

मावच्छिन्न इसी सौरमण्डलका नाम स्वर्ग है। अतएव हम अवश्यही सूर्य्यको स्वर्ग कहनेकेलिए तय्यार हैं। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

एषा गतिः। एषा प्रतिष्ठा—य एष तपति। तस्य ये रश्मयस्तेसुकृतः। अथ यत् परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः" (श० १।६।७।४।१० कं०) इति।

पूर्वोक्त स्वर्ग परिचय निम्न लिखित तालिकासे स्पष्ट होजाता है।

२५ प्रब्रनाक—इन्द्रविष्टप्—विश्वजिदहः—अविवाक्यमहः—महाव्रतम्।

२४—............................७—रोचन " (ब्रह्मणः)
२३—............................६—प्रद्यौ " (मृत्योः)
२२—............................५—अधिद्यौ " (वरुणस्य)

त्रयः स्वरसामानः

२१ अन्नस्यविष्टप्-विष्णुविष्टप्—विषुवदहः ४नाक" (सूर्यस्य)

२०—............................३—अपराजित " (इन्द्रस्य)
१९—............................२—ऋतधामा " (वायो)
१८—............................१—अपोदकस्वर्ग (अग्नेः)

त्रयः स्वर सामानः

सप्त वै देव स्वर्गाः स एष स्वर्गो लोकः

१७—त्रिनाचिकेत ब्रह्मविष्टप् अभिजिदहः

सूर्यमें ज्योति, गौ, आयु तीन मनोता हैं। ज्योति भागसे देवसृष्टि होती है। गौ भागसे भूतसृष्टि (पृथिवीसृष्टि) होती है। एवं आयु भागसे आत्म सृष्टि होती है। ऐसी अवस्थामें ज्योतिर्म्मय सूर्यको हम अवश्यही देव भी कहसकते हैं। यज्ञ, स्वर, स्वर्ग, देव घन यह सूर्य पूर्व दिशामें प्रतिष्ठित रहता है। अतः पूर्व दिशासे हम सूर्यका ग्रहण करनेके लिए तय्यार हैं। प्रकृतमें यज्ञका सम्बन्ध है। यज्ञ सूर्य है। सूर्य स्वर्ग है। यह दिव्य लोक पाप्मा

रहितहै। अध्वर्युका लक्ष्य यज्ञ रूप स्वर्गलोकहै, न कि पाप्मा। अतएव ग्रहणान्तर वह इसी ओर दृष्टि डालता है। बस इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यः । तत स्वरेवैतदतोऽभिविपश्यति' इत्यादि कहा है।

२१

यथाविधि हविग्रहण होचुका। अब अध्वर्यु 'दृंहन्तां दुर्य्याः पृथिव्याम' यह बोलता हुआ शकट से नीचे उतरताहै। आज यह अध्वर्यु हविलेकर शकटसे उतर रहाहै। सामान्य मनुष्योंकी दृष्टि में यज्ञ एक कौतुकमात्रहै। परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टिमें यज्ञ एक महा-अस्त्रहै। अव्यर्थ अस्त्रहै। यज्ञकर्म्ममें होने वाली जरासी भी भूल यज्ञकर्त्ता का नाश कर डालतीहै। यज्ञकर्त्ता को अधिभूत द्वारा अपने अध्यात्म को अधिदैवतके साथ मिलाना पड़ताहै। तीनों का संगतिकरण ही यजनहै। इसलिए छोटेसे छोटे कर्म्म में भी सावधानी की आवश्यकताहै। सौ पचास मन काष्ठ जलाकर १०–२० मन घी का नाश कर डालना यज्ञ नहीं है। यज्ञ एक वह विद्या है जिसके प्रभावसे प्रकृतिमण्डलको अपने वशमें किया जासकताहै। इसलिए खूब सोच समझकर यज्ञकर्म्ममें हाथ डालना चाहिये। अध्वर्यु उतरताहै। मान लीजिए उतरते समय शकटसे उसका पैर फिसल गया। पृथिवी पर आगिरा। समझ लीजिए यदि ऐसा होगया तो यज्ञकर्त्ता यजमानका घर भी नष्ट होगया, एवं वंशभी नष्ट होगया। महाराज जान एक बार रथपर सवार होकर घूमने जारहेथे। रास्तेमें किसी कारणसे घोड़े बिगड़ पडे। गाड़ी उलट गई। जान का हाथ टूट गया। उसी समय उन्होंने अपने पुरोहितसे पूछाकि बतलाओ यज्ञके किस कर्म्ममें

त्रुटि हुई जिससे हमारा हाथ टूटगया । इस आख्यानसे बतलाना हमें यही है कि यज्ञकर्ताकी सारी जीवनस्थिति एकमात्र यज्ञस्थिति पर निर्भरहै । हविग्रहण करके उतरना भी यज्ञकर्म्महै । यदि यह बिगड़ गयातो यजमानकी स्थिति बिगड़ गई । पृथिवी प्रतिष्ठाहै । उधर यजमानके दुर्य (घर) यजमानकी प्रतिष्ठाहै । एवं वे दुर्य यजमानके वंशकी प्रतिष्ठाहै । यदि अध्वर्यु पृथिवी प्रतिष्ठासे च्युत होगयाहै तो विश्वास कीजिये दक्षिणाक्रीत अध्वर्यु की यह च्युति यजमानके प्रतिष्ठारूप दुर्योको और वशको च्युत करनेमें समर्थहै । सालभरके भीतर भीतर यजमानके घर नष्ट भ्रष्ट होजायगें । एवं इसके पुत्र पौत्रादि दर दरके भिखारी बनजायगे । यदि अध्वर्युमें कम्पन होगातो वहांभी कम्पन होगा । यदि यह गिरजायगा तो वहांभी च्युति होजायगी । बस इस च्युति और क्षोभको हटानेके लियेही अध्वर्यु पूर्वोक्त मन्त्र बोलता हुआ पृथिवी पर पैर रखताहै । मन्त्र शक्तिके प्रभावसे देव प्राण क्षोभ एवं च्युतिसे रक्षा करताहै। अध्वर्यु सही सलामत प्रतिष्ठापर प्रतिष्ठित होजाताहै । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'तथा नानुप्रच्यवन्ते नविक्षोभन्ते,' इत्यादि कहाहै ।

२२

कितनेही ऋषियोंके मतानुसार गार्हपत्याग्निमें हवि पकाया जाताहै । एवं कितनोंहीके मतानुसार आहवनीयाग्निमें हविका परिपाक होताहै। दोनों सम्प्रदाएं सनातनहैं, जैसाकि अनुवादमें बतलाया जाचुकाहै । बस जैसा सम्प्रदायहो तदनुसार गार्हपत्य वा आहवनीयके पश्चिम भागमें 'पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि—अदित्या उपस्थे' यह मन्त्र बोलता अध्वर्यु अग्निके पश्चिम भागमें गृहीत हवि रखदेताहै । केन्द्रबिन्दु शरीरके ठीक मध्यमें पड़ताहै, अ-

सएव इसे 'मध्यस्थान' कहाजाताहै । हमारे शरीरमें नाभि, हृदय, कण्ठ यह तीन केन्द्रहै । इन तीनोंके अग्नि, वायु, आदित्य तीन देवता अधिष्ठाताहैं । अग्नि पार्थिवहै । वायु आन्तरिक्ष्यहै । आदित्य दिव्यहैं । त्रैलोक्यका रस हमारेमें आताहै। मूलद्वारसे नाभि पर्य्यन्त. पार्थिव रसका साम्राज्यहै। शरीर त्रिलोकीका यही पृथिवीलोकहै । नाभिसे हृदय पर्यन्त. आन्तरिक्ष्य रसका साम्राज्यहै। यही अन्तरिक्ष लोकहै । एवं नाभिसे कण्ठतक दिव्य रसका साम्राज्यहै । यही तीसरा द्युलोकहै, एवं मस्तक चौथा आपो लोकहै । इसमें चान्द्ररसका साम्राज्यहै । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आप, चारलोकहैं, अग्नि–वायु–आदित्य. चन्द्रमा यह चार चारों लोकोंके प्रतिष्ठाता शवसोनपात् देवताहैं । एवं चारोंके क्रमशः वसु, रुद्र, आदित्य, नक्षत्र अधिदेवता (गणदेवता) हैं । मस्तक चन्द्रलोकहै इसीलिये ग्राम्यभाषामें मस्तकको 'चांद' कहाजाताहै । शरीरके यह चारों लोक क्रमशः वस्तिगुहा, उदरगुहा, उरोगुहा, शिरोगुहा, नामसे प्रसिद्धहैं । भिन्न भिन्न गुहाओंका संचालन भिन्न भिन्न देवता कररहेहैं । वस्तिगुहाकी सत्ता अपान देवता (पार्थिव अग्नि) के आधार परहै । उदर गुहाकी सत्ता व्यानके आधारपरहै। उरोगुहाकी सत्ता प्राणपर प्रतिष्ठितहै । इन तीनोंका भी केन्द्र हृदयहै । दूसरे शब्दोंमें सर्वाङ्ग शरीरका केन्द्र 'हृदय' है । इसीपर व्यान प्रतिष्ठितहै । नीचे रहने वाले पार्थिवदेव प्राणघन अपानका, ऊपर रहने वाले सौरदेवघन प्राणका दौनों का शासन यही मध्यस्थ व्यान करताहै। प्राण अपानके कम्पनसे तबतक शरीरका कुछनही विगड़ सकता जबतक कि मध्यस्थ व्यान स्वस्वरूपमे प्रतिष्ठित रहताहै । इसी व्यान विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर उपनिषत् श्रुति कहतीहै—

न प्राणेनापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥

- ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते" (कठोपनिषद्)

यही व्यानस्थान अभयस्थान कहलाताहै । यही सारे शरीरकी प्रतिष्ठाहै। साधारण दृष्टिसे भी वस्तुका मध्यभाग अभय होताहै । इधर उधर पार्श्व भागोंमे यदि कोई वस्तु रखदी जातीहै तो उसके पतनका भय रहताहै । परन्तु बीचमे रखनेसे पतनका भय जाता रहताहै । इसका कारण वही मध्य (केन्द्र) प्रजापतिहै । वह स्वयं कम्प रहितहै । अतएव उसपर प्रतिष्ठित वस्तु भी कम्प रहित होजातीहै । बस मन्त्रशक्ति द्वारा पृथिवीके उस मध्य अभय स्थानकी भावना करताहुआ अध्वर्यु उस हविको रखताहुआ उसे अभय बनाताहै । पृथिवीमे दिति अदिति दोनों भावहैं । दितिभाव यज्ञ विरोधीहै। अतएव आगेजाकर अध्वर्यु कहता हैकि मै अदितिके उपस्थमे (कोड़में) तुम्हे प्रतिष्ठित करताहूं—

इसके अनन्तर 'अग्नेहव्यं रक्ष' बोलता हुआ उस हविको अग्निके सिपुर्द करताहै ।

इति—अनसो हविर्ग्र० गार्ह० आह० पश्चिमेभागे तत्सादनं च,

इति प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

पवित्रे करोति । पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति यज्ञो वै विष्णुर्याज्ञियेस्थऽइत्येवैतदाह ॥१॥ ते वै द्वे भवतः । अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव पवते सोऽयं पुरुषे

ऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ तदेत-
स्यैवानुमात्रां तस्माद् द्वे भवतः ॥२॥ अथो ऽअपि त्रीणि
स्युः । व्यानो हि तृतीयो द्वे त्वेव भवतस्ताभ्यामेताः प्रोक्ष-
णीरुत्पूय ताभिः प्रोक्षति तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति ॥३॥ वृत्रो
ह वाऽइदᳫं सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृ-
थिवी स यदिदᳫं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम॥४॥
तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवापो ऽभिप्रसुस्राव
सर्वत इव ह्ययᳫं समुद्रस्तस्मा हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे
ता उपर्युपर्यतिपुप्लुविरे ऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता
आपो ऽस्ति वाऽइतरासु सᳫंसृष्टमिव यदेव वृत्रः पूतिरभि-
प्रास्रवत् तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभि-
रेवाद्भिः प्रोक्षतितस्माद्वाऽएताभ्यामुत्पुनाति ॥५॥ स उ-
त्पुनाति । सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सू-
र्यस्य रश्मिभिरिति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृ,
प्रसूत एवैतदुत्पुनात्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वाऽअयं पवत
ऽएषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥६॥
ताः सव्ये पाणौ कृत्वा । दक्षिणेनोदिङ्गयत्युपस्तौत्येवैना
एतन्महयत्येव देवीरापो ऽअग्रेगुवो ऽअग्रेपुव इति देव्यो ह्या-
पस्तस्मादाह देवीराप इत्यग्रेगुव इति ता यत्समुद्रं गच्छन्ति
तेनाग्रेगुवो ऽग्रेपुव इति ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षं

यन्ति तेनाग्रेपुवो ऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिᳬ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवमिति साधु यज्ञᳬ साधु यजमानमित्येवैतदाह ॥७॥ युष्मा ऽ इन्द्रो ऽवृणीत वृत्रतूर्येऽइति । एता उ हीन्द्रमवृणात वृत्रेण स्पर्द्धमान एताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह युष्मा ऽइन्द्रो ऽवृणीत वृत्रतूर्येऽइति ॥८॥ यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्येऽइति । एता उ हीन्द्रमवृणात वृत्रेण स्पर्द्धमानमेताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्येऽइति ।९। प्रोक्षिताःस्थेति । तदेताभ्यो निह्नुतेऽथ हविः प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत् करोति ॥१०॥ स प्रोक्षति । अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तद् यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोत्येवमेव यथापूर्वᳬ हवीᳬषि प्रोक्ष्य ॥११॥ अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति । दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायाऽइति दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति तद्यदेवैषामत्राशुद्धस्तक्षा वान्यो वामेध्यः कश्चित्पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति तस्मादाह यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति ॥१२॥

पवित्रे करोति—"पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ" (१ अ. १२ मं.) इति । यज्ञो वै विष्णुः । यज्ञिये स्थ इत्येवैतदाह ॥ ते वै द्वे भवतः । अयं वै पवित्रम्—योऽयं पवते । सोऽयमेक इवैव पवते । सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ्च, प्रत्यङ् च । ताविमौ प्राणोदानौ । तदेतस्यैवानुमात्राम् । तस्माद् द्वे भवतः ॥

अथो अपि श्रीण्यस्युः। व्यानो हि तृतीयः। द्वे त्वेव भवतः। ताभ्यामेताः प्रोक्षणीः कृत्वा ताभिः प्रोक्षति। तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति। वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये—यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी। स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये—तस्माद् वृत्रो नाम॥ तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापोऽभिप्रसुस्राव। सर्वत इव ह्ययं समुद्रः। तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे। ता उपर्युपर्यतिप्रपुप्लुविरे। त इमे दर्भाः। ता अनापूयिता आपः। अस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव—यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्। तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्ति। अथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति। तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति॥ स उत्पुनाति—"सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" (१ अ० १२ मं०) इति। सविता वै देवानां प्रसविता, तत्सवितृप्रसूत एवैतदुत्पुनाति—अच्छिद्रेण पवित्रेणेति। यो वा अयं पवते—एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्। एतेनैतदाह। सूर्यस्य रश्मिभिरिति। एते वा उत्पवितारः—यत्सूर्यस्य रश्मयः। तस्मादाह—सूर्यस्य रश्मिभिरिति॥ ताः सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनोद्दिङ्गयति, उपस्तौत्येवैनाः, एतन्महयत्येव—'देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवः" (१ अ० १२ मं०) इति। देव्यो ह्यापःतस्मादाह—देवीराप इति। अग्रेगुव इति। ता यत्समुद्रं गच्छन्ति, तेनाग्रेगुवः। अग्रेपुव इति ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवः। "अग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्" (१ अ० १२ मं०) इति। साधु यज्ञं साधु यजमानम्—इत्येवैतदाह॥ "युष्माइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये" (१ अ० १३ मं०) इति एता उ हीन्द्रोऽवृणीत वृत्रेण स्पर्द्धमानः। एताभिर्ह्येनमहन् तस्मादाह—युष्मानिन्द्रोऽवृणीध्वं वृत्रतूर्य इति। "प्रोक्षिताःस्थ"—(१ अ० १३ मं०) इति। तदेताभ्यो निह्नुते। अथ हविः प्रोक्षति। एको वै प्रोक्षणस्य बन्धुः—मेध्यमेवैतत्करोति। स प्रोक्षति—"अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (१ अ० १३ मं) इति। तद् यस्यै देवतायै हविर्भवति—तस्यै मेध्यं

करोति । एवमेव यथापूर्वं हवींषि प्रोक्ष्य—अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति—"दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै"—(१ अ. १३ म) इति । दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै—"यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि" (१ अ. १३ मं) इति नयदेवैषामत्राशुद्धस्तष्टा वा, अन्यो वाऽमेध्यः कश्चित् पराहन्ति—तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति । तस्मादाह—यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति ॥

वह अध्वर्यु प्रादेशमात्र अप्रशीर्णाग्र (जिनका अग्रभाग विशकलित न हो) दो कुशाओं को अपने वाम हस्तमें लेकर दक्षिण हाथमें अन्य तीन कुशा लेकर इनसे वामहस्तथ उन दोनों कुशाओं के अग्रभाग का—'कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तगर्भौ कुशैश्छिनत्ति 'पवित्रेस्थ' (का०श्रौ०सू०अ०२। कं० २। ३० सू०) के अनुसार 'ओं पवित्रेस्थो वैष्णव्यौ' (हे पवित्र करने वाली कुशाओ आप यज्ञ सम्बन्धिनी बनिए) यह मन्त्र बोलता हुआ छेदन करताहै । इस प्रकार मन्त्र शक्ति द्वारा अध्वर्यु इन दो कुशाओंमे यज्ञ सम्बन्ध डालता हुआ उन्हें पवित्र बनाताहै ॥ यज्ञ विष्णुहै । आप याज्ञिय बनें—मन्त्र से यही कहा गया है ॥१॥

पूर्व कथनानुसार वे कुशाएं दो होतीहै । यह पवित्रहै जो कि (अन्तरिक्ष मे) वह रहाहै । यह पवित्र (वायु) (प्रकृति मण्डलमें) एकसा बन कर ही वह रहाहै । यह एक रूपसे वहने वाला पवित्र पुरुषमें प्राङ् और प्रत्यङ् रूपसे प्रविष्ट होरहाहै । यही दोनो प्राणोदान है । इसी प्राणोदान की यह कुशाएं प्रतिकृति है । अतएव यह दो होतीहै ॥२॥

अथवा 'त्रीन्वा' (का० श्रौ० २ । २ । ३१) के अनुसार यह कुशाएं तीन होनी चाहिएं । क्योंकि (प्राण उदान से अतिरिक्त) तीसरा व्यान और है । वस्तुतस्तु कुशाएं दो ही होतीहैं । इन दोनो से प्रोक्षणी पानीयों

को पवित्र कर (पवित्र कुशाग्रोंसे पवित्रीकृत) इन प्रोक्षणी पानियोंसे (अध्वर्यु यज्ञिय द्रव्यों का) प्रोक्षण करता है। सो जोकि अध्वर्यु इन दोनों कुशाग्रों से प्रोक्षणी पानियों को पवित्र करताहै। उसकी उपपत्ति बतलातेहैं। अर्थात् कुशाग्रोंसे पानीको क्यों पवित्र किया जाताहै? इसका वैज्ञानिक रहस्य बतलातेहैं ॥३॥

इस द्यावा पृथिवी के बीच में जो कुछहै, उस सबको चारों ओर से घेर कर वृत्रासुर सोगया। वह सबका संवरण कर सोगया अतएव वह 'वृत्र' नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥४॥

उसको इन्द्रने मार डाला। इन्द्रसे मरा हुआ वृत्र (मुर्दा बनने से) सड़ान को प्राप्त होता हुआ चारों ओर पानियों की तरफ चूगया। यह समुद्र सर्वत्र व्याप्त है। सब ओर फैले हुए उन पानियोंमें से कुछ पानियों ने (उस दुर्गन्धयुक्त वृत्रसे) घृणा की। घृणा करते हुए वे पानी (उस आपोमय समुद्रके) ऊपर ऊपर तैरने लग गए। (बस वृत्रसे घृणा कर ऊपर ऊपर तैरने वाले वही पानी) यह दर्भ है। दर्भरूप पानी (वृत्रसे अलग होजाने के कारण) अनापूयित (दुर्गन्ध रहित अतएव स्वच्छ) है। एवं (बीभत्सा करने वाले इन पानियोंसे बाकी बचे हुए जो पानी हैं वे) इतर दुर्गन्धयुक्त पानियोंमें संसृष्टहै—जिन इतर पानियों की ओर पूति भावापन्न वृत्र झुक गयाथा। (आज जो पानी प्रोक्षण कर्म केलिये इस यज्ञमें रक्खाहै, वह उन इतर पानियोंके संसर्गसे दूषित अतएव अमेध्य हो-रहाहै) बस यह अध्वर्यु पवित्र मेध्य अब्रूप इन कुशाग्रोंसे इन पानियोंके उसी दूषित भावको हटाताहै। (जब पवित्र दर्भका इस प्रोक्षणी पानीसे सम्बन्ध करादिया जाताहै तो यह मेध्य बनजाताहै। इन मेध्य प्रोक्षणियोंसे ही अध्वर्यु प्रोक्षण करताहै। इसीलिये (दूषित भावको हटानेके लियेही)

इन कुशाओंसे प्रोक्षणी पानियोंका सम्बन्ध कराया जाताहै । दर्भोत्पवनकी यही उपपत्तिहै ।५।

(उत्पवन क्यों करना चाहिये—इसका उत्तर होचुका—अब उत्पवनकी पद्धति बतलातेहैं—) वह अध्वर्यु 'हविर्ग्रहण्यामपः कृत्वा ताभ्यामुत्पुनाति' सवितुर्व.' (का.श्रौ.२।३।३२) के अनुसार अग्निहोत्रहवणी नामसे प्रसिद्ध हविर्ग्रहणीमें (जिसमें हविर्द्रव्य डालाजाताहै वह पात्रही— 'हविर्ग्रह्यते यस्यां' इस व्युत्पत्तिसे हविर्ग्रहणी कहलातीहै) प्रोक्षणी पात्रस्थ पानी डालकर उस पानीमेंसे दोनो हाथोंके अंगुष्ठ और अनामिकासे उनदोनों कुशाओंको पकड़कर उनको 'सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः—यह मन्त्र बोलताहुवा डालदेताहै । सविताहै वता देवताओंके प्रसविताहैं । प्रेरकहैं । (ऐसी अवस्थामें 'सवितुर्व.' इत्यादि बोलताहुआ अध्वर्यु सवितासे प्रसूत (प्रेरित) होकरही पवित्र डालताहै । यह जो बहरहाहै वही छिद्ररहित होनेसे अच्छिद्र पवित्रहै । इसी अभिप्रायसे 'सूर्य्यस्य रश्मिभिः'

---

१. *अग्निहोत्र हवण्या चतुरो मुष्टीर्निर्वपति (आप.श्रौ.१।१०।१०)के अनुसार हविर्ग्रहणी ही अग्निहोत्र हवणी नामसे प्रसिद्धहै ।*

२ *अपाप्रणयन कर्म्ममें 'प्रणीता पात्र' का उल्लेख कियागयाहै । आगेजाकर यह दोनों पवित्र (कुशायें) पवित्रे निधाय प्रणीतासु (का.श्रौ.२।७।१८)के अनुसार उसी प्रणीता पात्रमें डाली जानेवालीहैं । उससे पहिले पहिले यह कुशाएं 'ता स्थाने तयोः' (का.श्रौ.२।३।३४) के अनुसार अग्निहोत्रहवणीस्थ पानीमेंही प्रतिष्ठित रहतीहैं । आगे जो प्रोक्षण कर्म्म होने वालाहै वह इसीमेंसे उठा उठाकर किया जायगा । यहां केवल इतनाही बतलाना है कि एक पात्रमें प्रोक्षण कर्म के लिये जलभरा रहताहै । वह पात्र 'प्रोक्षणीपात्र' नामसे प्रसिद्धहै । उसमेंसे अग्नि होत्रहवणीमें जल लेकर यथाविधि दोनो कुशाएं उसमें डालदेनी चाहिये ।*

कहाहै । "सविताहेवताकी अनुज्ञामें अच्छिद्र पवित्रसे और सूर्यकी रश्मियों से मैं आपको (हविर्ग्रहणीस्थ पानीकों—कुशाप्रक्षेपद्वारा) पवित्र बनाताहूं" मन्त्र का यही अक्षरार्थहै ॥६॥

उत्पवनानन्तर 'मध्ये कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति देवीराप' (२।३।३४)के अनुसार वह अध्वर्यु पवित्र (कुश) युक्त प्रोक्षणी पानीसे भरीहुई अग्निहोत्र हवणीको अपने दहिने हाथमें रखलेताहै । अनन्तर—'देवीरापो अग्रेगुवोऽग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे—यज्ञपतिं सुधातुं देवयुवम् । युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये(हे दिव्य भावापन्न आप! आप आगे आगे वस्तुओंको पवित्र करने वालीहैं । अथवा सर्वप्रथम सोमपीनेके कारणभी आप अग्रेपूहै । ऐसे आप इस सद्वर्त्तमान यज्ञको आगे बढाइए । यज्ञके साथही यजमानकोभी आगे (स्वर्गकी ओर) बढाइए, जोकि यज्ञपति यजमान दक्षिणादिसे यज्ञको शोभन प्रकारसे सुसंपन्न करनेके कारण सुधातुहै । एवं अग्निभूतद्वारा अपने आध्यात्मिक देवताओंको अधिदैवत मण्डलके साथ मिलानेके कारण देवयुवहै । वृत्रासुरके मारनेकेलिये इन्द्रने आपका वरण कियाहै । एवं आपने वृत्रके प्रति भावपर विजय प्राप्त करनेकेलिये इन्द्र का वरण कियाहै) यह मन्त्र बोलता हुआ प्रोक्षणीपात्र युक्त अपने उस दहिने हाथको ऊंचा उठाताहै । ऐसा करता हुआ अध्वर्यु उन पानियोंकी स्तुतिही करताहै । 'आप ऐसेंहै—ऐसेंहै' इत्यादि रूपसे उनकी महिमाका बखान करताहै । इन्द्रागा सम्बन्धसे, किंवा अन्तरिक्षके योगसे उत्पन्न अतएव दिव्य भावापन्न होनेसे सम्बन्धसे यह पानी दिव्य बनगयेहैं । अतएव इनके लिये 'देवीरापः' कहाहै । यह पानी आगे आगे बढकर समुद्रमें मिलजातेहैं. अतएव इन्हें अग्रेगु कहाहै । सोमराजाके भागको सबसे पहिले यही खातीहैं अतएव इन्हें 'अग्रेपू' कहाहै । 'अग्रऽइममद्य०' इत्यादिसे यज्ञ सुसंपन्नहो यज्ञकर्त्ता यजमानभी स्वर्गादि संपत्तिसे युक्तहोकर सुसंपन्नहो यही कहागयाहै ७॥

वृत्रसे स्पर्द्धा करतेहुये इन्द्रने उन्हींकी सहायतालीथी । इन्हींकी सहायतासे इन्द्रनें वृत्रासुरको माराथा–इसी अभिप्रायसे 'युष्मा इन्द्रो०' इत्यादि कहाहै ॥८॥

वृत्रके साथ स्पर्द्धा करतेहुए इन्द्रका इन्होंने वरण कियाथा । इन्हींके वरणसे इन्द्र वृत्रको मारनेमें समर्थ हुएथे–इसी अभिप्रायसे 'यूयमिन्द्रमवृणीध्वं' यह कहाहै ॥९॥

इसके अनन्तर वह अध्वर्यु 'प्रोक्षिता स्थेति तासां प्रोक्षणम्' (का० श्रौ.२।३।३५) के अनुसार–अग्निहोत्र हवणीके एकदेशसे पानी लेकर इससे अथवा अलग रक्खेहुए प्रणीता पात्रमेंसे प्राचीन जललेकर उसमें 'प्रोक्षितास्थ' (आपसे आगेका प्रोक्षण कर्म्म होने वालाहै. अतःउससे पहिले आप प्रोक्षित होजाईए) यह मन्त्र बोलताहुआ अग्निहोत्रहवणीस्थ पानियोंका प्रोक्षण करताहै । इसप्रकार सबका प्रोक्षण करनेवाले इन प्रोक्षणियोंका प्रोक्षण करताहुआ अध्वर्यु इनमें निम्नन करताहै । जो स्वयं असंस्कृत होतेहैं, वे अन्यका संस्कार करनेमें असमर्थहैं। प्रोक्षणद्वारा आज अध्वर्यु. इन प्रोक्षणी पानियोंमेंसे इसी भावको तिरोहित करताहै । प्रोक्षणसे वास्तवमें इसपूर्व भावका निन्हव (विलयन) होजाताहै ।

इसके अनन्तर वह अध्वर्यु 'हविश्च "ऽग्नयेत्वा" ऽग्नीषोमाभ्यांत्वा' (का.श्रौ.२।३।३६) के अनुसार यथाविधि हविका प्रोक्षण करताहै । (आगे

१ अध्वर्यु ब्रह्माकी ओर रुखकरके ब्रह्मन् ! हविः प्रोक्षिष्यामि. बोलताहुआ प्रोक्षणके लिये आज्ञा मागताहै । उत्तरमें ब्रह्मा–प्रोक्ष यज्ञ देवता वर्द्धयत्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानोस्तु । सप्तऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि' यह धीरेसे बोलकर 'प्रोक्ष' यह आज्ञावचन बोलताहै । आज्ञानुसार अध्वर्यु-अग्नयेत्वा जुष्टं प्रोक्षामि' अग्नीषोमाभ्यांत्वा जुष्टं प्रोक्षामि इत्यादि रूपसे यथादैवत हविर्द्रव्यका प्रोक्षण करताहै ।

स्थान स्थानपर प्रोक्षण कर्म्म आवेगा) इस प्रोक्षणका एकमात्र तात्पर्य यही हैकि प्रोक्षणमे अध्वर्यु उस द्रव्यको मेध्य (संस्काराधान योग्य) ही करताहै ॥१०॥

क्यों प्रोक्षण किया जाताहै? इसकी उपपत्ति बतलादीगई। अब पद्धति बतलातेहैं—वह अध्वर्यु 'अग्नये जुष्टं प्रोक्षामि' (अग्निके लिये प्रियतम हवि का प्रोक्षण करताहूं) यह मन्त्र बोलताहुआ हविका प्रोक्षण करताहै। 'अग्नये'. इत्यादि बोलताहुआ अध्वर्यु—जिस देवताके लिये वह हवि होतीहै—उसीके लिये उसे मेध्य करताहै। एवमेव यथापूर्व (जिसदेव क्रमसे हवि-ग्रहण कियाथा उसी क्रमसे) हवियोंका प्रोक्षणकर—॥११॥

अनन्तर—'पात्राणि दैव्याय' (का.श्रौ.२।३।३७) के अनुसार—'दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै, यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदंवस्तच्छुन्धामि' यहमन्त्र बोलताहुआ यज्ञपात्रोंका (उलूखल मूसलादि १०यज्ञायुधोंका) प्रोक्षण करताहै। यह यज्ञपात्र देवयजनरूप दैव्य कर्मके लियेही शुद्धकिये जातेहैं. अतएव 'दैव्याय' इत्यादि कहाहै। पात्र निर्माण करतेसमय पात्रनिर्म्माता तक्षा के दोषसे इनमें जो कुछ अपवित्रता आजातीहै एवं वायु आदिके द्वारा अथवा अन्य मनुष्योंके दोषसे—अशुद्ध हस्तादिके संसर्गसे जो अमेध्य भाव

१ प्रोक्षणानन्तर—'अन्तरेण प्रोक्षणीर्निधाय' (का.श्रौ.२।३।३८) के अनुसार अन्तर प्रदेशमें—(प्रणीता पात्र और आहवनीयके बीचमें—वेदिके ऊपर)यह प्रोक्षणीपात्र रखदिया जाताहै।

इन पात्रोंमें प्रविष्ट होजाताहै वही इस प्रोक्षण कर्मसे हटाया जाताहै । इसी अभिप्रायसे—यद्वोऽशुद्धाः इत्यादि कहाहै ॥१७॥

इति तृतीयंब्राह्मणं समाप्तं—प्रथमेप्रपाठके प्रथमाध्याये वा

३

"देवाननु विधा वै मनुष्याः" "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" इत्यादि निगम हमारे इस वैध यज्ञ को उन नित्य प्राण देवताओंसे होने वाले नित्य-यज्ञकी प्रतिकृति बतलातेहैं । प्राणदेवता अग्नीषोमीय यज्ञ द्वारा जैसे हमारा निर्म्माण किया करतेहैं, वैसे ही उन्हीं नियमों द्वारा उन उन पदार्थों के संयोग से ऋत्विजों की सहायतासे अपने अध्यात्म का उस आधिदैवत यज्ञ के साथ सम्बन्ध कर देतेहैं । दूसरे शब्दोंमें हम अपना नया दैवात्मा बना कर उसे १७ हवें स्वर्गमें प्रतिष्ठित कर देतेहैं । त्रिणाचिकेत स्वर्ग नामसे प्रसिद्ध सप्तदश स्वर्ग में प्रतिष्ठित यज्ञकर्त्ता इस यजमान का दैवात्मा भूलोकस्थ यजमान के मानुषात्मासे बद्ध रहताहै । दोनों के प्राण उसी यज्ञातिशयसे परस्पर बद्ध रहतेहैं । आयुर्भोगपर्य्यन्त इसी भूमण्डल पर रहके अनन्तर उसी दैवात्मा के आकर्षणसे यजमान का यह मानुषात्मा उसी त्रिणाचिकेत स्वर्ग मे प्रतिष्ठित हो जाताहै । इससे बतलाना ठगं रहा कि यज्ञ प्रजोत्पत्ति का साधनहै । यज्ञसे प्रकृतिवत् नया आत्मा उत्पन्न किया जाताहै । अतएव प्राकृतिक यज्ञ में प्राणोदानादि जिन प्राणों का सम्बन्ध होताहै, उनका इस यज्ञमेंभी आदिभौतिक पदार्थों के द्वारा सम्बन्ध कराया जाताहै । यज्ञमें दर्भ—पुरोडाश आदि जितने पदार्थ लिए जातेहैं सबकी-प्रकृतियज्ञके साथ समानताकी जातीहै । यदि इन पदार्थोंमें वैषम्य होजाता

है तो इन पदार्थोंसे उत्पन्न होने वाले देवात्माके अवयवों में उसी प्रकारसे वैषम्य होजाताहै—जैसेकि शुक्र शोणितके सम्बन्धसे होने वाले प्रजायज्ञके वैषम्यसे उत्पन्न होने वाली संतान के अवयवोंमें वैषम्य होजाताहै। इसलिए यज्ञिय पदार्थों मे बहुत ध्यान रखने की आवश्यकताहै। यज्ञिक पदार्थों में प्रविष्ट आसुर भाव को दूर करने के लिए पवित्रीकरण होताहै। कुशा को बीचमेंसे छेदकर उसके दो भाग कर लिए जातेहैं। मूल एक रहताहै। अग्रभागके दो खण्ड कर दिए जातेहैं। अनन्तर प्रोक्षणी पानीयोंमे उस कुशा को डाल दिया जाताहै। समय समय पर इसी पानीसे इस कुशा द्वारा प्रोक्षण कर्म्म किया जाताहै। संसार में कितने ही पदार्थ यज्ञियहैं। कितने ही अयज्ञियहैं। यद्यपि 'अग्नीषोमात्मकं जगत' इस सिद्धान्त के अनुसार सभी पदार्थ यज्ञियहैं। तथापि जिन पदार्थोंमें आसुर प्राणकी प्रधानता रहतीहै, वे पदार्थ अयज्ञिय कहलातेहैं। एवं जिनमें देवप्राण की प्रधानता रहतीहै वे यज्ञिय कहलातेहैं। इस प्रकार देव और असुर भेदसे सर्ग दो भागोंमें विभक्त हो जाताहै। दैवीसृष्टि यज्ञियाहै। आसुरी सृष्टि अयज्ञियाहै। आसुरी सृष्टिके अयज्ञिय पदार्थ यदि यज्ञ मे प्रविष्ट होजातेहैं तो आसुरभावापन्न होता हुआ यज्ञ नष्ट होजाताहै। इसलिए यज्ञमें देवप्राण प्रधान याज्ञिक पदार्थ ही लिए जातेहैं। विष्णु सोममयहै। सोम यज्ञ का अन्यतम पदार्थ है। उसी सोमात्मक विष्णुका नाम यज्ञहै जैसाकि पूर्व के अङ्कोंमें (२ वर्ष ६ अंक ४५८ पृष्ठ से ४६३ पृष्ठ तक) विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। उसी विष्णुरूप पारमेष्ठ्य सोम भागसे दर्भ उत्पन्न हुएहैं जैसाकि अनुपद में ही बतलाया जाने वालाहै। ऐसी अवस्था में हम दर्भ को अवश्य ही यज्ञिय पदार्थ मानने के लिए तय्यार है। यज्ञिय होते हुए पवित्रहैं। पवित्र नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मणस्पत्य सोम ही इनका प्रभवहै। पारमेष्ठ्य विष्णु सोमनगीहै। इधर दर्भ भी सोमवंशीहै। दर्भ यज्ञिय पदार्थों

में भी श्रेष्ठ तमहै । पवित्रहै । अन्य यज्ञिय पदार्थों में जो दोष आजाते हैं उन्हें निकालने की शक्ति भी इसमेंहै । इसीलिए पवित्र कर्म्म के लिए पवित्र तम इन यज्ञिय दर्भों का इस यज्ञ में ग्रहण किया जाताहै । इसी सारे विज्ञान को लक्ष्य मे रखकर—

'यज्ञियेस्थ' इत्येवैतदाह" यह कहाहैं ॥

१

हमारे शरीरमें निरन्तर आसुरप्राणका आक्रमण होता रहताहै । आत्म-विरोधी धर्म्मका नामही आसुरप्राणहै । हमारे उपयोगमे आनेवाले जितनेभी पदार्थहैं उनसबमे आत्माके अनुकूलभी सामग्रीहै, प्रतिकूलभी सामग्रीहै । जिनमें प्रतिकूल सामग्री अधिकमात्रासे रहतीहै उनको हम अपने उपयोगमें नही लेसकते । जिनमें प्रतिकूल सामग्री कम होतीहै वही हमारा भोग्यहै । हैं प्रत्येकमें दोनो । इसी आधारपर—

"गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी"

यह कहाजाताहै । रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द पांच इन्द्रियार्थ हैं । पांचोंमें दोनों भावहैं । रूप अच्छाभी होताहै बुराभी होताहै । रस (जायका) अच्छाभीहै, बुराभीहै । यही परिस्थिति आगेके विषयोमेंहै । अन्नमें जो भौतिक भागहै. वह आत्माका विरोधी है । रसभाग अविरोधीहै । परन्तु वह रस विना अन्नके नहीं मिलता. अतएव आत्माको वाध्य होकर उसे लेना पड़ताहै । रसभागको रखलेताहै, मलभा को छोडदेताहै । आप शरीरपर जो रोमकूप देखते हैं वह अग्निका मलभाग है । अग्नि रोमकूपोमेंसे वाहर निकलताहै । अन्तरिक्षमें व्याप्त यमवायुका पर आघात होताहै । उसी आघातसे रक्तरूपसे वाहर निकलने वाला

ताग्नि काला पड़जाताहै। उसीका नाम केशलोमहै। जिसके जितने अधिक बाल होतेहै उसे सर्दी उतनीही कम लगतीहै। इसका कारण यहीहै कि बाल अग्निका उच्छिष्ट (प्रवर्ग्य) भागहै। अतएव उस ओर न जाकर वह शरीरमें प्रतिष्ठित रहताहै। अतएव सर्दी नहीं मालुम होती। कम्बलका गरम समझा जाताहै। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिसे कम्बल ठढेसे ठढाहै। होता क्याहै—कम्बल अग्निकी विष्ठाहै। छोडाहुआ भागहै। अतः उसके सम्बन्धसे अग्नि बाहर नहीं निकलने पाता। शरीरमें पूर्णमात्रासे अग्नि बनारहताहै। जो अपने केश जल्दी जल्दी कटवाया करतेहैं, उनका अग्नि शुद्धमार्ग मिलनेसे बाहर निकला करताहै, परन्तु जो केशश्मश्रु बढ़ेहुए रखतेहैं, उनका अग्नि बाहर नहीं निकलता इसी आधारपर ब्रह्मचारीको पञ्चकेश रखनेका आदेशहै। अग्नि बलहै। जिसके शरीरमे अग्निकी मात्रा जितनी अधिक होतीहै, वह उतनाही अधिक बलवान होताहै। अतएव उसकी संतानभी बलवान होतीहै इसी विज्ञानके आधारपर—

"केशश्मश्रूधारयतामग्र्या भवति संततिः"

यह कहाजाताहै। साथहीमें केश नखादि आत्माके विरोधी भी है। अतः चूडाकरण संस्कारके अनन्तर आत्माको पवित्र रखने के लिये—'क्लृप्तकेश नखश्मश्रुः शान्तो दान्तः शुचिव्रतः' के अनुसार इनको कटवाते रहनाही उचितहै। इससे प्रकृतमें हम यही बतलाते हैं कि आत्माको अपने भोग्य पदार्थ के साथ प्रतिकूल सामग्रीभी लेनी पड़तीहै। दिनकी गरमी, रातकी ओस दोनोंके समन्वयसे सब पदार्थ बनेहैं। साराविश्व, एवं विश्वान्तर्गत सारेपदार्थ, अहोरात्र यज्ञसे निष्पन्न हुयेहैं। इनमें रात्रिमें विषभाग रहताहै। अतएव रात्रिको 'सगरा' कहाजाताहै। सूर्यास्तसे मध्यरात्रितक विषैलाग्रह (गैस) प्रकृतिमण्डलमें व्याप्त रहताहै।

रात्रिके १२ बजे बादसे पवमानसोमकी प्रधानता होजातीहै। यह पवमानसोम पाश्चात्यविज्ञानमें 'आक्सिजन' नामसे प्रसिद्धहै, एवं रात्रिके पूर्वभागमें व्याप्त रहनेवाला विष 'नाइट्रोजन' नामसे प्रसिद्धहै। पूर्वरात्रिमें. ओषधि वनस्पति आदि सबमेंसे यहविष निकला करताहै। यही विष सारे पदार्थोंमें व्याप्त. होजाताहै। सुतरां हमारे भोग्यपदार्थोंमें भी विषकी सत्ता सिद्ध होजातीहै। हम जोकुछ खातेहैं सबमें विष रहताहै। परमेश्वरकी रचना बड़ी अद्भुतहै। हमारे कण्ठमें उसनें एक ऐसा यन्त्र लगादियाहै कि हम जोकुछ खातेहैं उसका विषभाग उसयन्त्रमें रहजाताहै। यन्त्र भुक्तान्नके अमृत विषभागका विश्लेषण (एनेलाइज) करदेताहै! अमृतभाग गलेके नीचे उतर जाताहै। विषभाग. वहीं भस्मसात् होजाताहै। यदि मात्रासे अधिक विष खालिया जाताहै तो वह यन्त्र फेल होजाताहै। इस विषको अपनेमें रखनेवाला वह यन्त्र ब्राह्मणग्रन्थोंमें 'विष' नामसेही. प्रसिद्धहै। गलेकेपास जोएक ऊंची हड्डी निकली रहतीहै. जोकि लोकभाषामें 'घाटा टेंटू' आदि नामोंसे प्रसिद्धहै, उसीको विष कहतेहैं। प्रत्येक वस्तु शिवशक्तिमयहै[1]। सारे पुरुष शिवहैं। मस्तकमें इस शिव सत्ताका साम्राज्यहै। असी—वरणाके मध्यमें प्राण और भ्रूयुगलकी संधिमें विज्ञानसंपरिष्वक्त प्रज्ञानमूर्त्ति साम्बसदाशिव प्रतिष्ठितहैं। भोग्यपदार्थों के द्वारा आने वाले विष से सारे देवता (इन्द्रिय देवता) व्याकुल होपड़तेहैं। उनकी रक्षाकेलिए आध्यात्मिक शिव उस विषको अपनें कण्ठमें ही प्रतिष्ठित करलेतेहैं। विषस्थानमें सारा विष प्रतिष्ठित होजाताहै। बाकी बचाहुआ अमृतभाग देवता लेलेतेहैं। इसी आध्यात्मिक नीलकण्ठ महादेवकी विष सत्ताका निरूपण करती हुई श्रुति कहता है—

---

१ प्रत्येक वस्तु शिवशक्तिमय कैसेहैं—इसका विशद निरूपण कल्याणके शक्त्यङ्कके 'दशमहाविद्या' नामके निबन्धमें देखना चाहिये—

"विषं प्राशित्रम । स यत् प्राशित्रमवद्यति–यथैव तत् प्रजापतेराविद्धं निरकृन्तन्नेवमेवैतस्यैतद्यदेष्टिं, यद्ग्रथितं, यद्वरुण्यं तन्निष्कृन्तति" (शत० १।७।४।७) इति ।

हम सात प्रकारके अन्न खातेहैं। सातोंमें विषहै। यद्यपि विषयन्त्र इनके विषभागको हटादेताहै–परन्तु तबतक विषयन्त्र इस विषभागको हटानेमें सर्वथा असमर्थहै, जबतककि यह प्राणोदानकी सहायता नलेले । प्राणोदानको साथ लेकरही विषको हटानेमें समर्थ होताहै । अपिच–विषसर्वात्मना विषके नहीं हटासकता । अनुशय रूपसे विष उदरमें चलाही जाताहै । यदि अनुशयरूपसे नजाताती मनुष्य कभी बीमार नहीं होता । बस कण्ठसे नीचे उतरे हुए विषको दूर करना इस विषयन्त्रके सामर्थ्यके बाहरहै । वहांतो प्राणोदानही काम करतेहैं उदानसे यहां अपान अभिप्रेतहै अपान वायु उदरके विषको मूलद्वारसे बाहर फेंकता रहताहै । एवं प्राण ऊपरसे शुद्ध वायुको लाकर सर्वाङ्गशरीरकी शुद्धि किया करताहै । अतएव प्राणोदान दोनोंको हम शारीर आसुरभावापन्न दोषोंको दूरकरनेवाला माननेके लिये तय्यारहैं । पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्तौम्यत्रिलोकीमें यह तीन लोकहै । पृथिवीमें भी प्राणहै । अन्तरिक्षमेंभी प्राणहै । द्युलोकमें भी प्राणहै । यही तीनों क्रमशः–अपान, व्यान, प्राण, नामसे प्रसिद्धहै । तीनोंमें अपान और प्राण दोनो चिचाली प्राणहै । मध्यस्थ व्यान प्राण आसीन (स्थिर) प्राणहै पार्थिव अपान अंगिरा प्राणहै । –

इत एत उदारुहन् दिवःपृष्ठान्यारुहन् ।
प्रभूर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः' ॥

(अथर्व संहिता · ····) के अनुसार–

चूंकि यह पार्थिव अपानरूप अंगिरा ऊपर द्युलोककी ओर जाताहै

अतएव इसे 'उदान' कहाजाताहै । जैसे पार्थिव प्राण ऊपर जाताहै. ठीक इसके विपरीत द्युलोकस्थ सावित्र आदित्य प्राण द्युलोकसे पृथिवीकी ओर आया करताहै । इस प्रकार इस अंगिरा और आदित्य प्राणकी मध्यके व्यानके आधारपर निरन्तर स्पर्द्धा होती रहतीहै । अंगिराप्राण पार्थिव मण्डल की वस्तुहै । यह द्युलोककी ओर जानेके कारणही 'उदान' कहलाताहै । एवं, आदित्य प्राण सौर मण्डलकी वस्तुहै । इसी अभिप्रायसे श्रुति कहतीहै—

> इमे हि द्यावापृथिवी प्राणोदानौ । (शत.४।३ १।२२)
> प्राणोदानौ वै द्यावापृथिवी" । (शत.१४।२।२ ३६) इत्यादि

याज्ञिक परिभाषामें मध्यका व्यान 'उपांशुसवन' कहलाताहै । अपान, अन्तर्य्याम कहलाताहै, एवं प्राण उपांशु कहलाताहै। उपासवन एकस्थिर शिलाहै ।प्राण अपान दोनों ग्रावा (लोढी) है । दोनोंसे उस व्यानशिलापर उपांश्वन्तर्य्याम नामका घर्षण व्यापार होताहै । उधरसे प्राण आताहै । इधरसे अपान जाताहै। इस प्राणापानके घर्षणमें तापधर्म्मा नया पड्ड वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होताहै । प्राण, अपान, व्यान तीनोंही मौलिक आग्नेय प्राणहै । पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यु. इन तीनों त्रिलोकोंके अपान-व्यान-प्राण इनतीनों नरोंके (नायकोंके) घर्षणोंसे यह तापधर्म्मा अग्नि उत्पन्न होताहै । जबतक शरीरमें तापधर्म्मा वैश्वानर अग्नि स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहताहै. तब तक अन्नादिका परिपाक यथावत् होतारहताहै। एवं तभीतक शरीर स्वस्थ एवं दोषरहित रहित रहताहै । जिसदिन शरीरकी यहगर्मी निकल जातीहै. उसी क्षण सारासरीर वारुण होनाहुआ सड़ने लगताहै । शरीर तभीतक पवित्र रहताहै. जबतककि इसमें वैश्वानर प्रतिष्ठित रहताहै । एवं वैश्वानर तभी तक प्रतिष्ठित रहताहै जबतककि प्राणापान व्यानपर उपांश्वन्तर्य्याम करते रहतेहैं । अतः हम प्राणोदानकोही पवित्र धर्मका अधिष्ठाता माननेके लिए

तव्यारहैं। प्राणोदानही परम्परया शरीरको पवित्र रखतेहैं। ऊपरसे प्राण आताहै इसके दबावसे अपान नीचेजाताहै। चरमसीमापर पहुंचकर अपान लौट कर वापस प्राणके धक्का लगाताहै। इससे प्राण ऊपर चढताहै । वह चरमसीमापर पहुंचकर पुनः नीचेकी ओर आकर अपानपर आक्रमण करताहै। इस परस्परके आक्रमणकी सीमा मध्यका व्यानहै । अपानकी दौड़ मध्यस्थ व्यानतकहै। इसदौड़से प्राण अपान दोनोंकी दोदो अवस्थाएंहोजातीहैं। पार्थिव अंगिराप्राण ऊपर जाताहुआ समान कहलाताहै एवं वही नीचे जाताहुआ 'अपान' कहलाताहै । एवमेव दिव्य सावित्र प्राण नीचे आताहुआ प्राण कहलाताहै। व्यानसे टकराकर ऊपर जाताहुआ वही 'उदान' कहलाने लगताहै। इसप्रकार दोके चार भेद होजातेहैं। प्राण, उदान दोनों दिव्यहैं। अपान समान दोनो पार्थिवहैं। मध्यका व्यान आन्तरिक्ष्यहै यहांपर श्रुतिने पार्थिव प्राणके लिये अपान' शब्दका प्रयोग नकर उदान शब्दका प्रयोगकियाहै। इसमें कुछ निगूढ रहस्यहै । वस्तुतः उदान प्रधान रूपसे ऊपर जातेहुए सौर दिव्य प्राणकाही नामहै । हमजो श्वास लेतेहैं. वह प्राणहै। श्वासवायु ऊपरसे आताहै। श्वास लेकर उसे छोड़तेहैं। यही प्रश्वासहै। इसकी गति ऊपरकी ओरहै। अतएव इसे उदान कहना न्याय संगतहै। श्वासप्रश्वास दोनों दिव्य लोककी वस्तुहै। दोनो क्रमशः प्राणोदानहै। इस श्वास प्रश्वाससेही शरीरगत दूषित वायु शुद्ध हुआकरताहै। साथहीमें पार्थिव अपानभी नीचे जाताहुआ मलमूत्रादिको निकालकर शरीर को शुद्ध रखताहै। उधर कण्ठस्थ विषयन्त्रभी भोग्य वस्तुके विषको निकालताहै। इसप्रकार हमारे शरीरको शुद्ध पवित्र रखनेवाले श्वास प्रश्वास रूप दिव्य प्राणोदानहैं। पार्थिव अपानहै। कण्ठगत विषयन्त्रहै । श्रुतिको तीनोंका ग्रहण करनाहै। ऐसी अवस्थामें यदि वह 'प्राणापानौ' कहती तो. पार्थिव अपान. और प्राणका तो ग्रहण होजाता. परन्तु प्रश्वासरूप सौर

उदान छूटजाता। इसका अपानसे ग्रहण होनही सकता। क्योंकि अपान शब्द पार्थिव प्राणमेंही निरूढहै। साथहीमें विषयन्त्रकाभी ग्रहण नही होता इनदोनों काभी ग्रहण होजाय–इसलिए प्राणापानौ न कहकर श्रुतिमें प्राणोदानौ कहाहै। पार्थिव प्राण जैसे नीचे जाताहै. वैसे पूर्वमन्त्रके अनुसार ऊपरभी जाताहै। अतएव उसे हम उदानभी कहसकतेहैं। ऐसी अवस्थामें इस उदानशब्दसे सौर उदानकाभी ग्रहण होजाताहै। एवं पार्थिव अपानरूप उदानकाभी ग्रहण होजाताहै। बाकी बचनाहै विषयन्त्र। विषयन्त्रके बीचमेंसे ऊपरकी ओर जो. कण्ठनाडी जातीहै उसे 'तेजोनाडी' कहतेहैं। सौर उदान इसी नाडीसे ऊपर जाताहै। जैसाकि प्रश्नोपनिषत् कहतीहै–

अथ–एकया ऊर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्य लोकं नयति. पापेन पापम्। उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्। आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयति। तेजोह वा उदानः। तस्मादुपशान्त तेजाः (प्रश्नोपनिषत् ३ प्रश्न) इति॥

उसी तेजो नाडी में विषयन्त्र है। इस तेजमें से जाने वाले उदानके प्रभावसे ही विषयन्त्र विषको दूर करने में समर्थ होताहै। अतएव उदान शब्दसे हम इसकाभी ग्रहण करसकते है। पांच प्राणोंकी गणनामे प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान. यह कहाजाताहै। तीन प्राणोंकी गणनामें प्राण–व्यान–अपान यह व्यवहार होताहै। इस त्रित्व व्यवहारमें श्रुतिने अपान को उदान शब्दसे व्यवहृत कियाहै। जैसाकि निम्नलिखित निगमश्रुतियोंसे स्पष्ट होजाताहै—

---

१. *शतंचैका हृदयस्य नाड्यो तासा मूर्द्धानमाभिनिसृतैका।*
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्विड्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति'॥

(कठ) में मूर्धा भागकी ओर जानेवाली जो एकनाडीहै. वही उदानहै। इस विषयका विशद विवेचन हमारे लिखेहुए. कठ और प्रश्नके भाषा भाष्यमें देखना चाहिए।

१—स वा अयं त्रेधा विहितः प्राणः—प्राणोऽपानो व्यान इति (कौ० ब्रा० १३।६)

२—प्राणो वा अपानो व्यानस्तिस्रो देव्यः (ऐ० २।४)

३—त्रयो वै प्राणाः—प्राण उदानो व्यान इति (शत० ८।४।२।५)

४—प्राणो ह वा अस्य—उपांशुः । व्यान उपांशु सवनः । उदान एवान्तर्यामः (श० ४।१।१।१)

इन श्रुतियोंमें अपान—उदान शब्द एकही अर्थमें प्रयुक्त हुएहैं । अतः प्रकृतके उदान शब्दसे गौणरूपसे भौर उदान भौर विपर्ययत्वका ग्रहण करनेहुएभी हम प्रधानरूपसे पवित्र अपानकाही ग्रहण करेंगे । कारण इसका यही हैकि आगेजाकर श्रुतिनें इनेंके लिए प्राङ्—प्रत्यङ् शब्दका प्रयोग कियाहै । हृदयसे नीचेका भाग पश्चिमार्द्ध कहलाताहै । पूर्वभागही प्राङ्है । एवं पश्चिम भागही प्रत्यङ्है । प्रत्यङ् भागमें अपान प्रतिष्ठितहै । मध्यमें वामनावतार व्यान आसीनहै ।

२१ स्तोमः	१=प्राणः २=उदानः	=उपांशुग्रहः ... ... सौरप्राणौ द्युस्थानीयः=प्राङ्भागे प्रतिष्ठितः
१७ स्तोमः	३=व्यानः	=उपांशुसवनग्रहः ...आन्तरिक्ष्यो व्यानः=हृदये प्रतिष्ठितः
९ स्तोमः	४ = समान ५ = अपान	=अन्तर्यामग्रहः ... ... पार्थिवोदानः प्रत्यङ्भागे प्रतिष्ठितः

यह सारे प्राण वायुमयहैं । यही कारण है कि गरमीसे घबड़ाया हुआ मनुष्य खुली हवामें जाकर 'इस हवासे तो प्राणआगये' यह कहा करताहै । वायु मातरिश्वा नामहै । मरुत्, मरुत्वान, प्राण, वात आदि नियत नामहैं । जिस वायुका हमारे धक्का लगताहै उसे 'वात' कहाजाताहै । इसीमें पूर्वोक्त

सारेप्राण रहतेहैं यह वातवायु एकरूपसे इस विशाल अन्तरिक्षमें वहरहाहै। यद्यपि पार्थिव उदान और सौरप्राण दोनों इसमें विभक्तहै। परन्तु उनके प्राणरूप होनेसे प्रकृतिमण्डलमें हम उन्हें विभक्त नही देखते । वेही जब हमारे शरीरमें प्राङ् और प्रत्यङ् रूपसे प्रविष्ट होजाते हैं तो कार्य भेदसे अध्यात्ममें उनका भेद स्पष्ट होजाताहै। जिन पदार्थों से यजमानका नया शरीर बननें वालाहै उन पदार्थों को पवित्र बनाना आवश्यकहै। अध्यात्म और अधिदैवत यज्ञमें पवित्रता करनवाले एकरूप प्राणोदानहैं बस उसीकी प्रतिकृतिमें यहा पवित्र बनाए जातेहैं। प्राणोदानका मूल एकहै इसलिएतो यहां कुशाका मूल एक होताहै उस एक मूलमे वहां प्राणोदान रूप दो तूलहैं। इसलिए यहांभी एक कुश के तूलरूप अग्र भागका छेदनकर उसे दो भागों में विभक्त करदिया जाताहै। यह कुशा इस यज्ञके पदार्थों को प्रोक्षण द्वारा पवित्र करनें वाले प्राणोदानही है। दोनोंका मूल एक क्यों होताहै? एवं उनके दोभाग क्यो किये जातेहैं? इसकी यही सक्षिप्त उपपत्तिहै। इसी उपपत्ति विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

ताविमौ प्राणोदानौ। तदेतदस्यैवानुमात्राम्। तस्माद्‌द्वे भवत. यद्वेकहागयाँ

कितनेही ऋषियोंका मतहैकि तीन पवित्र होंने चाहिए। उनका अभिप्राय यही हैकि यहकुशा प्राणोदानकी प्रतिकृतिहै। प्राणोदान विना व्यान के अनुपपन्नहै। प्राणोदान सत्ता मध्यस्थ व्यान सत्तापर अवलम्बितहै। तीनों अविनाभूतहै। इसलिये कुशके तीनही विभाग होनें चाहिये। परन्तु यह प्राचीनमत भगवान् याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें अवैज्ञानिकहै। उनका कहना हैकि दोही पवित्र होनेचाहिए। याज्ञवल्क्यका अभिप्राय यही हैकि प्रोक्षण

द्वारा याज्ञिक पदार्थोंको पवित्र बनानेके लिएही पवित्रीकरण होताहै । पवित्रताका सम्बन्ध केवल प्राणोदानसेहै । व्यानतो स्थिर तत्त्वहै । उसके आधारपर प्राणोदान काम करतेहैं । अतः प्रकृतमें पवित्रताके सम्बन्धसे प्राणोदानकाही ग्रहण होसकताहै व्यानका नहीं। अपिच—हम कहआएहैंकि यहां के उदान शब्दसे सौरउदान, और विपयन्त्रकाभी ग्रहण किया जाताहै । यदि तीनपवित्र होतेतो उनकाग्रहण असम्भवथा । फिरतो व्यान सम्बन्धसे उदानद्वारा केवल पार्थिव अपानकाही ग्रहण होता । अतः दोही पवित्र होने चाहिए । इसप्रकार यथाविधि पवित्र संपादन करनेके अनन्तर प्रोक्षणी पानीको इनसे पवित्र किया जाताहै । 'पवित्रं वा आपः—"मेध्या वा आपः' इस सिद्धान्त के अनुसार पानी स्वयं पवित्र और मेध्यहै । ऐसी अवस्थामें प्रश्न होताहै कि जबकि पानी स्वयं पवित्रहै तो फिर इनकुशाओंसे इसे पवित्र करनेका क्या अभिप्रायहै ? बस—आगेका प्रकरण दर्भोत्पत्तिद्वारा इसी प्रश्नका समाधान करताहै ।

दर्भोत्पत्तिरहस्य ।

जो सनातनधर्म्म अनादिहै, नित्य विज्ञान सिद्धहै, राम—कृष्ण—व्यास कपिल—कणादि महापुरुषोंने समय समयपर जिसकी रक्षाकीहै, वही नित्य धर्म्म आज पुनः विपत्तिमें फसरहाहै । पाश्चात्य जगत्के विज्ञाननें आज उसे कल्पित बतलानेका उपक्रम करदियाहै । उसी पाश्चात्य शिक्षासे रंगेहुए हमारे भारतीय नवयुवकभी अपने इस आराध्यदेवकी उपासना छोडते जारहेहैं। उनकी दृष्टिमें भारतीय सनातनधर्म्म केवल कल्पनाका साम्राज्यहै । वास्तव

में साधारण दृष्टिसे विचार करनेपर उनकी कल्पना सत्यहै । जिस विज्ञानके वे उपासकहै, उस विज्ञानसे कई पीढी दूर जो अपना अस्तित्व रखताहै, आत्मविज्ञानसे अपरिचित केवल वाङ्मय भौतिक जड़वादके उपासक यह महानुभाव त्रिकालमेंभी भारतीय धर्मके गहन रहस्योंको नही समझ सकते । दर्भ, मृगचर्म, शंख, सुवर्ण आदिको महर्षि परम पवित्र मानतेहै । जो धर्मशास्त्र एकस्थानपर चर्म और अस्थिके स्पर्शमात्रसे स्नान करनेका आदेश करताहै, वही काले हरिणके चर्मका एवं शखको पवित्रतम बतलाताहै । ग्रहणकालमे यदि पानीमे वस्त्रामें. दर्भ डालदिए जातेहै तो उनमे कभी सांक्रामिक भाव उत्पन्न नही होता । ऐसी ऐसी आज्ञाओंको देखकर उनके वास्तविक तत्वको न समझकर नवयुवक धर्मकी प्रत्येक आज्ञाकी अवहेलना करते जारहेहै । यद्यपि 'आप्तवाक्यं प्रमाणम्' के अनुसार धर्मशास्त्रकी किसीभी आज्ञाके प्रति तर्क वितर्क करनका हमे अधिकार नहीहै । ऋषियोंके वचनही हमारे संतोषके लिए पर्य्याप्तहै । परन्तु आजका युग वैज्ञानिकहै । आज उसी बातको प्रामाणिक समझा जातीहै जिसका कि आधार विज्ञान होताहै । हमे अपने नवयुवकोंको उनके घरकी अमूल्य संपत्तिका परिचय करानाहै, एवं तद्द्वारा उन्हें पुनः एकबार अपनी भूलीहुई संस्कृतिपर आरूढ करानाहै । इसका एकमात्र उपाय विज्ञानहै । अतः उनके संतोषके लिये हमने प्रत्येक कर्म्मके साथ उपपत्तिको प्रधान मानाहै । आगे आनेवाले ब्राह्मणमे 'कृष्णमृग चर्म्म' की उपपत्ति बतलाई जायगी । इस ब्राह्मणमें केवल दर्भोत्पत्तिका विचार किया जायगा । महर्षियोंकी भाषा अति सूक्ष्म होतीहै । भाव बड़ा गम्भीर होताहै । उनकी दृष्टि अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, अधियज्ञ इनचारो विश्वविवर्तो पर रहतीहै । एकही उक्तिसे चारों गतार्थ होजातेहै । इनचारोंके समन्वयके लिएही ऋषियोंने उन विज्ञान सिद्धान्तोंको कथा रूपमें परिणत करडालाहै । आख्यानमें मन्दबुद्धिभी प्रवृत्त

होजाताहै । ब्राह्मणग्रन्थोंमें तो कहीं कहीं फिरभी विज्ञानको विज्ञान भाषा सेही प्रकट कियाहै, परन्तु आर्यसर्वस्व (पुराण) में तो आख्यान एवं उपाख्यानोंकीही प्रधानता रहीहै । पुराणोंने सारे श्रौतविज्ञानको कथा रूपमें परिणत करडालाहै । आज पुराणोंकी कथाओंके वास्तविक मर्म्मको न समझकर कितनेंही महानुभाव उन्हे निरी गप्प बतलातेहैं । परन्तु हम उन्हें यह विश्वास दिलातेहैं कि जिन पौराणिक चरित्रोंपर उन्हे संदेहहै. वेदोंमें हम उन्हे उनका ज्यों का त्यों उल्लेख बतला सकतेहैं । यदि पुराण मिथ्याहै तो वेदभी मिथ्याहै । यदि वेद सत्यनिधिहै तो पुराणका भी सत्यत्व अक्षुण्णहै । पुराणशास्त्रनें उनकथाओंको आध्यात्मिक आधिदैविकादि भेदसे आठभागोंमें विभक्त कररक्खाहै । कितनेही आख्यान ऐसेहै. जिनका केवल अध्यात्मसे ही सम्बन्धहै । कितनेंही आख्यान केवल आधिभौतिक (ऐतहासिक) है । कितनेंही आख्यान केवल आधिदैविकहै । कितनेंही अधिभूत अध्यात्म दोनोंका निरूपण करतेहै । कितनेही अध्यात्म अधिदैवतका निरूपण करतेहै । कितनेही अधिदैवत अधिभूतसे सम्बन्ध रखतेहै । एव कितने ही अध्यात्म. अधिभूत. अधिदैवत. तीनोंपर दृष्टि रखतेहै । कितनेही आख्यान असत्यहै पुराणोंमें मिथ्या कथाएंभीहै । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका कोई उपयोग नहीहै । नक्षत्र विज्ञान समझानेके लिये, एवं और और भी कितनेही गुप्तरहस्य बतलानेके लिये ऋषियोंनें कल्पित कथाए बनाडालीहैं । वेही कथाएं असदाख्यान नामसे प्रसिद्धहै । पाश्चात्य विद्वान जिसे मैथोलाजी (जो कि मैथ थिया—मिथ्या शब्दका अपभ्रंश मात्रहै) कहताहै. वही हमारे असदाख्यानहै । 'प्रजापति हरिण बनकर अपनी लड़कीके पीछे दौड़े । देवताओंनें प्रजापतिके इस अनुचित कार्यको रोकनेके लिये रुद्र प्रजापतिसे प्रार्थनाकी । रुद्रप्रजापतिने त्रिकाण्डइषुसे प्रजापतिका माथा काटडाला'—यह असदाख्यानहै । आकाशस्थ लुब्धक-रुद्र प्रजा-

तिहै रोहिणी नक्षत्रही प्रजापतिकी लड़कीहै। मृगशीर्ष नक्षत्रही प्रजापति का कटा मस्तकहै। इससे उत्तर करीव २७ अंशपर 'ब्रह्महृदय' नामसे प्रसिद्ध नक्षत्रावाच्छिन्न प्रदेश पड़ेहै।' इस असन् मार्गका आश्रय लेकर पुराणने हमारे साथ अन्याय नही कियाहै.अपितु उपकार कियाहै। संसार का सारा व्यवहार इसी असन्मार्गपर अवलम्बितहै। सारेकालेज मिथ्या साधनोंसे ही सत्यज्ञान करवातेहैं। भूगोलकी नकल कभी नहो होसकती। परन्तु हम देखतेहैं कि उसका चित्र बनाया जाताहै। और उसकी ओर अंगुली निर्देशसे. सारे देशोंका अभिनय कियाजाताहै। अक्षरज्ञानके लिए स्लेटपर. क-च-ट-त-प-आदि लिखकर बतलाया जाताहै कि यह कहै। यह खहै। क-ख मुंहसे बुलतेहैं। उनका इनसे क्या सम्बन्ध। परन्तु उस सत्य वर्णमालाका ज्ञान इन्ही कल्पित चिन्होंसे कराया जाताहै। मूर्त्तिपूजन काभी यही रहस्यहै। इसी विज्ञानका लक्ष्यमें रखकर भगवान् भर्तृहरि कहतेहैं—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते—(वाक्यपदी)

कहना यहीहैकि पुराणके आख्यानोपाख्यान आठ भागोंमे विभक्तहै।

१	१=आध्यात्मिक आख्यानोपाख्यान २=आधिभौतिक " ३=आधिदैविक "
२	४=आध्यात्मिक-आधिभौतिक ५=आध्यात्मिक-आधिदैविक ६=आधिदैविक-आधिभौतिक
३	७=आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक
४	८=असदाख्यान

यही आठों विभाग वैदिक आख्यानोंमें समझने चाहिए। अबतकके सारे प्रपञ्चसे हमें यही बतलानाहैकि प्रकृत आख्यान केवल आधिदैविक आख्यानहै। इसीकी ओर आपका ध्यान आकर्षित कियाजाताहै—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकःसूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।

एकएवोषाः सर्वमिद विभाति—"एकं वा इदं विबभूव सर्वम्"।

(ऋक्संहिता)

इस श्रौत सिद्धान्तके अनुसार विश्वके यच्च यावत पदार्थ एकही तत्व से उत्पन्न हुएहैं। सारा प्रपञ्च उस एकही का वैभवहै। परन्तु आश्चर्य हैकि एकही मूलसे उत्पन्न होनेवाले तत्कार्य पदार्थ एक दूसरेसे जराभी नहीं मिलते। सबके नाम रूप कर्म पृथक् पृथक्हैं। एकही पितासे उत्पन्न होने वाले १० पुत्र परस्पर नहीं मिलते। सबका गुण कर्म स्वभाव भिन्न भिन्न है। एकही तन्तुसे उत्पन्न होनेवाले विविधाकाराकारित वस्त्र परस्पर नहीं मिलते। एकही सुवर्णसे उत्पन्न होनेवाले कटक कुण्डलादि परस्पर नहीं मिलते। एकही शुक्रसे उत्पन्न होनेवाले हस्त, पाद, शिर, ग्रीवा, उदर, आदि शरीरावयव एक दूसरेसे नामरूप कर्म तीनोंसे पृथकहै। बस इसी प्रकार उस एकही अव्ययसे उत्पन्न होनेवाले विश्वके पदार्थ परस्पर नहीं मिलने पाते। इस भेदका क्या कारण ? वैज्ञानिकोंने इस प्रश्नके अनेक उत्तर दिए हैं। उन सबका प्रकृतमें निरूपण नहीं किया जासकता। यहां केवल 'दर्शपूर्णमास' से सम्बन्ध रखनेवाले भेदवादकी ओरही आपका ध्यान आकर्षित किया जाताहै। सृष्टिमें भेद उत्पन्न करने वालाहै—'शुक्र'। वह एकही मूलतत्व जोकि विज्ञानशास्त्रमें परात्पर—शाश्वतधर्म—सर्वधर्मोपपन्न-आदि नामोंसे प्रसिद्धहै—सीमाभाव संपादक मतिलक्षणविलक्षण अतएव क्षणिक,अतएव शून्य, दुःखरूप, स्वलक्षण मृत्युरूप सर्वाविद्बलोंके आधारभूत जाया आप, अप्स, यज्ञ, मृत्र, मोह, मन्त्र, नय वयुन, वयोनाध, आदि १५ बलकोशों कोभी अपने उदरमें रखने वाले अतिसुप्रसिद्ध 'माया' बलके का-

रण अपने किसी एक प्रदेशसे परिच्छिन्न होकर अपने आपको अमृत, ब्रह्म, शुक्र, इन तीन स्वरूपोंमें परिणत करता हुआ विश्वका उपादान बनताहै। 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते, (कठ) के अनुसार एकमात्र माया-बलके प्रभावसे वह एकही तत्व अमृत–ब्रह्म–शुक्र–इन तीन स्वरूपोंमें परिणत होरहाहै। अमृत क्या वस्तुहै ? ब्रह्म क्या वस्तुहै ? इन दोनों प्रश्नों को विस्तार भयसे छोड़तेहै। तीसरा शुक्रहै। वस्तुतः विश्वका उपादान शुक्रावच्छिन्न तत्वहीहै। अमृततत्व विश्वनिम्मार्णकी आधारभूमिहै। ब्रह्म-तत्व विश्वनिम्मार्ताहै। शुक्रतत्व उपादानहै। अमृततत्व पुरुषहै ब्रह्मतत्व प्रकृतिहै। एवं शुक्रतत्व विकृतिहै। पुरुषप्रकृतिद्वारा विकृतिसे सारा संसार बनाहै। 'सर्वमुह्येवेद प्रजापतिः' 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्व यदिदं किञ्च' 'प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव' इत्यादि श्रौतसिद्धान्तके अनुसार विश्वान्तर्गत बड़ेसे बड़ापदार्थ, एवं छोटेसे छोटापदार्थ सब प्रजापतिहै। प्रजापति वही कहलाताहै जिसमे भोक्ता–भोग्य–भोगसाधन तीन भावहो। भोक्ता आत्मा कहलाताहै। भोग्य पशुहै। भोग्यसाधन प्राण है। भोक्ता आत्मा भोगसाधन प्राणद्वारा भोग्य पशुका भोगक्रिया करताहै। भोक्ता पशुपतिहै। भोगसाधन पाशहै। भोग्य पशुहै। भोक्ता, भोगसाधन, भोग्य, आत्मा–प्राण–पशु, पशुपति–पाश–पशु कुछभी कहो एकही बात है। बस इनतीनोंकी समष्टिही 'प्रजापतिहै। वेदमे जहां कहीं प्रजापति शब्द आवे सर्वत्र पूर्वोक्त तीनों कलाओंका सम्बन्ध समझिए। इनतीनोंमें भोग्य पशु अन्तः बहिः भेदसे दो भागोंमें विभक्तहै। अन्तःपशु अन्तर्वित्त कहलाता है। इसीको शरीर कहतेहै। यद्यपि शरीरको भोगायतन बतलाया जाताहै.

१. इसविषयका विशद विवेचन हमारे लिखेहुए ईशोपनिषत्के भाषाभाष्यमें 'सपर्य्यगाच्छुक्रम्' इत्यादि मन्त्रके निरूपणमें देखना चाहिए।

परन्तु बहिर्वित्तके भागके लिये भोगायतन होताहुआ शरीर चूंकि भोग्यभी बनताहै। शरीर धातुओंके भोगसे आत्मा पुष्ट होताहै. अतएव हम शरीर कोभी भोग्य माननेके लिये तय्यारहैं। दूसराहै बहिर्वित्त। मन, प्राण, आकाश, (शब्द), वायु, तेज (प्रकाश), जल पृथ्वी (गोधूम यव तन्दुल आदि अन्न), भेदभिन्न सप्तविध अन्न, स्त्री, पुत्र, भृत्य, गो अश्वादिपशु, गृह, क्षेत्र वस्त्र, आभूषण, आदि बहिर्वित्तहै। प्रत्येक प्रजापतिके पास यथाकर्म यथाविध दोनोंप्रकारके भोग्य होतेहैं। थोड़ी देरके लिये बहिर्वित्तको छोड़ दीजिए। शरीररूप अन्तर्वित्तको लीजिए। प्रत्येक वस्तुकाजो बहिःपिण्डहै जिसे आप देखतेहैं, वही पशुहै। पिण्डके भीतर प्राणहै। पिण्डके केन्द्रमें प्रतिष्ठित रहनेवाला आत्मरूप प्रजापति अपने अर्क (रश्मि) रूप प्राणोंसे अशितिरूप पिण्डका भोग कररहाहै। वस्तुपिण्ड प्रजापतिका स्थूल शरीरहै। प्राणसमष्टि सूक्ष्मशरीरहै। आत्मा कारण शरीरहै। कारणशरीर प्रज्ञामात्राहै सूक्ष्मशरीर प्राणमात्राहै। स्थूलशरीर भूतमात्राहै। चितिमूला सृष्टिविद्याके अनुसार आत्मा ब्रीजचितिहै। प्राण देवचितिहै। पशु भूतचितिहै। तीनों चितियोंके कारणही यह प्रजापति 'चिदात्मा' के नामसे प्रसिद्ध होरहाहै। इसमें प्रकृतमें हमें यही बतलानाहै कि प्रजापतिके इन तीन अवयवोंमें जो पहिला आत्मतत्त्वहै, उसकी योनि अमृततत्त्वहै। विश्वव्यापक अमृतही वस्तुमें प्रविष्ट होकर उसका आत्मा बनताहै। अतः हम उस अमृतको अव्ययरूपी आत्मयोनि कहनेके लिए तय्यारहैं। दूसरा प्राणहै। बस ब्रह्मतत्त्व इस प्राणकी योनिहै। प्राणको हमने प्रकृति कहाहै अतः ब्रह्मको हम प्रकृतियोनि माननेके लिए तय्यारहैं। तीसरा पशुहै। बस तीसरा शुक्र विकृति रूप इसी पशुकी योनिहै। अतः हम इस शुक्रको विकृतियोनि माननेके लिए तय्यारहैं। आत्मयोनि स्वरूप अमृततत्त्वमें १६ कलाएहैं। अतएव प्रजापति रूप आत्मा 'सचते स षोडशी' (यजुःसंहिता)के अनुसार 'षो-

इशी' नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रकृतियोनि स्वरूप ब्रह्मतत्वमें पांचकलाएँ हैं। उस पुरुषमें पांचप्राण नित्यप्रति प्रतिष्ठित रहतेहै। इसी अभिप्रायसे याज्ञवल्क्य कहतेहैं—

"अथोद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति—केंऽस्वन्तः पुरुष आविवेशेति। तं प्रत्याह—पञ्चस्वन्तः पुरुषः आविवेशेति" (शतः १३का ५।२।१५। इति)।

केन्द्रस्थ अतएव अणोरणीयान् अतएव स्वानुभवैकगम्य उस चिदात्मामें पांचप्रकारके प्राणब्रह्म प्रतिष्ठित रहतेहैं-इसी आधारपर मुण्डक कहतेहैं —

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजाना यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा"॥
(मुण्डकोपनिषत् ३।१-९) इति।

एव प्राणोंके आधारपर प्रतिष्ठित रहने वाले शुक्रमें ६ कलाएँहैं। विश्वरूपशरीर शुक्रहै। उसमें पांचप्राणहै। प्राणोंका आधार विश्वेश्वरहै। विश्वेश्वररूप पशुपति, पञ्चप्राणरूप पाशसे षड्कलशुक्ररूप विश्वपशुका भोग कररहाहै। आगेलिखी तालिकाओंसे ऊपरका सारा विषय स्पष्ट होजाताहै—

१ आत्मा = भोक्ता ········ पुरुषः—अमृतमयः = मनः		
२ प्राणः = भोगसाधनम् ··· प्रकृतिः—ब्रह्ममयी = प्राणः	}	सप्तम प्रजापतिस्त्रिकलः
३ पशवः = भोग्यम् ······· विकृतिः—शुक्रमयी = वाक्		

१=अमृतम=आत्मयोनिः । षोडशकलम ।
विश्वात्मा विश्वेश्वरः प्राणाधारो भोक्ता ·· पशुपतिः
२=ब्रह्म=प्रकृतियोनिः । पञ्चकलम ।
विश्वसंचालकम–भोगसाधनम्' ····· ············पाशः
३=शुक्रम=विकृतियोनिः । षट्कलम् ।
विश्वम । भोग्यम । ········ ···· · ····पशुः

}—प्रजापतिः

१ परात्परः—अर्द्धमात्रा						
अ		उ		म		
५	अव्ययः	५	अक्षरः	५	क्षरः	स एष षोडशकलः प्रजापतिरीश्वरः 'तस्य वाचकः प्रणवः'
१	आनन्दः	१	अमृतब्रह्मा	१	मर्त्यब्रह्मा	
२	विज्ञानम	२	,, विष्णुः	२	,, विष्णुः	
३	मनः	३	,, इन्द्रः	३	,, इन्द्रः	
४	प्राणः	४	,, अग्निः	४	,, अग्निः	
५	वाक्	५	,, सोमः	५	,, सोमः	

=अमृतम—१

१ = प्राणः—स्वायम्भुवः ।
२ = आपः—पारमेष्ठ्यः ।
३ = वाक्—सौरी ।
४ = अन्नादः—पार्थिवः ।
५ = अन्नम—चान्द्रम ।

}=ब्रह्म—२

१ = वाक् = स्वायम्भुवं शुक्रम्	= अमृतानि शुक्रानि ३	= शुक्रम ३
२ = आपः = पारमेष्ठ्य शुक्रम्		
३ = अग्निः = सौरं शुक्रम्		
४ = अग्निः = सौरं शुक्रम्	= मर्त्यानि शुक्राणि ३	
५ = आपः = चान्द्र शुक्रम्		
६ = वाक् = पार्थिवं शुक्रम्		

अमृत—ब्रह्म—शुक्र तीनोंमेंसे अमृतब्रह्म सबपदार्थों में समानहै। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' 'सम सर्वेषु भूतेषु' इत्यादि श्रौतस्मार्त्त प्रमाणोंके अनुसार वह सबमें समानहै। परन्तु ब्रह्म शुक्र में भेदहै। यद्यपि सबमें पांचो ब्रह्म हैं। एवं ६ ओं शुक्रहैं। परन्तु किसीमें कोई ब्रह्म प्रधानहै, एवं किसीमें कोई शुक्र प्रधानहै। बस इस प्रधानता अप्रधानताके तारतम्यसे पदार्थोंमें परस्पर भेद होजाताहै। जिन ६ शुक्रोका पूर्वमें दिग्दर्शन करायाहै उनका हम अग्नि, सोम, इन दो तत्वोंमें अन्तर्भाव मानतेहै। वाक् अग्नि है। आप सोम है। तीसरा अग्नि अग्नि है ही। फिर मर्त्यावाक् अग्निहै। आप सामहै। अग्नि अग्निहै। ६ ओं शुक्रोंसे विश्वका निर्म्माण हुआहै इसका तात्पर्य्य यहीहै कि अग्नीसोमसे विश्व उत्पन्न हुआहै। अतएव विश्वके लिए अवश्यही 'अग्नीसोमात्मकं जगत्' यह कहा जासकताहै। तत्व दोहीहैं। परन्तु अग्नि भी अनेक प्रकारकाहै। सोम भी अनेक प्रकारकाहै। इस प्रकार भेदसे पदार्थोंके स्वरूपमें वैचित्र्य होजाताहै। जिस अमृत प्रजापतिका पूर्वमें निरूपण किया गयाहै उसमें आनन्द विज्ञानादि १६ कलाएं बतलाई गई है। उनमें आनन्द विज्ञान मन प्राण वाक् भेदभिन्न पञ्चकल अव्यय पुरुषहै। इन पांचों में आनन्द विज्ञान उस ओरहै। प्राण वाक् इस ओरहै। मध्यमें मनहै। मनका दोनोंके साथ सम्बन्धहै। बस अव्यय पुरुषके आनन्द विज्ञान मनका नाम विद्या भागहै। यही ब्रह्महै। मन—प्राण—वाक् अविद्याभागहै।

यही कर्म्महै। ब्रह्म कर्म्मात्मक यही अव्यय पुरुष सृष्टिका आलम्बनहै। यही मुक्तिका आलम्बनहै। मुक्तिमें उसका कर्म्मभाग गौण रहताहै। ब्रह्मभाग प्रधान रहताहै। सृष्टिमें ब्रह्मभाग गौण रहताहै। कर्म्मभाग प्रधान रहताहै। दोनोंमें दोनोंहैं। अमृत ब्रह्मरूपा विद्यामें मृत्यु कर्म्मरूपा अविद्या अनुस्यूत है। मृत्युमयी कर्म्मरूपा अविद्यामें अमृत ब्रह्मरूपा विद्या अनुस्यूतहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर अभियुक्त कहतेहैं—

१. अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥ (शत० ....)

२ विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ (ईशोपनिषत्)

३ कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।
सबुद्धिमान मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥ (गीता ४।१८)

४ ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गीता५।१०)इत्यादि

बतलाना इस प्रपञ्चसे यहीहै कि सृष्टिका आधार मनप्राणवाङ्मय भागहीहै। ऋषि, पितर, देव, गंधर्व, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षि, ओषधि, वनस्पति, धातु, रस, विष आदि जितनी भी स्थावर जंगम सृष्टिएं हैं सबका आलम्बन एवं प्रवर्त्तक मन प्राण वाङ्मय अव्ययही है। अव्ययके मनसे सृष्टिकी कामना होती है। प्राण भागसे कामनानुकूल तप होताहै। एवं वाग्भागसे तपानुकूल श्रम होताहै। बस काम-तप-श्रमके समुच्चयसे वस्तुकी

---

१. इस विषयका विशद विवेचन ईश भाष्यके 'विद्या चाविद्या च०' इत्यादि मन्त्रके निरूपणमें देखना चाहिए।

उत्पत्ति होतीहै। तीनों सृष्टिके साधारण अनुबंधहै। अतएव सृष्टि प्रतिपादक ब्राह्मणोंमें—'प्रजापति र्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत। स तपोऽतप्यत। सोऽश्राम्यत्' इत्यादि रूपसे इच्छा—तप—श्रम कोही सृष्टिके प्रवर्त्तक बतलाया जाताहै। मन—प्राण—वाक् तीनोंमें मन ज्ञानशक्ति घनहै। प्राण क्रिया शक्तिघनहै। वाग् अर्थशक्ति घनाहै। इनतीनों शक्तियोंसे सर्वज्ञ—सर्वशक्तिमान—सर्ववित् होताहुआ अक्षर क्षरद्वारा ब्रह्म—शुक्रको उत्पन्न कर ब्रह्मद्वारा शुक्रसे सारे विश्वका निर्म्माण किया करताहै। ज्ञानमय मनभी निष्क्रियहै। अर्थमयी वाक्भी निष्क्रियाहै। सक्रियहै केवल मध्यका क्रियामय प्राण। सृष्टिका प्रथम प्रवर्त्तक तपो मूर्त्ति प्राणही है। इस तपसे तपश्चर्या करता हुआही प्रजापति सबकुछ उत्पन्न करनेंमें समर्थ होताहै। तपसे प्रजापति का प्राण विस्रस्त (खर्च) होताहै। यही सूक्ष्मावस्थामें जाकर मन बनजाताहै। स्थूलावस्थामें आकर यही वाक् बनजाताहै। अतएव तैत्तिरीयादि श्रुतिओंनें प्राणको ही प्रजापति मानाहै। संसारके प्राणिमात्र तप कररहेहै। सब अपने प्राणको परस्परमें देरहेहैं। इसी प्राण यज्ञसे विश्व स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित होरहाहै। प्राण सत्तासे प्राणीकी सत्ताहै। मन प्राण वाक् तीनों में प्राण ही प्रधानहै। अतएव हम न मनस्वी कहलाते—न वाग्मी कहलाते। कहलातेहै प्राणी। 'एतद्वै तप इत्याहुर्यत्व स्व ददाति' के अनुसार हम जिस व्यापारसे अपने प्राणका विस्रंसन करतेहैं वह प्राणमूलक व्यापारही 'तप' कहलाताहै। तपकरो सब कुछ सिद्धहोगा। चेतो सबकुछ मिलेगा। तुम्हे विश्वास करना चाहिए कि विश्वमें इसी तपोबलसे भृगु और अंगिरानें (अग्नि—सोमनें) सर्वत्र अपना प्रभुत्व जमा रक्खाहै। बस यदि तुम संसारमें उन्नति करना चाहतेहो, यदि ईश्वरके सच्चे उपासक कहलाना चाहतेहो तो—

'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'

इस श्रौत आदेशको शिरोधार्य करतेहुए निरन्तर तप (कर्म्म) करते रहो। कभी क्षणमात्रभी चुप मत बैठो। तुम्हे याद रखना चाहिए कि जो प्रजापति किसी समय एकाकी था जिसके पास कुछ न था आज वही उस तपोबलके प्रभावसे विश्वको उत्पन्नकर विश्वात्मा बनता हुआ विश्वेश्वर बनरहाहै। उसी तपके प्रभावसे संसार आजभी आगे बढ़रहाहै। आज तुमने तपके वास्तविक स्वरूपको भुलादियाहै। माला जपने में ही आज तुमने तपः कर्म्मकी इतिश्री मानलीहै। इसी इतिश्री ने आज तुम्हारी श्रीकी इति करदी है। यदि तुम्हे अपने पूर्वजों पर गर्व है तो उठो—जागो—ऋषियों के वरम्प आदेशोंको प्राप्त करो। अवश्यमेव तुम अपनी चिरकालसे खोई हुई 'जगद्गुरु' की उपाधि प्राप्त कर सकोगे। यदि अबभी तुमने उपेक्षा की तो फिर कहीं ठिकाना नहीं है। फिर तो 'महती विनष्टि' है। प्रजापतिके पास किसी समय कुछ नथा। परन्तु उसके पास वह साधन था जिससे सबकुछ होसकताथा। वह साधनथा—एकमात्र—'तप'। उस तपसे सबसे पहिले उसने—ब्रह्म—सुब्रह्म—नामके दो तत्व उत्पन्न किए। त्रयीवेद का नाम ब्रह्महै। अथर्ववेदका नाम सुब्रह्म है। त्रयीब्रह्म वाङ्मयहै। अथर्ववेद आपोमयहै। उस त्रयीब्रह्ममें ऋक्—साम केवल छंदहै। वयोनाधहै। आयतन मात्रहैं। यह दोनो सृष्टिनिर्म्माणमें केवल सहकारी हैं। इनसे कोई वस्तु नहीं बनती। अपितु यह दोनों वस्तु बनाने वाले के साथ नित्य सम्बद्ध रहतेहैं। तीसराहै—यजुर्ब्रह्म। यजुर्ब्रह्मही पुरुषहै। इसीसे सारी सृष्टि होती है। 'ऋकसामे यजुरपीतः' (श० १० का० ३।१।६) के अनुसार ऋक् साम यजुमें डूबे रहतेहैं। यजु है क्या? इसका उत्तरहै—स्थिति गति। सारा विश्व चलाचलहै। चल भाव गतिहै। यही यत् है। अचल भाव स्थितिहै। यही जूहै। यत्—जू ही यज्जू है। यज्जू ही 'यजु' है। (देखो शत० १० का० ·· ··· ·)। स्थिति उस पदार्थकी संभूति है। गति

उस पदार्थका विनाशहै। प्रत्येक वस्तु ठहरती हुई चलरही है। बनती हुई बिगडरहीहै। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण बिगडरहाहै। नष्ट होरहाहै। एवं प्रतिक्षण संभूति भावसे आक्रान्त होरहाहै। एकही में परस्परात्यन्तविरुद्ध संभूति विनाशका समन्वय होरहा है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ (ईशोपनिषत्)

बस संभूति विनाश रूप स्थितिगत्यात्मक तत्त्वकाही नाम यजुहै। यह यजु अग्नि स्वरूपहै। कैसा अग्नि—वागग्नि। इसी यजुरग्निके लिए—'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' यह कहाजाताहै। बस विश्वका उपादान भूत ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म ही पहिला शुक्रहै। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक संस्थाश्च निर्ममे' में पृथक् संस्थानिर्माण करने वाला यही पहिला अपौरुषेय ब्रह्मनिश्वसित वेदहै। यह वेद अग्निरूपहै। अग्नि सत्य होताहै। अतएव हम इसे 'सत्य' तत्त्व कहने के लिए तय्यारहैं। तीन सत्यो में—'वेदाः सत्यम्' वाला पहिला यही सत्यहै। सारे देवता इसी सत्यमूर्त्ति वेदपर प्रतिष्ठितहैं। दूसराहै सुब्रह्म। आप तत्त्वका ही नाम सुब्रह्महै। इसमें स्नेह-तेज-दो भाग है। स्नेहतत्त्व भृगुहै। तेजतत्त्व अंगिराहै। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्' के अनुसार इनदोनों की समष्टि ही आपहै। यही अथर्व वेदहै। वह सत्य था। यह यह ऋतहै। वह अग्नियथा—यह सोमहै। वह वाक् था-यह आपहै। वह पुरुषथा यह स्त्री है। वह प्राणथा यह रयि है। वह वृषाथा। यह योपाहै। बस उस तपोमूर्त्ति प्रजापति के तपसे सबसे पहिले—सत्य—ऋत रूप

ब्रह्म सुब्रह्म का ही जन्म होताहै। आगे जाकर इस ब्रह्मसे मातारिश्वा वायु-द्वारा सुब्रह्मकी आहुति होताहै। इसी से सारा विश्व उत्पन्न होताहै। तीसरा शुक्र अग्निहै। वही वेद उस आपोमय मण्डलमें अवतीर्ण होकर रूपान्तर धारण करलेताहै। उसीके लिए—'*अन्तरते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः*' यह कहा जाताहै। वह वेदाग्नि 'ब्रह्मनिश्वसित' नामसे प्रसिद्ध था। यह वेदाग्नि 'गायत्रामात्रिक वेद' नामसे प्रसिद्धहै। बस संसारके निर्म्माता वाक—आप—अग्नि यह तीनही शुक्रहै। 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासी दर्द्धममृतम' के अनुसार तीनोंही अमृत—मर्त्य भेदसे दोदो भागोंमें विभक्त है। इसप्रकार तीनके ६ शुक्र होजाते है इनमें अमृता वाक्से स्वयम्भु मण्डलका निर्म्माण होताहै। अमृत आपसे परमेष्ठी मण्डलका निर्म्माण होताहै। एवं अमृताग्नि से सूर्य्यके अमृत भागका निर्म्माण होताहै। मर्त्याग्निसे और मर्त्य भाग उत्पन्न होताहै। मर्त्य आपसे चन्द्रमा उत्पन्न होताहै। एवं मर्त्यावाक् से पृथिवी उत्पन्न होतीहै। मध्यमें सू र्य है। उपक्रममें स्वयम्भूहै। उपसंहारमें पृथिवीहै। पृथिवी का मर्त्य वाक्शुक्रसे सम्बन्धहै। चन्द्रमा का मर्त्य आप शुक्रसे सम्बन्धहै। इसप्रकार—'तस्माद्यत् किंचार्वाचीनमादित्यात्-सर्व-तन्मृत्युनाप्तं' के अनुसार सूर्य्यके नीचेकी सारी सृष्टि मृत्यु प्रधानाहै। एवं सूर्य्यके ऊपर प्रतितिष्ठ परमेष्ठी का अमृत आप शुक्र से सम्बन्धहै। स्वयम्भूका अमृतवाक् शुक्रसे सम्बन्धहै। मध्यस्थ सूर्य्यका-अमृत-मर्त्याग्नि दोनों मध्यके शुक्रोंसे सम्बन्धहै। यही सारी सृष्टिहै।

---

१ ब्रह्म सुब्रह्म से कैसे विश्व उत्पन्न होताहै? इन्हें शुक्र क्यों कहाजाताहै? इनकी ऋत सत्यता का क्या स्वरूपहै? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर ईश भाष्य में द्रष्टव्य है।

अमृतम्

१ वाक् = ब्रह्मनिश्वसितवेदः = त्रयीवेदः अपौरुषयः ब्रह्माग्निः = स्वयम्भूः
२ आपः = ब्रह्मस्वेदवेदः अथर्ववेदः ,, पारमेष्ठ्यसोमः = परमेष्ठी
३ अग्निः = गायत्रीमात्रिकवेदः = त्रयीवेदः पौरुषेयः देवाग्निः } = सूर्य्यः

मर्त्यम्

४ अग्निः = गायत्रीमात्रिकवेदः = त्रयीवेदः ,, देवाग्निः }
५ आपः ब्रह्मस्वेदः - अथर्ववेदः ,, चान्द्रसोमः - चन्द्रः
६ वाक् = यज्ञमात्रिकवेदः त्रयीवेदः ,, भूताग्निः - पृथिवी

[illegible]

त्रिविध भावापन्न विश्वका संक्षिप्त स्वरूप पूर्वके निरूपणसे गतार्थ होजाता है। अब दर्भोत्पत्तिकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाताहै। स्व० पर० सू० पृ० चन्द्रात्मक पञ्चकल जिस विश्वका पूर्वमें दिगदर्शन कराया गयाहै उस महाविश्वके केन्द्रभूत मध्यस्थ सूर्य्य पर दृष्टि डालिए। सूर्य्य अग्निमयहै। परमेष्ठी आपोमयहै। आपोमय परमेष्ठीके उदरमें बुद्बुद रूप सूर्य्य प्रतिष्ठितहै। सूर्य्यपिण्ड मर्त्यहै यह मर्त्य पिण्ड अपने स्थानपर स्थिर रूपमें तपरहाहै। इसमें एक अमृत प्राणहै। यह अमृतप्राण जहांतक सूर्य्यका तेजोमण्डलहै वहांतक व्याप्तहै। इसीको 'इन्द्र' कहाजाताहै। पारमेष्ठ्य सोमकी आहुतिसे युक्त होकर यही मघवा नामका सौर इन्द्र रूपका (प्रकाशका) अधिष्ठाता बनरहाहै। सूर्य्यसे ही (सूर्य्यके प्रवर्ग्य भागसेही) भूलोक उत्पन्न होताहै। स्वयं सूर्य्य द्युलोकहै। सूर्य्य एवं पृथिवीका मध्यका साराभाग अन्तरिक्षहै। यही सौर त्रिलोकी रोदसी नामसे प्रसिद्धहै परमेष्ठीमे पानीभी है, सोमभी है। इनमे सौम्य प्राण पितर कहलाताहै (देखो शत० ···) आप्य प्राण असुर कहलाताहै। सोमतत्व सूर्य्य स्वरूपरक्षकहै। अप्तत्व सूर्य्यभक्षकहै। यह आप व्याप्तिधर्म्माहै। चारो ओर फैलने वालाहै। यह आप्तिधर्म्मा पानी उस सम्पूर्ण रोदसी त्रैलोक्यमें व्याप्त होरहाहै। चारो ओरसे सौर मण्डलका संवरण करके उसपर अपना प्रभाव जमा रक्खाहै। अतएव ऋषियोंनें इस आप्यप्राणकी 'वृत्र' संज्ञा रक्खी है। आप्य प्राणरूप

इस वृत्रासुरने सारे सौरमण्डलको (जोकि सौरमण्डल द्यावापृथवी स्वरूपहै) घेर रक्खाहै। परन्तु बड़ा आश्चर्यहै कि उस महाप्रबल शत्रुके आक्रमण होनेपर भी सौर इन्द्र त्रैलोक्यमें विजयी होरहाहै। यदि इन्द्र अपना कार्य छोड़देता तो अवश्यही सारा त्रैलोक्य आपोमण्डलमें विलीन होजाता। होता क्याहै—उसी पारमेष्ठ्य सोमकी आहुति से प्रबल बनता हुआ इन्द्र सौर—रश्मियोंमें प्रविष्ट होकर इस रश्मिरूप वज्र द्वारा उस शत्रुका संहार किया करताहै। सौर रश्मिएं अपने धक्के से चारों ओर से आक्रान्त वृत्ररूप उस पानी को हटाती रहती हैं। इस धक्केमें वह वृत्ररूप पानी ऊपर की ओर व्याप्त उसी आपोमय समुद्रमें विलीन होता रहताहै। जहां इन्द्र नहीं रहता वहां वायु नहीं रहता, एवं जहां वायु नहीं रहता वहां 'यद्वै वातो नाभिवाति तत्सर्वं वरुण देवत्यम्' के अनुसार वरुण का साम्राज्य होजाताहै, एवं जहां वरुण का राज्य होजाताहै वहां वरुण पाशके प्रभावसे सड़ान पैदा होजाती है। बंद हवा में कोई भी वस्तु बिना सड़े नहीं रहसकती। क्योंकि वायुगत इन्द्रके न रहनेसे वहां वृत्रासुर अपना प्रभाव जमालेताहै। बस, यही स्थिति यहां हुई। इन्द्र द्वारा हतवीर्य्य उस वृत्ररूप पानीकी भी यही दशा हुई। सूर्य्यरश्मियोंनें पानीको चारों ओरसे दूर किया। इस व्यापारसे कुछ दूरतक रश्मिएं भी पानी में प्रविष्ट होगई। बस, पारमेष्ठ्य पानीके जितने भागमें सौर रश्मिएं प्रविष्ट रहती हैं—उतनी दूरका पानी रश्मियों के प्रभावसे दूषित नहीं रहने पाता। क्योंकि उतनी दूरमें पवित्र धर्म्मके अधिष्ठाता सौरइन्द्र—प्राणकी सत्ता रहतीहै। यह सौर पानी अनापूयित (दुर्गन्ध रहित) रहा। इस पानीका उस दूषित रश्मिशून्य वृत्र पानी से ग्लानि करना स्वाभाविकहै। यह स्वच्छ दिव्य—सौर पानी उस प्रक्षिप्त पूयित वृत्र पानीसे न मिलता हुआ उससे अलग ही रहताहै। पारमेष्ठ्य मण्डल में जितनी दूरतक सौर रश्मिएं अन्तःप्रविष्ट रहतीहैं उतनी

दूर का पानी ज्योतिर्मय होजाताहै । इसी ज्योतिर्मय अनापूयित पानीको 'वेन' कहाजाताहै । भाष्यकार लोग वेन का अर्थ 'सुन्दर' करतेहैं । वस्तुतः वेन पूर्वोक्त ज्योतिर्मय पानी का नामहै । हां, इतनी बात अवश्यहै कि जिसके शरीरमें यह पानी उल्वण रहताहै वह अवश्यही अतिसुन्दर होताहै । ऐसा पदार्थ 'पानीदार' कहलाताहै । किसी किसी के मुखपर चमक होती है, यह उसी वेन की महिमाहै । इसके विपरीत जिसके शरीरमें वृत्र पानी की प्रधानता होतीहै वह कुरूप होताहै, असुर बुद्धि से आक्रान्त होताहै । इसी पूर्वोक्त वेनका स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहतेहैं—

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां संगमे सूर्य्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीरिहन्ति ॥
(यजुः सं० ७।१६)

सोमयज्ञमें एकधना, निग्राभ्या, वसतीवरी—इन तीन प्रकारके पानी का ग्रहण किया जाताहै । इनमें वसतीवरी पूर्वोक्त वेन पानी की प्रतिकृति मानी गई है । सूर्य्यमण्डलमें इस वेनकी व्याप्ति है अतः इसपानी का ग्रहण सूर्य्यसत्तामें ही किया जाताहै । साथहीमें बंद तालावका पानी पूर्व कथनानुसार वारुण होता हुआ वृत्रस्वरूपहै, आसुरहै, वेनका विरोधीहै, एवं बहता पानी वरुण रहित होताहुआ शुद्धहै, अनापूयितहै, वेनसम्पत्तिसे युक्तहै । अत एव—

"ता वै स्यन्दमानानां गृह्णीयात्—दिवागृह्णीयात्" (शतपथ) के अनुसार वेन प्रतिकृतिरूप वसतीवरी का आनयन बहते पानी से ही होताहै । पूर्वमें बतलाया गयाहै कि परमेष्ठीसे सोम सूर्य्यमें आहुत होतारहताहै । सूर्य्यमें आहुत होने वाले इस पारमेष्ठ्य सोमका प्रथम इसी ज्योतिर्मय पानीसे सम्बन्ध होताहै । अनन्तर वह सूर्यमें आहुत होताहै । हमारा सोम-

यज्ञ इस नित्ययज्ञकी प्रतिकृतिहै । अतः जैसा वहां होताहै ठीक वही निदानद्वारा यहां करना पडताहै । वसतीवरी ज्योतिर्मयपानी (वेन) के स्थानमें है । सोमवल्ली सोमके स्थानमेंहै । प्रकृतिवत् यहांभी पहले इस सोमवल्ली को वेनरूप वसतीवरी पानीसे अभिषिक्त किया जाताहै । इसी वेनरूप पानीकी स्तुति पूर्वमन्त्रमें कीगई है । भाष्यकारोंने वेनका अर्थ चन्द्रमा कियाहै । हमारी दृष्टिमें यह अर्थ उनकी प्रौढिमात्रहै । अनेक वर्णोंकी समष्टि पृश्नि कहलाती है । सूर्य्य रश्मिएं पृश्निहै क्योंकि उसमें अनेक वर्ण होते हैं । वहांका पानी इन रश्मियों के गर्भ में प्रविष्ट रहताहै अतः हम अवश्यही इसे पृश्निगर्भा कहसकतेहै । यह वेनपानी सौर ज्योति से वेष्टित रहताहै । ज्योतिही इसकी जरायुहै । लोक को–'रज' कहतेहैं । लोककी अन्तिम सीमा सौरमण्डलका अन्तिम प्रदेशहै, यह त्रैलोक्य की सीमा रूप विमानहै । इसी लोक विमानमें (सोलर सिस्टमकी अन्तिम सीमामें) वह वेन प्रतिष्ठित रहताहै । –ऐसा यह वेन प्रत्येक वस्तुको प्रेरित किया करताहै । सूर्य्यके ऊपर उसी वेनस्थानके समीप प्रेरयिता सविता ग्रहहै । उसकी प्रेरणाका पहले वेनसे सम्बन्ध होताहै । सूर्य्य और पारमेष्ठ्य पानी दोनों जहां मिलते हैं, परस्पर ओतप्रोत होते हैं–ऋषिलोग बड़े प्रेमसे शिशुवत् उसी स्थानपर अपनी बुद्धिद्वारा उसकी स्तुति किया करतेहै । वातयथार्थ है–वहां दृष्टि का पहुंचना असंभवहै । केवल मतिद्वाराही उसकी स्तुति होसकती है । संसारमें आप जो पानी देखतेहैं सबमें थोड़ी बहुत मात्रासे अवश्यही वृत्रभाग रहताहै । इससे यहभी मानलेना पड़ताहै कि पवित्र धर्म्म के अधिष्ठाता होनेपर भी पानी सर्वात्मना पवित्र नहीं कहा जासकता । वृत्र के रहनेसे अवश्यही वह दोषाक्रान्त रहताहै । सर्वथा पवित्र पानी तो (जिसे कि हम उसके असली स्वरूपमें प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं) केवल वही पूर्वोक्त ज्योतिर्मय वेन पानी ही है । यज्ञमें जराभी असुर भाव घुस पड़ताहै तो यज्ञ नष्ट होजाताहै ।

ऐसी अवस्थामें ऋषियो ने विचारा कि विना पानी के काम चलेगा नहीं एवं पानीमें असुर भावका रहना अनिवार्य्यहै बस, इसी दोषको दूर करने के लिए उन पदार्थविद्याके आचार्योने दर्भ को खोज निकाला। उन्होंने अपनी वैज्ञानिक परीक्षाओंसे यह जानलिया कि दर्भका निर्म्माण—असुर भावसे रहित स्वच्छ वेन पानीसे होताहै। जो महात्म्य सुवर्णका है वही दर्भका है। दोनो मे अन्तर केवल इतनाही है कि सुवर्ण अग्नि प्रधानहै, दर्भ अप् प्रधानहै। वही सौर रश्मिएं पार्थिव मिट्टीके पकडमें आकर सोना बनजाती है। एव वही सौर रश्मिएं दर्भ बनती है। सौरमण्डलमें वेन पानीभी है, सावित्राग्निभी है। पानीसे युक्त इन्द्र दर्भ है। अग्निसे युक्त इन्द्र सुवर्ण है। पारमेष्ठ्य समुद्रका अंश भूत वेन पानी अति पवित्र है। पर्जन्य, विद्युत संसृष्ट सौर हिरण्मय प्राणसे समृष्ट वेन पानीही दर्भका उपादान है। इसी दर्भोत्पत्ति विज्ञान को लक्ष्यमे रखकर अथर्व श्रुति कहती है—

यत् समुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत॥

(अथर्व सं० १९ का० ४ अनु० ५ सू० ५ मं०)

दर्भ साक्षात् वेन पानीहै इसी रहस्य को बतलाने के लिए उन्होंने इसका नाम 'दर्भ' रखदिया। किसीभी वस्तुमे आप दर्भ डालदीजिए उसी क्षण उसके कीटाणु मूर्च्छित होजायंगे एवं वायुमें व्याप्त अन्यकीटाणुओं का भी अवरोध होजायगा। ग्रहणकालमें असुर प्राणकी व्याप्ति रहती है, दर्भ वेनरूप होनेसे असुरका शत्रुहै, अतएव जिन पदार्थो के साथ दर्भका सम्बन्ध करादिया जाताहै उनमें ग्रहण कालावच्छिन्न असुर प्राण प्रविष्ट नही होने पाता। पूर्वका ब्राह्मण भाग आख्यान द्वारा इसी दर्भोत्पत्ति को

निरूपण करताहै । प्रणीता पानी को दर्भसे क्यों पवित्र कियाजाताहै— इसकी यही संक्षिप्त उपपत्तिहै ।

४-५

सारा विश्व ऋत—सत्यमयहै । सहृदय सशरीरी तत्व सत्यहै, अहृदय अशरीरी तत्व ऋतहै. जैसाकि पूर्वके प्रकरणों में विस्तारसे बतलाया जाचुकाहै । जितने पिण्डहैं सब ऋतसत्यात्मकहै । पिण्ड चरपरमाणुओंका संघहै । प्रत्येक परमाणु अपना केन्द्र रखताहै । इन सकेन्द्र परमाणुओंका एक केन्द्र स्वतन्त्र बनता है । उसी को प्रजापति कहाजाताहै । इस केन्द्रकी अपेक्षासे सारे परमाणु ऋतहैं । सब उस केन्द्रपर प्रतिष्ठितहैं । ऋत सत्यमें अनुस्यूतहै । सत्य ऋतमें अनुस्यूतहै । इसी आधारपर 'ऋतं सत्ये धायि, सत्यं ऋते धायि' (शतपथ) यह कहा जाताहै । इस प्रकार प्रजापतिके तपसे प्रादुर्भूत ऋत—सत्य सर्वत्र व्याप्त होरहे हैं । हां इतना अवश्य है कि कहीं ऋतकी प्रधानताहै, कहीं सत्यकी प्रधानता । जिस सविता का प्रकृतमें निरूपण चलरहाहै वह सत्य प्रधानहै । आजदिन सविता सूर्य्यका पर्य्याय समझा जाताहै परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । सविता एक स्वतन्त्र ग्रहहै, एवं इसकी सत्ता सूर्य्यसे ऊपरहै । सूर्य्यसे ऊपर बृहस्पति है । बृहस्पति से ऊपर सविताहै । सवितासे ऊपर ब्रह्मणस्पतिहै । इसके ऊपर परमेष्ठी सूत्रात्मा वाचस्पति आदिहैं । चर—अचर जड—चेतन सबमें सवितासे प्रेरणा मिलती है । प्रेरणाका अधिष्ठाता एक मात्र सविता देवताहै । सूर्य्यसे नीचे का त्रैलोक्य सूर्य्यरूप रुद्रके सम्बन्धसे 'रोदसी' नामसे प्रसिद्धहै । रोदसी त्रिलोकी में सूर्य्यद्वाराही प्रेरणा आगमन होताहै, अतएव हम अपने लिए

सूर्य्यको ही सविता मान बैठतेहै। सूर्य्यका सवितृत्व आपेक्षिकहै। गौणहै। सब सविताहैं। गुरु सविताहैं, शिष्य इससे प्रेरितहै। पति सविताहै पत्नी प्रेरितहै। राजा सविताहै प्रजा उसकी प्रेरणासे प्रेरितहै। इसी प्रकार सर्वत्र सविताका साम्राज्य समझिए। इन मन्त्रका अधिष्ठाता सूर्य्यरूप सविताहै। प्रकृतमें सविता शब्दसे सूर्य्यका ही ग्रहणहै। क्योंकि यज्ञविद्या त्रयी वेद पर प्रतिष्ठितहै। सूर्य्य त्रयीमयहै। अतः यज्ञ प्रकरणमें सूर्य्यात्मक सविता का ग्रहण अपेक्षितहै। सूर्य्य अग्निमयहै। अग्नितत्त्व सत्यहै। अतः हम इस सविताको अवश्यही सत्यमूर्त्ति कहनेकेलिए तय्यारहैं। सौरमण्डलमें सर्वत्र सविता प्राण भराहुआहै। सौर रश्मिएं सविता प्राणमयी हैं। सौर मण्डल का कोईभी प्रदेश सविता प्राणमयी रश्मियोंसे शून्य नहींहै। कहीभी छिद्र नही है। त्रैलोक्यमें पदार्थों के दूषित भावको हटानेवाली अतएव पवित्र नामसे प्रसिद्ध सविता प्राणमयी रश्मिएं अच्छिद्रहैं—इसका तात्पर्य यहीहै कि वे रश्मिएं सत्यहैं। यद्यपि याज्ञवल्क्यने 'योवा अयं पवते एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्' इत्यादि रूपसे वायुको अच्छिद्र पवित्र बतलायाहै। तथापि विरोधका अवसर नहीं है। वायु वास्तवमें पवित्र करताहै। परन्तु सौर वायु न कि वारुण वायु। वारुण वायु तो सडान पैदा करदेताहै। सौर वायुमें 'इन्द्र तुरीया ग्रहा गृह्यन्ते' इस सिद्धान्तके अनुसार एक चौथाई इन्द्र रहताहै। इन्द्र सौर प्राणहै। इसीके सम्बन्ध से सौर वायुमें पवित्र करनेका धर्म्म उत्पन्न होताहै। चूंकि वायुसे भी कोई स्थान खाली नहीं है। सारे सौर मण्डलमें वायु व्याप्त रहताहै अतः उसी सौर रश्मिगत इन्द्रप्राण के सम्बन्धसे सौर मण्डलमें सर्वत्र व्याप्त सौर वायुको भी हम अच्छिद्र पवित्र कहसकतेहैं। वस्तुतः शोधन शक्ति सौर रश्मियों में ही है। अतएव आगे जाकर श्रुतिको—'एते वा उत्पावितारो यत् सूर्यस्य रश्मयः' यह कहना पड़ा है। इस प्रकार 'सवितुः०' इत्यादि मन्त्र द्वारा उसी अच्छिद्र पवित्रकी भा-

बना करताहुआ उसी सौर प्राणरूप 'वेन' से निर्म्मित कुशाओं द्वारा अध्वर्यु यज्ञपात्रोंको पवित्र करताहै।

६

संकुचित भाव अल्पताका मूल होताहुआ दुःख का कारण बनताहै। ऐसा भाव यज्ञ विरोधी है। इसीको दूर करनेंके लिए 'देवीरापो०' इत्यादि मन्त्र बोलताहुआ वाम हस्तमें पात्र लेकर दक्षिणसे ऊपरकी ओर प्रोक्षण करताहुआ आगे चलताहै। भूमण्डलमें आयाहुआ पानी दोषाक्रान्त होजाताहै। एवं अन्तरिक्षमें रहनेंवाला पानी इन्द्ररूप सौर प्राणमय वायुके सम्बन्धसे शुद्ध—पवित्र रहताहै। हमारा यह पानी दोषाक्रान्त नहीं है, अपितु शुद्ध आन्तरिक्ष्य अतएव भूमण्डलस्थ पानीकी अपेक्षा श्रेष्ठ पवित्रहै—अपने पात्रस्थ पानीको यह प्रतिष्ठा देनेंके लिएही ऊपरकी ओर प्रोक्षण क्रिया कीजाती है। इसी आधारपर—"उपस्तीर्सेनैना एतत्। महयत्येव"—यह कहा है।

पानीका निम्नगमन प्रसिद्धहै। पानी कहींभी डालदीजिए जिधर ढलाव होगा उसी ओर पानी चल पडेगा। आगे जाना पानीका स्वाभाविक धर्म्म है। हमभी यज्ञद्वारा आगे बढना चाहतेहैं। वही काम यज्ञस्वरूप संपादक इस प्रोक्षण पानीकाहै। यह हमारे कर्म्मके अनुकूलहै इसी बातको सूचित करनेंके लिए—'अग्रेगुवः' कहाहै। अपिच नदी तालाव—आदि सबका पानी अन्ततो गत्वा समुद्रमें ही विलीन होताहै। दोनों प्रकारसे पानी का आश्रय समुद्रहैश्र। भूपिण्डपर स्थित पानी यातो अन्तरिक्षरूप 'अर्णव समुद्र' में प्रतिष्ठित होताहै। अथवा यहीं के आपोमय पूर्व पश्चिमादि समुद्रोंमें मिल-

ताहै। यहांपर प्रधानता आन्तरिक्ष्य समुद्रकी है। जोकि समुद्र वायुमयहै। पानी वाष्प बनकर इसी समुद्रमें प्रतिष्ठित होताहै। पृथिवी से ऊपर का अन्तरिक्ष अग्रस्थानहै। यही पानी जाताहै। यही यजमान का देवात्मा जायगा। इसलिए भी पानीको—'अग्रेगू' कहा जासकताहै। इसी अभिप्राय को लक्ष्यमें रखकर 'ता यत् समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवः' यह कहाहै।

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते०, इत्यादि मन्त्र वर्णनके अनुसार पदार्थ के दूषित भावको नष्ट कर उसे पवित्र बनानें वाला परमेष्ठी मण्डलमें प्रतिष्ठित 'ब्रह्मणस्पति, नामसे प्रसिद्ध पवमान सोमहै। इस पवमान सोमका प्रथम भक्षण उस पारमेष्ठ्य वेन पानीसे ही होताहै। पहिले उसीका इसकी पवित्रताके साथ सम्बन्ध होताहै। संसारमें जितनें भी पदार्थोंके साथ पवमान सोमका सम्बन्ध हुआहै—उन सबमें प्रथम पानीका दर्जाहै। यही कारणहै कि 'पवित्रं वा आपः' इत्यादि रूपसे पानी कोही पवित्र बतलाया जाता है। सोम सौर प्राणरूप देवताओंका अन्नहै। परन्तु सौर देवताओंके हिस्सेमें यह पारमेष्ठ्य सोम पीछे आताहै। पहिले पारमेष्ठ्य वेनपानी इसका भोग करताहै। यहतो हुआ आधिदैविक चारित्र। अधियज्ञमें (मनुष्यकृत वैधयज्ञ) भी सोम रसावतार भूत सोमवल्लीका जब उपांशु अन्तर्याम होताहै, (सोमरस निकालनेके लिये जब सोम वल्ली कूटी जातीहै) तो वहाँ भी सर्वप्रथम पानीही उसका भक्षण करताहै। पानी डाल कर ही सोमवल्लीका अभिषव किया जाताहै। अनन्तर देवताओंके लिये आहुति दी जातीहै। बतलाना इससे यहीहै कि पवित्र करने वाली औरभी अनेक वस्तुएंहै। परतु उन सबमें प्रधान यह वेनकी प्रतिकृति भूत मौलिक पानी हीहै। क्योंकि पवित्र तत्त्व का सबसे पहिले इसी के साथ सम्बन्ध होता है। इसलिए हम अवश्यही इसे 'अग्रेगू' कह सकतेहैं। इसी विज्ञानको ल-

ध्यमें रखकर— ना यत प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रे पुवः' यह कहा है।

सम्पूर्ण विश्वके पदार्थ देव—भूत इनदो भावोंमे आक्रान्तहै। भूत-देव दोनों अविनाभूतहै। भूत वाक्तत्व है। प्राण देवतत्व है। भूत-देवरूप वाक् प्राणका संचालक तीसरा मनहै। मन अन्तरतमहै। इसके ऊपर प्राणका स्तरहै। प्राणके ऊपर वाक्का स्तरहै। मनसे प्राणकीसत्ताहै। प्राणसे वाक् की सत्ताहै। तत्तद्देवता युक्त तत्तद् आधिभौतिक पदार्थोंके द्वारा तत्तदाध्यात्मिक प्राणोंका नित्य आधिदैविक प्राणदेवताओंके साथ संगम करदेना ही एकमात्र यज्ञका फलहै। दूसरे शब्दोंमें पार्थिव मर्त्य भूतोंके संसर्ग से मर्त्य भावापन्न आध्यात्मिक प्राणों को आधिदैविक नित्य प्राणों के साथ मिलादेना ही यज्ञका चरम फलहै। इस देव सगमन प्रक्रियाके लिए पानी का सहारालेना अत्यन्त आवश्यकहै। 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' (छां० उ०) के अनुसार जैसे अन्न मनका स्वरूप संपादकहै, इसीप्रकार 'आपोमयः प्राणः' (छां, उ०) के अनुसार प्राणका स्वरूप संपादक पानी हीहै। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (प्रश्न उ०) के अनुसार सूर्य प्राणघन है। इसकी प्रतिष्ठा आपोमय परमेष्ठी हीहै। 'आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' (अथर्व०) के अनुसार भृगु-अंगिरा तत्वका ही नाम आपहै। अग्नि— —आदित्य तीनों अंगिराहैं जैसाकि पूर्वके अपांप्रणयन कर्म में विस्तारसे बतलाया जाचुका है। यद्यपि उदान—अपान—समान—व्यान—प्राण—वसु—रुद्रआदि भेदसे प्राण अनन्त भागोंमें विभक्तहै तथापि इन सबका आग्नेय, वायव्य, आदित्यात्मक अंगिरा प्राणमें ही अन्तर्भावहै, अतः प्रधानता इन्हीं तीन प्राणोंकी रहजातीहै। सर्वप्राण प्रतिष्ठारूप भागत्रय में विभक्त अंगिरा प्राण आपोमयहै, अतः हम अवश्यही पानीको प्राणकी प्रतिष्ठा मानने के लिए तय्यारहै। एक प्राणदेवताका दूसरे प्राणदेवताके

साथ प्राण प्रतिष्ठारूप पानीकी सहायता लेना परम आवश्यक होजाताहै। विना पानीके प्राण नग्नहै। 'अनग्नतायां वै बिभेमि-काते अनग्नता ? आपो वा अनग्नता' के अनुसार पानीही प्राणका स्वरूप रक्षकहै। प्राण यज्ञरूप भोजन क्रियाके आद्यन्तमें इसी अनग्नताको दूरकरने के लिए अमृतोपस्तरण, अमृतापिधान रूप आचमन का विधानहै। हमें अपने प्राणोंका आधिदैविक प्राणोके साथ योग करनाहै। यह योग पानी के द्वाराही होसकता है। अतः हम अवश्य ही इस पानीको देवताओं के साथ योग करानेवाला कह सकतेहैं। पानीही हमारे आध्यात्मिक प्राणोंको आधिदैविक प्राणोंके साथ योग कराताहै। इसप्रकार पानीका देवयुवत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। साथही में पानी यज्ञपति भी है। ऋषि प्राणमय स्वयम्भू मण्डल असंगभाव के कारण यज्ञमर्य्यादा से वहिर्भूत है। अंगिरात्मक अग्निमें सोमरूप भृगु की आहुति होनाही यज्ञहै। यह दोनो तत्व आपोमय परमेष्ठी में ही उत्पन्न होतेहैं। अतः हम अवश्य ही संसक्ति धर्म्मा पानीको 'यज्ञपति' मानने के लिये तय्यार है। इधर यह यजमान भी अपने प्राणदेवताओं क साथ उन नित्य प्राणदेवताओं का मेल कराता हुआ देवयुव है एवं अपने वैधयज्ञ का अधिष्ठाता होनेसे यज्ञपति है। यजमानका यह देवयुवत्व और यज्ञपतित्व उभयधर्मा पानी पर प्रतिष्ठित है। आप देवयुव है, यज्ञपति है, अतः 'देव युवरूप यज्ञपति यजमान को उसके यज्ञको आगे आगे लेचलो' इसी भावका परोक्ष रूपसे निरूपण करते हुए— 'अग्निमद्य यज्ञनयत' इत्यादि कहाहै।

७

सौररश्मिगत प्राण काही नाम इन्द्र है। पारमेष्ठ्य दूषित पानीही वृत्र है रश्मिरूप वज्रसे इन्द्र इस वृत्रासुर का संहार करता है अवश्य, परन्तु

पानीकी सहायता से दूषित पानीको पानी ही हटा सकता है । कीचड़ को साफ करनेके लिए स्वच्छ पानी ही अपेक्षित है । रश्मियों में आया हुआ वेनपानी स्वच्छ है इसीकी सहायतासे इन्द्र वृत्रको मारने में समर्थ हुएहैं । साथही मे इस पानी ने उसका आश्रय ले रक्खा है । इसका तात्पर्य यही है कि विना इन्द्रके सम्बन्धके यह पानी दोषाक्रान्त है। ऐसा पानी वृत्र वधमें अनुपयुक्त है । इन्द्र प्राणका आश्रय लेकर स्वच्छ होता हुआही पानी वृत्र वधमें उपकारी होता है । जिसप्रकार वृत्रासुरके वधके लिए इन्द्र और पानी दोनों एक दूसरेका आश्रय लेलेते है. उसी प्रकार यज-मान रूप इन्द्र अपने यज्ञमें अपना आक्रमण करने वाले असुरों के नाशके लिए पानी का वरण करताहै, पानी इसका वरण करताहै । परस्पर के संगठन से ही देशभञ्जक शत्रुओं का नाश होसकता है । अतः शत्रुनाश के लिए परस्पर का सगठन नितान्त अपेक्षित है। यही निष्कर्ष है ।

इसप्रकार मन्त्रपूत प्रोक्षणी पानीसे हविर्द्रव्य एवं यज्ञपात्रोंको प्रोक्षण किया जाता है। इस प्रोक्षण से इनको दोषरहित कर संस्काराधान योग्य बना दिया जाताहै । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–पात्रों का निर्म्माण तक्षा (रथकार) करता है। रथकार शूद्रहै । शूद्रके स्पर्श से पात्र अशुद्ध होजाते हैं। शूद्र भाव यज्ञ विरोधीहै। अतः उसके निकालने के लिए भी प्रोक्षण करना आवश्यक है । अपने आपको सर्वात्मना पवित्र समझने का गर्व रखनेवाले 'आत्मतुष्टि' की दुहाई देनेवाले कुछ महानुभाव स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था को कल्पना बतलाते हैं । उनका कहना है कि एकही ईश्वर से उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों में भेदभाव मानना अन्याय है ।

जैसे हाथ-पैर—नाक-मुख हमारेहैं, वैसेही उनकेहैं । उत्पत्तिका जो क्रम हमारा है, वही उनका है । ऐसी अवस्था मे कोई कारण प्रतीत नही होता जिससे कि शूद्र कहलाने वाले मानवसमाज के साथ व्यवहार न किया जाय। स्वार्थियोंने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए धर्मशास्त्र की दुहाई देकर यह सारा बखेडा मचारक्खा है इसलिये भारत के कल्याण के लिये छूताछूत के भूत को सदाके लिए भगा देना चाहिए । कहना नही होगाकि ऐसे महानुभावोंने अपनी उच्छृंखला वृत्ति का परिचय देकर देशमें कैसी अशान्ति फैलादी है । पवित्र देवमन्दिरोंकी मर्यादा नष्ट करने के लिए इन कल्याणप्रेमियोंने धार्मिक जगतको खूब कष्टदियाह। गुरुवयूर के झगडे से सारा देश क्षुब्ध होपड़ा परन्तु अन्ततोगत्वा धर्म्ममूर्ति श्री जमोरिनकी दृढ़ता एवं सनातन धर्म्मावलम्बियों की जागरूकता के सामने इन्हें परास्त होनापड़ा । जब लोकसंग्रह में इनकी नीति विफल हुई तो व्यवस्थापिका सभामें उत्पात मचाया गया । वहांभी जैसी मुंहकी इनको खानी पडी ह, वह धार्मिक जगतसे अविदित नही है । अब प्रश्न हमारे सामने यह बच जाताहै कि क्या वास्तवमें छूताछूत कल्पना मात्र है अथवा इस व्यवस्था में कुछ सार है। काष्ठनिर्म्मित पात्रभी ऋषियोंकी दृष्टिमें शूद्रसे छूनेनेपर अशुद्ध होजाते हैं, ऐसी अवस्था में द्विजाति स्पर्श कातो कहनाही क्या है । प्रसंगागत आज इसी उलझन को सुलझाने की चेष्टा की जातीहै । आज दिन संसार में विश्व शांति का प्रश्न खड़ा होरहा है । प्रबल वेगसे बढ़ती हुई अर्थलालसा को पूरी करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र नित्य नए घातक आविष्कार कररहा है । आविष्कारों के बलपर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निगलना चाहताहै, फलतः सर्वत्र अशांति का साम्राज्य होरहा है । परन्तु साथही में अशान्ति द्वारा होने वाले धन—जनका नाश होते देखकर आए साल कान्फ्रेंस होती है—एवं उनमें 'विश्वमें शांतिस्थापन कैसे हो' यह

प्रस्ताव रक्खा जाता है, परन्तु सब व्यर्थ। आप पूछेंगे—ऐसा क्यों ? उत्तर स्पष्ट है। आज प्रत्येक मनुष्य यावज्जीवन सब तरह से उन्नत होना चाहता है। धन भी पर्य्याप्त चाहिए। सबको उपदेश देने की योग्यता भी होनी चाहिए। शस्त्रादि का बलभी पर्याप्त होना चाहिए।

साथहीमें सेवा वृत्ति (तन्तुविज्ञान—उपानत् परिष्कार—सारथि क्रिया नैपुण्य आदि आदि) की भी पूर्ण योग्यता चाहिए। बस विश्वअशांतिका एकमात्र यही कारण है। भारतीय महर्षियों ने अपने दिव्य ज्ञानसे प्रकृति मण्डल में देवता विभाग के अनुसार विभक्त चातुर्वर्ण्य को देखा, तदनुसारही उन्होंने नित्य सिद्ध वर्णव्यवस्था को मानवसमाज में विभक्त किया कहना नहीं होगा कि एकमात्र इसी व्यवस्थाके बलसे भारतवर्ष ज्ञान, क्रिया अर्थ, शिल्प आदि में जगद्गुरु कहलाया। एवं इसी व्यवस्था के अनुपालन से भारतवर्ष में पूर्ण शांति रही। अब भी हमारा यहभी दृढ़ विश्वास है कि भारत जबतक इसे अपनाए रहेगा तभीतक इसका कल्याण है। अन्यथा विनाश के लक्षण तो उपस्थित है ही। वसु, रुद्र, आदित्य, पूषा इनचार प्राकृतिक देवताओं के आधार पर चातुर्वर्ण्य विभक्त है। वसु प्रातः काल के देवता हैं। इनका छन्द गायत्री है। रुद्र मध्याह्न के देवताहैं। इनका छंद त्रिष्टुप है। आदित्य सायंकाल के देवता है। इनका छन्द जगतीहै। पूषा पूर्वरात्रि के देवता है। इनका कोई छंद नहीं। सूर्य ही हमारा आत्मा है। छन्द भेदसे एकही सूर्य चार अवस्थाएं धारण करलेता है। प्रातः कालका सूर्य-प्राण गायत्री छंद से छन्दित वसुदेवता मय बनता हुआ ज्ञान शक्तिका प्रसार करता है। इस प्राणकी प्रधानता जिसमें रहती है वह वर्णों में ब्राह्मण है। मध्याह्न का सूर्य-प्राण त्रिष्टुप् छंद से छन्दित रुद्रदेवतामय होता हुआ क्रिया शक्तिका प्रसार करता है। जिसमें इस प्राणकी प्रधानता होती है वह वर्णों में क्षत्रिय है। सायंकाल

का सूर्य प्राण जगती छन्द से छन्दित आदित्य देवतामय होता हुआ अर्थ शक्ति का प्रसार करता है । इस प्राणकी प्रधानता जिसमें होती है, वह वर्णों में वैश्य है । पूर्व रात्रिका सौरप्राण अछन्द स्वच्छन्द पूषाप्राणमय होता हुआ पारतन्त्र (सेवाभाव) वृत्तिका प्रसार करताहै । जिसमें इस प्राण की प्रधानता होती है वह वर्णों में सच्छूद्र है । जिसके आत्मा में देवप्राण विकासित होता है ऋषियोंने उसे ही 'वर्ण' शब्दसे व्यवहृत किया है एवं जिसमें देवभाग प्रस्फुटित नहीं हैं उसे अवर्ण शब्दसे व्यवहृत किय है । देवता-पूर्वानुसार चार है, अतएव वर्ण कुल चारही प्रकारके होतेहैं । इसीप्रकार अवर्ण भी चारही भागों में विभक्त हैं । जिस शूद्र में पूषाप्राण रहताहै वह सच्छूद्रहै । वह वर्णहै । परन्तु जिसमें पूषाप्राण रहता नहीं वह अवर्ण है । इसीको भगवान पाणिनि ने 'शूद्राश्चावरवर्णानाम्' इत्यादि रूप से अवरवर्ण मानाहै । यही धर्मशास्त्रोक्त असच्छूद्रहैं । इनके तामसभाव के तारतम्य से अन्त्यज, अन्त्यावसायी दस्यु, म्लेच्छ यह चार अवान्तर भेद होजाते हैं । अन्त्यज, अन्त्यावसायी हमारे समाजके उपयोग में आते हैं । दस्यु जंगली डाकू हैं । म्लेच्छ यवनादि हैं सबसे निकृष्ट यही है । अतएव 'न नीचो यवनात् परः' यह प्रसिद्ध है । देवता समीकरण चाहता है । गरम पानीको ठंडे पानीमें डालदीजिए गरमी ठंडे पानी में संक्रान्त हो-जायगी । जिसमें देवता नही है देव भावापन्न व्यक्ति यदि उसका स्पर्श करता है तो उसका देवप्राण उसमें चला जाताहै । सहासन, सहाशन, स-हभाषण, स्पर्श आदि से एक दूसरे के गुणदोष एक दूसरेमें संक्रान्त हो-जाते हैं । मानलीजिए एक चर्मकार का (जिसमें कि देवप्राण जराभी नहीं है) एक ब्राह्मणने स्पर्श करलिया । होता क्याहै-ब्राह्मणका देवप्राण उसमें चला जायगा । ब्राह्मण अपनी योग्यता से गिर जायगा । साथही में त्त-णिक देवसंस्कार से चर्म्मकार ब्राह्मणत्व प्रतिपादक योग्यतासे वञ्चित हो-

ताहुआ अपने स्वरूप कोभी खोबैठेगा। दोनों का स्वरूप बिगड़ जायगा। समाज छतविक्षत होजायगा। बस, एकमात्र इसी आपत्ति से समाज को बचाने के लिए ऋषियों ने स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था व्यवस्थित कीहै। ऐसी अवस्थामें इसे कल्पना बतलाने का साहस करना कल्पना मात्र है। व्यवस्था में कोई दोष नहीं। हम उसका यथावत् पालन नहीं करते. यह हमारा दोषहै, एवं उसका फल भी भोगा जारहा है। चेतनोंके परस्परके स्पर्श से संक्रमणदोष होजाय तो आश्चर्य नहीं है, ऋषि तो जड़पदार्थों में भी इस दोषकी सत्ता मानते हैं। रथकार द्वारा निर्मित यज्ञपात्रों में भी स्पर्श दोष घुस पड़ता है। यदि पात्र उसी रूपमें यज्ञमें लेलिए जांय तो यज्ञ नष्ट होजाय। इस त्रिनष्टिको दूर करने के लिए पहले इनका प्रोक्षण किया जाता है. स्पृश्यास्पृश्य के विषय में हमें बहुत कुछ वक्तव्य है। आगे आने वाले सोमयज्ञमें इसका विशद निरूपण किया जायगा। १०।११।१२

इति अपां, हविषां, यज्ञपात्राणां प्रोक्षणं समाप्तम्।

इति प्रोक्षण ब्राह्मणम्।

१ कां। १प्र०। १ अ०। ३ ब्रा०

अथ कृष्णाजिनमादत्ते। यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजहुः ॥१॥

तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि। तान्यृचां च साम्नां च रूपं यानि शुक्लानि तानि साम्ना$^{\circ}$रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि वेतरथा यान्येव कृ-

ष्णानि तानि साम्नाꣳरूपं यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषाꣳरूपम् ॥२॥

सैषा त्रयी विद्या यज्ञः । तस्या एतच्छिल्पमेष वर्ण-स्तद्यत् कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मात् कृ-ष्णाजिनमधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मादध्यवहनन-मधिपेषणं भवत्यस्कन्नꣳहविरसदिति तद्यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात् तद्यज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठादिति तस्मा-दध्यवहननमधिपेषणं भवति ॥३॥

अथ कृष्णाजिनमादत्ते । शर्मासीति चर्म वाऽएतत् कृ-ष्णस्य तदस्य तन्मानुषꣳशर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मा-सीति तदवधूनोत्यवधूतꣳरक्षोऽवधूता अरातय इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्त्यप्रतीत्येव पात्राण्यवधूनोति य-द्वस्यामेध्यमभूत् तद्वस्यैतदवधूनोति ॥४॥

तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति । अदित्यास्त्वगसि प्रति-त्वादितिर्वेत्त्विति इयं वै पृथिव्यदितिस्तस्याऽअस्यै त्वग्यदि-दमस्यामधि किं च तस्मादाहादित्यास्त्वगसीति प्रतित्वा-दितिर्वेत्त्विति प्रति हि स्वः संजानीते तत्सञ्ज्ञामेवैतत् कृ-ष्णाजिनाय च वदति नेदन्योन्यꣳहिनसातऽइत्यभिनिहि-तमेव सव्येन पाणिना भवति ॥५॥

पुरोडाश संपादनम्

अथ कृष्णाजिनमादत्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय । यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम, स कृष्णो भूत्वा चचार । तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाऽऽजह्रुः ॥ तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि—तान्यृचां च साम्नां च रूपम । यानि शुक्लानि तानि साम्नां रूपम्, यानि कृष्णानि तान्यृचाम । यदि वेतरथा—यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूपम, यानि शुक्लानि तान्यृचाम । यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषां रूपम ॥ सैषा त्रयी विद्या यज्ञः । तस्या एतच्छिल्पम्—एष वर्णः । तद्यत् कृष्णाजिनं भवति । यज्ञस्यैव सर्वत्वाय । तस्मात्कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते—यज्ञस्यैव सर्वत्वाय । तस्मादप्यवहननमधिषवणं भवति—अस्कन्नं हविरसदिति । तद्यद्येवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात्—तद्यज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठादिति । तस्मादध्यवहननमधिषेवणं भवति ॥ अथ कृष्णाजिनमादत्ते—"शर्म्मासि"—(१ अ० १४ मं०) इति । चर्म्म वा एतत्कृष्णस्य, तदस्य तन्मानुषम, शर्म्म देवत्रा । तस्मादाह—शर्म्मासीति । तदवधूनोति—"अवधूत ५ रक्षोऽवधूता अरातयः"—(१ अ० १४ मं०) इति । तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति । अतिनेदेव पात्राण्यवधूनोति । यद्ध्यस्यामेध्यमभूत्—तद्ध्यस्यैतदवधूनोति ॥ तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति—"अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्तु"—(१ अ० १४ मं०) इति । इयं वै पृथिव्यदितिः । तस्या अस्यै त्वग्—यदिदमस्यामधि किञ्च । तस्मादाह—अदित्यास्त्वगसीति । प्रतित्वादितिर्वेत्त्विति । प्रति हि स्वः सञ्जानीते । तत्सञ्ज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च वदति । नेदन्योन्यं हिनसात इति ।

पुरोडाश संपादन

प्रोक्षणानन्तर वह अध्वर्यु यज्ञकी सर्वता के लिए कृष्णमृगचर्मका ग्रहण करताहै । देवताओं से यज्ञ आक्रान्त होगया । वह कृष्ण मृग वन-

कर (इधर उधर) विचरने लगा । उसके स्वरूप को देवताओंने पहिचान (उसके) चर्मको नोंचकर (अपने यज्ञकी पूर्णता के लिए) लेलिया ।१।

उस कृष्णचर्मके जो शुक्ल कृष्ण लोम थे वह ऋक् सामके रूपथे । जो शुक्ल (लोम) थे वे साम के रूपथे, एवं जो कृष्ण (लोम) थे वे ऋक् के रूप थे । अथवा उलटा समझिए । जो कृष्ण (लोम) थे वे साम के रूप थे, जो शुक्ललोम थे वे ऋक् के रूपथे । जोकि बभ्रु (नकुल) वर्णके समान हरित वर्ण को लिए हुए लोम थे वे यजु के रूपथे ।२।

वह यह त्रयी विद्या ही यज्ञ है । उस त्रयी विद्याका (पूर्वोक्त शुक्ल कृष्ण हरित) वर्ण शिल्प है । अतः (यज्ञमें) कृष्णमृग चर्मका ग्रहण होता है वह-यज्ञकी सर्वताके लिए ही समझना चाहिए । तात्पर्य यही है कि यज्ञत्रयी वेद स्वरूप है । बिनात्रयी के यज्ञ अधूरा है । इधर कृष्णमृग चर्म त्रयी विद्याकी- प्रतिकृति है अतः- यज्ञकी सर्वता के लिए त्रयीवेद स्वरूप इस कृष्णमृग चर्मका ग्रहण यज्ञमें नितान्त अपेक्षित है । इसी यज्ञकी सर्वता के लिए (सोम यज्ञमें) कृष्णमृगचर्म पर बैठकर ही दीक्षा लेतेहै । अतएव हविर्द्रव्य का कुट्टन और पेषण भी इसी मृग-चर्मपर होता है—इसका एकमात्र प्रयोजन यही है कि यह हविर्द्रव्य यज्ञ सीमा से बाहर न गिरे । सो जो तण्डुल वा पिष्ट है वह यदि गिरे तो यज्ञ में ही यज्ञ प्रतिष्ठित रहे । तात्पर्य यही है कि हविर्द्रव्य भी यज्ञहै इधर कृष्णमृग चर्मभी यज्ञहै । ऐसी अवस्थामें अवहनन, पेषण क्रियासे हवि रूप यज्ञका जो भाग उछटकर कृष्णमृग चर्मपर गिरगा वह यज्ञपर ही प्रतिष्ठित होगा । इसी यज्ञ प्रतिष्ठाके लिए कृष्णमृग चर्मपर ही अवहनन और पेषण कर्म्म किया जाताहै ।

यज्ञमें कृष्णमृग चर्मका ग्रहण क्यों किया जाताहै ? इसकी उपपत्ति बतलादी गई—अब आवृत् (पद्धति—ग्रहणप्रकार) बतलाते हैं ।

(यह अध्वर्यु) 'शर्मासि' यह मन्त्रभाग बोलता हुआ कृष्णमृगचर्मको ग्रहण करताहै। यह कृष्णमृग का चर्म्म है । चर्म यह इसका मानुष नाम है। अर्थात् मनुष्य संप्रदायमें इसे चर्म कहा जाता है। इसी को देवसंप्रदाय में 'शर्म' कहाजाता है । हम जिसे चर्म कहते है, उसे देवता शर्म शब्द से व्यवहृत करते हैं, यही निष्कर्ष है। इसी अभिप्राय से 'शर्मासि' यह कहा गया है।

(ग्रहणानन्तर अध्वर्यु) 'अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः' यह मन्त्रभाग बोलता हुआ उस चर्मको झाड़ता है । इस अवधूनन क्रियासे यज्ञनाशक राक्षसों को ही इससेदूर करताहै।

अवधूननानन्तर पूर्वकी ओर ग्रीवा करके 'अदित्यास्त्वगसि, प्रतित्वा-दितिर्वेत्तु' यह मन्त्रभाग बोलता हुआ अध्वर्यु उसे बिछाताहै। इस पृथिवी पर (जोकि अदिति नामसे प्रसिद्ध है) जो कुछ है, वह सब इसका त्वक् स्थानीय है । इसी अभिप्रायसे 'आदित्यास्त्वगसि' यह कहा है । अथवा मनुष्य अपने आपको पहिचान लेता है। 'प्रतित्वा अदितिर्वेत्तु' यह वाक्य भी कृष्णाजिन के लिए इसी संज्ञान को बतलाता है । तुमको अदिति पहिचाने—इसका तात्पर्य यही है कि अदिति तुम्हें अपनी अंग समझती हुई तुम्हें अपने ऊपर प्रतिष्ठित करें । 'दोनों एक दूसरे का घात न करें' यही निष्कर्ष है।

'कृष्णमृग चर्म्म त्रयी विद्या स्वरूप है। उसके कृष्णलोम ऋग्वेद है, शुक्ल लोम सामवेद है, अथवा कृष्णलोम सामवेद है, शुक्ल लोम ऋक्वेद है, नकुल वर्णवाले लोम यजुर्वेद है। काले हरिण का चमड़ा वेदमूर्ति है । यह साक्षात् यज्ञ है । अतः यज्ञ प्रतिष्ठा, यज्ञकी पूर्णता के लिए 'यज्ञ में अवश्यही इसका ग्रहण करना चाहिए' श्रुति इन साधारण अक्षरों

से हमें वह अपूर्व विज्ञान बतलाती है कि जिसके वास्तविक रहस्य को समझलेने से सारा यज्ञ रहस्य गतार्थ होजाता है ॥ कोई भी विद्वान् चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों नहो जबतक ब्रह्मविज्ञान सम्बन्धी चिरकाल से गुहानिहित वैदिक परिभाषाओं का परिचय प्राप्त न करलेगा तबतक पूर्वोक्त पङ्क्तियों के यथार्थ रहस्य को वह कदापि गतार्थ नहीं कर सकता । ऐसी रहस्य कथाएं ब्राह्मण ग्रन्थों में भरी पडी है । न केवल ब्राह्मण ग्रन्थों में ही अपितु संहिताएं भी इन कथाओं का आगार है । उन सब वैज्ञानिक कथाओं के निगूढ़ रहस्य को बतलाने वाला 'रहस्य-शास्त्र' काल पुरुष की कृपा से विलुप्त होगया है । जैसे निदान, गाथा आदि ग्रन्थों के लुप्त होजाने से आज वेदार्थ परिज्ञान के लिए कठिनाइयों का सामना करना पड़ताहै, वही कठिनाई रहस्य शास्त्र के लुप्त होजाने से होरही है । पुराण शास्त्रने यद्यपि इस कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया है, परन्तु पुराण का जिस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिए वह दृष्टि आज विद्वानों में ही नही रही । दोसौ चार सौ श्रद्धालुओं के सामने ऊंची गद्दी पर बैठकर अक्षरार्थ कर देने में ही आजदिन पुराणकी इतिश्री समझली गई है । इधर कथावाचक महोदय वेद का नाम भी नही जानते ।

'पुराणं सर्व शास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥'

इन शब्दोंमें पुराणकी महत्ता प्रकटकी जाती है, वही गंभीर शास्त्र आज बच्चोंका खिलौना बन रहा है । साधारण पढ़ेलिखे कथावाचक आज 'पौराणिक' नामसे अलङ्कृत किए जाते हैं । कहना नहीं होगा कि कथावाचकों की कृपा से पुराण का वास्तविक स्वरुप कितना बिगड़ गया है, एवं उस आर्य सर्वस्व पर आज विद्वत्-समाज की कैसी अश्रद्धा होगई है । इसप्रकार

वेदोंके ही उपसंहार रूप पुराण शास्त्र भी हमारी रहस्य सम्बन्धी जिज्ञासा पूरी करने में कुण्ठित बना दिया गया है। पुराण का प्रतिपाद्य विषय इतना गहरा है कि साधारण मनुष्य उसके आश्रय से और भी अधिक उलझन में पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में जो दशा निगम की है, वही इस आगम की है। निगम का केवल डिण्डिम घोष है। पाश्चात्य विद्वानोंने अपने परिश्रम से वेदों का जो अर्थ समझा है उसी उच्छिष्ट को लेकर अपने आपको वेदज्ञ समझने का गर्व करने वाले भारतीय भी उस मौलिक रहस्य ज्ञान से वञ्चित होरहे हैं। यदि किसी पाश्चात्यने कृष्णमृग चर्मके परोक्ष स्वरूप को अलङ्कारिक बतला दिया तो इन महानुभावों को भी सब जगह अलंकार ही के दर्शन होने लगे। हम ऐसे महानुभावों को यह विश्वास दिला देना चाहते हैं कि वेद ऐसा गहन शास्त्र है जिसमें बिना डुबकी लगाए केवल पाश्चात्यों के उच्छिष्ट भोगी बनने से काम नहीं चल सकता। इसके लिए तो चिरकालिक तपोयोग चाहिए। तब कहीं इसमें चञ्चु प्रवेश का अधिकार मिल सकता है। वेदके एकदेशी भाग को देखकर उसका मर्म समझ लेना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है। वेद तत्व प्रतिपादक ब्रह्मविज्ञानका यथार्थ परिचय प्राप्त किए बिना वेदार्थ समझने की आशा करना केवल दुराशा मात्र है। प्रकृत में हमें कृष्णमृग चर्मका वेदत्व स्थापन करना है। इसके लिए प्रथम उन्हीं परिभाषाओं की शरण में चलना होगा। संभव है इसके रहस्य प्रतिपादन में विस्तार हो जाय। इसके लिए हम पाठकों से पहिले ही यह निवेदन करदेना चाहते हैं कि विषय की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए मूलग्रन्थ की ओर अधिक लक्ष्य न देवें।

'सर्वमु्ह्येवेदं प्रजापतिः' (शतपथ) प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिताबभूव' 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किंच' इत्यादि

श्रुतिएं सर्वत्र प्रजापति काही साम्राज्य बतलाती हैं। इस सर्वव्यापक प्रजा-पति के अनेक रूप है। निरुक्त, अनिरुक्त, उद्गीथ, सर्व, सत्य, यज्ञ आदि अनेक रूप धारण कर के प्रजापति सब रूप में परिणत होरहे हैं एवं सब पर अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है। इस 'कृष्णमृग' प्रकरण में हम आपका ध्यान केवल सत्य प्रजापति और यज्ञ प्रजापति इन दो स्वरूपों की ओर आकर्षित करनाहै। सत्य प्रजापति हमारे विज्ञान शास्त्र मे (वेदशास्त्र में) मौलिक तत्त्व (फिजिक्स) हैं एवं यज्ञ प्रजापति यौगिक तत्त्व (केमिस्ट्री) है। यौ-गिक तत्व स्वरूप यज्ञ प्रजापति की प्रतिष्ठा मौलिक तत्त्व स्वरूप सत्य प्रजापति ही है। दूसरे शब्दों में सत्य ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है। विना सत्यके यज्ञ अप्र-तिष्ठित है। अतः प्रत्येक यज्ञ मे सत्यका आश्रय लेना परम आवश्यक है। उसी सत्य प्रजापति के ग्रहण के लिए प्रकृत में कृष्णमृगचर्मका ग्रहण किया जाता है। निदान के अनुसार कृष्णमृगचर्म साक्षात् सत्य प्रजापति की प्रतिकृति है। बस प्रथम हमें वेदत्रयी रूप इसी सत्य प्रजापतिका स्वरूप आपके सामने रखना है।

अम्भोवादके अनुसार सम्पूर्ण विश्व पानीसे उत्पन्न हुआ है। 'आपो-वाइदमग्रे सलिलमेवास' (शतपथ ११) 'आप एवेदमग्र आसुः' (शतपथ ७) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार किसी समय सर्वत्र पानीका ही साम्राज्य था। जिसका कि विशद निरूपण पूर्वके 'अपांप्रणयन' प्रकरणमें किया जाचुका है। वही आपोमण्डल 'परमेष्ठी' नामसे प्रसिद्ध है। जब तक सूर्य उत्पन्न नही होता तब तक तो वह केवल 'आप' नामसे व्यवहृत होता है, परन्तु सूर्य उत्पत्ति के अनन्तर वही (सूर्यादपि परमे स्थाने सीदन्ति) इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'परमेष्ठी' नाम धारण करलेताहै। वह आप प्रथम 'सलिल' रूप में रहता है। 'इरा' रसका नाम है एवं द्रवणशील इरा ही 'सरिर' है। सरिर ही निरुक्त क्रमानुसार 'सलिल' है। वह आपोरस बहता हुआ है अतएव 'सरित् इरा यस्य' इस व्युत्पत्ति क अनुसार सलिल

यहां असुरोंका नाश है। साथहीमें तपःपूत आहिताग्नि अध्वर्यु साक्षात् देवमूर्त्ति है, अग्निमय है, विद्युत्‌रूप है। गर्भाधानादि संस्कारोंसे युक्त ब्राह्मणमें एक प्रकारका नया वैध अग्नि उत्पन्न होजाता है। वह अग्नि आसुरभावको जलाडालता है। अतएव इस अग्निको 'सांतपन' अग्नि कहा जाता है। इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित श्रुति वचन हमारे सामनें आते हैं—

१ "एष ह वै सांतपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मणः। यस्य—गर्भाधानपुंसवन सीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनगोदानचूडाकरणोपनयनाप्लवनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सांतपनः।" गोपथ ब्रा० पू० २।२३ इति।

२ "ब्राह्मणो ह वै सर्वा देवताः" तै० ब्रा० १।४।४ इति॥

३ "एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद् ब्राह्मणः", तै० ब्रा० ३।७।३।२ इति॥

मन्त्र भी ब्रह्म है। एवं 'ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यद् ब्राह्मणः' (शत० १३।१।५।२) के अनुसार ब्राह्मणभी ब्रह्म है। 'विद्युद्ध्येव ब्रह्म' (शत० १४।८।७।१) के अनुसार ब्रह्म साक्षात् विद्युत है। 'यदेतदाविद्योतते विद्युत' (केनोपनिषत्) के अनुसार विद्युत साक्षात् इन्द्र है। इन्द्र असुरोंका नाश करनें वाले हैं। बस आज यह अध्वर्यु मन्त्र बोलकर हविका स्पर्श करता हुआ अपनी आध्यात्मिक विद्युतसे, एवं मन्त्ररूप आधि भौतिक विद्युतसे हविगत राक्षसोंका आमूलचूड़ विनाशकर डालता है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'यद्युनाभ्येव—पूर्येत। तथाह्या०' इत्यादि कहा है॥

अनन्तर हविग्रहणके लिए 'यच्छन्तां पञ्च' (पांच तुम्हारा ग्रहणकरें—तुमः पांचसे पकड़ली) यह मन्त्र बोलता हुआ अपनी पांचों अंगुलियें हविमें डाल

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृग्वङ्गिरसः श्रिताः ॥
(अथर्ववेद)

आपोमय समुद्रमें अङ्गिराग्नि परमाणु रूपमें सर्वत्र व्याप्त होरहाहै। 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय' प्रजापतिकी इस मय कामना से होने वाले तप (प्राणव्यापार) और श्रम (वायुव्यापार) से उन आग्नेय परमाणुओंका संघात होने लगताहै। विखरे हुए आग्नेय परमाणुओं को चारो ओरसे समेट–समेट कर उन्हें केन्द्रमें प्रतिष्ठित करानेवाला 'यज्ञवराह' है। वायु को ही वराह कहतेहैं। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी आदि जितने भी पिण्डहैं उन सबका निर्म्माण इसी वराह के द्वारा होताहै। पांचो मण्डलोंके भिन्न भिन्न वराहहैं। स्वयम्भू स्वरूप संपादक वराह 'आदि वराह' नामसे प्रसिद्धहैं, परमेष्ठी स्वरूप संपादक वराह 'यज्ञवराह' नामसे प्रसिद्ध है, सूर्य्य स्वरूप संपादक वराह 'श्वेतवराह' नामसे व्यवहृत होते हैं, पृथिवी स्वरूप संपादक वराह 'एमूष वाराह' नामसे पुकारे जातेहैं एवं चान्द्रवराह 'ब्रह्मवराह' कहलाते है। पांचों वायुरूपहै। भार्गव वायु ही यज्ञवराह है। वायुद्वारा आग्नेय परमाणुओंका संघात होताहै। 'वृणुते इति वरः—अह्नोतीति अहः' 'वरश्चासौ अहश्च' के अनुसार परमाणुओं का चारो ओरसे संवरणकर उनपर चारो ओरसे व्याप्त हो उनपरमाणुओंको पिण्डरूपमें परिणत करदेनेवाला वह वायुतत्व 'वराह' नामसे प्रसिद्ध होजाताहै। वस यज्ञवराह रूप पारमेष्ठ्य वायुने चारो ओर फैले हुए आग्नेय परमाणुओंको एक स्थानमें जमा करना प्रारम्भ किया। होते होते जब वायु का चारो ओरसे बहुत दबाव पड़ा तो बीचमें संघात भावापन्न वह आग्नेय परमाणु ज्वलित हो उठे। वही परमाणु संघ 'सूर्य्य' नामसे प्रसिद्ध हुआ। यह सौराग्नि–दबावसे–घर्षणसे–पैदाहुआ, तभीसे अग्नि 'सहोजा' नामसे व्यवहृत होने लगा। 'सहसो जात ओजसः' (यजुर्वेद) के अनुसार अग्नि

सहोबल (दबाव घर्षण) सेही उत्पन्न होताहै। प्रत्येक पदार्थमें अग्नि सुप्तहै। घर्षण द्वारा उसपर जैसेही दबाव डालाजायगा अभी अग्नि ज्वाला प्रकट होजायगी। कहना प्रकृतमें यही है कि उस आपोमय परमेष्ठि मण्डलके केन्द्रमें यज्ञवराह द्वारा सर्वप्रथम अग्निमूर्त्ति भगवान् अंशुमाली का प्रादुर्भाव हुआ। यह अग्नि पिण्डरूप था—सहृदय था—सशरीरी था अतएव वैज्ञानिकोंने इस रूपको 'सत्य नामसे' व्यवहृत किया क्योंकि सत्यकी यही परिभाषाहै। पानीने पहले इसी सत्यको उत्पन्न कर उसे अपने गर्भ में धारण किया इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर ऋषि कहते हैं—

'आप एवेदमग्र आसुः—ता आपः सत्यमसृजन्त' 'तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः' (शत० १४ का० ८ अ० ६ ब्रा०)

आदित्य रूप सत्य प्रजापति ही कूर्म्मावतारहै जिसकाकि ,निरूपण किसी आगेके प्रकरणमें किया जायगा। यह कूर्म्म रूप सूर्य्य उस पानीके केन्द्रमें जहां पानीकी गहराईकी पराकाष्ठाहै प्रतिष्ठितहै। यही बात निम्नलिखित मन्त्र वर्णनसे स्पष्ट होजातीहै—

'अपां गंभन्त्सीद' इत्यादि व्याख्याकरते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहतेहैं—'एतद्ध अपां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति' (श० ७ का० ४ प्र० ५ अ० १ ब्रा०) अर्थात आपही (आपका आंगिरस आग्नेय भागही) सत्यरूपमें परिणत हुआहै इसी आधारपर—

'तद्यत् सत्यमाप एव तत। आपो वै सत्यम' (७।४।१।६) यह कहा जाताहै।

आपोमय मण्डलके केन्द्रमें सूर्य्य नामसे प्रसिद्ध सत्य तत्व उत्पन्न हुआ। यही सत्य तत्व आगे जाकर 'ब्रह्म' (वेदत्रयी) रूपमें परिणत होताहै।

पूर्व प्रकरणसे यह भलीभांति सिद्ध होजाताहै कि आपोमय परमेष्ठी मण्डलके केन्द्रमें पिण्डरूपमें परिणत सौराग्नि ही 'सत्य' है। इस अग्निके

(जोकि ताप रहितहै) अग्नि–वायु–आदित्य यह तीनों रूप होजाते हैं। अग्नि पार्थिव लोकका अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) बनताहै, वायु अन्तरिक्षमें अपना प्रभुत्व रखताहै एवं द्वादशादित्यात्मक सूर्य्य द्युलोकका अधिष्ठाताहै। याज्ञिक परिभाषाके अनुसार पार्थिव अग्नि 'गार्हपत्याग्नि' कहलाताहै, अन्तरिक्षयाग्नि अपराग्नि–एवं धिष्ण्याग्निनामसे प्रसिद्धहै। एवं दिव्याग्नि को 'आहवनीयाग्नि कहाजाताहै। तीनोंही मौलिक प्राणहै। तापशून्यहै। तीनोंके दार्शनिक परिभाषानुसार प्राण–अपान– व्यान यह नामहै। प्राण सौरहै। व्यान आन्तरिक्ष्यहै, अपान पार्थिवहै। प्राण उपांशुहै, अपान अन्तर्यामहै, व्यान उपांशु सवनहै। उपांशु सवन (शिला) रूप व्यानपर उपांशु अन्तर्याम रूप प्राणापान के घर्षणसे नया वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होताहै। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तीन विश्वहै, तीनोंके क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य यह नर (नायक) है। इन्हीके परस्परके सम्बन्धमे यह नया तापधर्म्मा अग्नि उत्पन्न होताहै अतएव इसे 'वैश्वानर' कहाजाताहै। 'वैश्वानरो यतते सूर्येण' 'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्' के अनुसार यह वैश्वानर अग्नि त्रैलोक्यमें व्याप्तहै। अस्तु प्रकृतमें हमें सत्यसे उत्पन्न होने वाले दूसरे शब्दोंमें प्रजापतिसे प्रकट होने वाले 'ब्रह्म' का ही निरूपण करनाहै अतः उसीकी ओर प्रधान रूपसे आपका ध्यान आकर्षित किया जाताहै।

अग्नि-यम आदित्य तीनों आंगिरसहै। तीनों सत्यहै। तीनों पृथक पृथक सत्य नहीं है। तीनो मिलकर एक सत्यहै। अग्नित्रयी ही सत्यहै। इस सत्यमे त्रयी ब्रह्मका प्रादुर्भाव होताहै। अग्नि तत्वसे ऋग्वेद का दोहन होताहै एवं आदित्यसे सामवेदका दोहन होताहै। ऋग्वेद पार्थिवहै, यजुर्वेद आन्तरिक्ष्यहै, सामवेद दिव्यहै एवं अग्नि त्रयके बाहर चारो ओरसे व्याप्त पारमेष्ठ्य आप तत्व 'अथर्व' वेदहै। प्रकृतमें उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। अतः यहां केवल त्रयी ब्रह्मका ही निरूपण प्रकरणसे गत होगा।

योंतो वेदकी पुस्तक में सभी विषय महा जटिलहै, परन्तु वेद जब वेदका ही स्वरूप बतलाने लगताहै तो यह कठिनता औरभी बढ़जाती है। केवल वेदतत्त्वके परिज्ञानकेलिए हमारा यह यज्ञसम्बन्धी क्षुद्र परिलेख कदापि संतोष जनक नही होसकता। इसकेलिए तो वेदमूर्ति श्री गुरू प्रणीत (श्री मधुसूदनजी महाराज) 'वेदसमीक्षा' ही देखनी चाहिए। यहां हम संक्षिप्त रूपमे केवल उसका परिचय मात्र करादेतेहैं। वेद तत्व को श्रुतियोंने 'प्रथमजब्रह्म' 'प्रतिष्ठाब्रह्म' आदि अनेक नामोंसे व्यवहृत किया है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति के लिए वेद सत्ता नितान्त अपेक्षितहै। पहले उस वस्तुका वेद उत्पन्न होताहै। बादमें वस्तु उत्पन्न होती है। जिस वस्तुका वेद नही वह वस्तु नहीं। शशशृंग—खपुष्प—वन्ध्यापुत्र उपलब्ध नही होते क्योंकि इनका वेद नही। अस्ति तत्वकी उपलब्धि होती है। उपलब्धि ही वेदहै। 'विद्यते—विन्दते—वेत्तिके वेद शब्दका निर्वचन तीन प्रकारसे होसकता है। जो विद्यमान है वह भी वेद है। जो हमें प्राप्त होता है वह भी वेदहै। जो हम जानते हैं वह भी वेदहै। वेदसे अतिरिक्त यदि कुछ है तो वह 'नास्ति' तत्व ही है। इस वेद तत्व के सृष्टि क्रमके तारतम्य से मूलवेद, उपलब्धिवेद, सत्यवेद, आत्मप्रतिष्ठावेद, प्राजापत्य वेद आदि अनेक अवान्तर भेद होजाते हैं। उन सबमें से प्रकृतमें प्रथम उपलब्धि वेद की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। उपलब्धि का साधारण शब्दार्थ है प्राप्ति। वह उपलब्धि हमें दो प्रकारसे होती है। एक तो उपलब्धि प्रतिष्ठा रूपसे होती है, दूसरी उपलब्धि ज्योति रूपसे होती है। 'घटेऽस्ति, पटोऽस्ति' इत्याकारक अस्ति भाव ही तत्तद्वस्तुकी प्रतिष्ठा है। अस्तित्वको ही प्रतिष्ठा कहते है। 'इदमस्ति' इस प्रतिष्ठातत्वका हमें भान होताहै। भान ही भाति है। भाति ज्योति है। 'घड़ाहै, यह उपलब्धिका पूर्व अंशहै, हमें घटका भान होरहा है- यह उत्तरांश है। दोनोंकी समष्टिसे (प्रतिष्ठोपलब्धि—ज्योतिउपलब्धि से) हमें घटका ज्ञान

होता है। 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द है। सत्य सत्ता भावका द्योतक है। यही सत्ताश्रयभात्र सत् है। ज्ञान चित् का द्योतक है। एवं अनन्त आनन्दका द्योतक है। तीनोंकी समष्टि 'सच्चिदानन्दब्रह्म' है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' के अनुसार सम्पूर्ण विश्व समष्टि व्यष्टि रूपमे सच्चिदानन्द है। दूसरे शब्दों में सच्चिदानन्द ब्रह्म का विवर्तभूत विश्व भी सच्चिदानन्द ही है। सत्ता भाव 'अस्ति' नामसे व्यवहृत होता है। चित् भावको 'भाति' कहा जाता है। एवं आनन्द तत्व 'रसो ह्येवसः—रसं ह्येवायं लब्धा आनन्दी भवति' के अनुसार रस नामसे प्रसिद्ध है। अस्ति—भाति—रस—तीनोंकी समष्टि ही सच्चिदानन्द है। प्रत्येक वस्तु अस्ति भाति रस रूप है- अतः अवश्य ही सारे पदार्थों को 'सच्चिदानन्द' कहा जासकता है।

इन तीनों में प्रथम हम अस्ति भावका ही निर्वचन करते हैं। असभुवि धातुसे अस्ति पद निष्पन्न हुआ है। कोई भी वस्तु उत्पत्ति से पहिले मन—प्राण—वाग् व्यापारकी अपेक्षा रखती है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति के लिए तीनोंका व्यापार नितान्त अपेक्षित है। मनोव्यापारको 'कामना' कहते है। सर्वप्रथम 'मैं अमुक वस्तु बनाऊं' यह कामना होती है। कामनाके अनन्तर तदनुकूल यत्न किया जाता है। यत्नकोही चेष्टा कहते हैं। वैदिक परिभाषानुसार आन्तर—व्यापार रूप इस यत्नको 'तप' कहा जाता है। यही प्राण व्यापार है। अनन्तर वाक् व्यापार होता है। वाग् व्यापार स्व—पर भेदसे दो भागों में विभक्त है। वाक् आकाश तत्व है। यह मर्त्याकाश (जोकि इन्द्रपत्नी नामसे प्रसिद्ध है) उत्तरोत्तरमें होने वाली बलग्रन्थियां से वायु रूप में परिणत होता है। वायु अग्नि रूपमें, अग्नि अब् रूपमें; अब्—आपः, फेन, मृत, सिकता, शर्करा, अश्मा, अय, हिरण्य इन आठ रूपमें परिणत होता हुआ पृथिवी रूपमे परिणत होता है। इस प्रकार एक ही वाक् तत्व पंचभूत रूप में परिणत होजाता है। पंचभूतकी सृष्टि ही वाक् है। इसी आधार पर

'अथो वागेवेदं सर्वम्'—'वाचीमाविश्वाभुवनान्यर्पिता' इत्यादि कहाजाताहै । यही वाक्—भूतग्रामहै । इसीसे हमारा स्थूल शरीर बना है । इसके भीतर प्राण है । इसीको प्राणग्राम किंवा देवग्राम कहते है । यही सूक्ष्मशरीरका अधिष्ठाता है । तीसरा मनहै- यही आत्मग्रामहै । इसीको कारणशरीर का अधिष्ठाता मानाजाताहै । दार्शनिक परिभाषाके अनुसार यही तीनों प्रज्ञामात्रा (मन), प्राणमात्रा (प्राण), भूतमात्रा (वाक्) नाम से प्रसिद्धहै । उदाहरणके लिए घट निर्माता कुम्भकारको लीजिए । कुम्भकार मन-प्राण-वाक्की समष्टि है । कुम्भकारका शरीर 'वाङ्मय' (पञ्चभूतमय) है । इसके शरीरमें प्राण है । प्राणके भीतर प्राणसंचालक मनहै । 'घड़ा बनाऊं' सर्वप्रथम यह इस प्रकारकी इच्छा करताहै । तदनुकूल यत्न करताहै, प्रयास करताहै, चेष्टा करताहै । यह इसका प्राणव्यापार है, इसीको 'कृति' कहाजाता है। वस्तुतः यह 'क्रतु' है—नकि कृति । वैदिक विज्ञान से परिचय न रखनेवाले दार्शनिकों की कृपा से क्रतु शब्द आज दिन कृति रूपमें परिणत होगया है क्रतुरूप प्राण व्यापार के अनन्तर हस्तरूप वाग् व्यापार करता है । यह व्यापार इसका अपना व्यापार है । इसके साधन दण्ड—कुलाल—चीवर तन्तु—मृत् आदि है । यह सब भी वाक् है इस वाक् पर अपनी स्ववाक् का प्रयोग कर कुछ समय में कुम्भकार घट निर्माण कर डालता है । इसी वाग् व्यापार को 'श्रम' कहाजाता है । श्रमानन्तर जिस कामना से उसने तप--श्रम किया था वह कर्म उसका संपन्न होजाता है । इसी वस्तु स्वरूप निर्माण विज्ञान को लक्ष्य में रखकर अभियुक्त कहते हैं—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्य क्रतुर्भवेत् ।
क्रतु जन्यं भवेत् कर्म्म तदेतत् कृतमुच्यते ॥ १ ॥

निष्कर्ष यही हुआ कि मन-प्राण-वाङ्मय आत्माके कामना, तप, श्रम इन तीनों व्यापारोंके समुच्चय से उसी प्रकार वस्तु रूप सिद्ध होजाता है-

जैसे कि धारणा—ध्यान—समाधि इन तीनोंके एकत्र संयमसे योगीको योगजसिद्धि प्राप्त होजाती है। घटनिर्म्माणसे पहले कुम्भकार अपने अन्त-र्जगत में घटका निर्म्माण करताहै । पहले अपने ज्ञानीय जगतमें (ख्यालमें) घटका चित्र खैंचता है । अनन्तर उसी ख्याली घटमें बहिर्जगतकी वस्तुओं (मिट्टी) का समावेश कर अपने ज्ञानघटको भौतिक जगतमें उपस्थित कर-देता है । जो घट अबतक 'नास्ति' था वही आज इसके मन प्राण वाग् व्यापार से 'अस्ति' रूप धारण करलेता है । घटमें शिल्प (कारीगरी) है। वह मनका स्वरूप है। वाक् मिट्टी है। एवं क्षणिक क्रियारूप प्राण व्यापार के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है । मन—प्राण—वाक् की समष्टि ही ही 'घटोऽस्ति' व्यवहार का आधार है । घट वाक् रूप है, इसमें तो संदेह ही नहीं है। वाक् बिना प्राण के नहीं रहती । प्राण के तारतम्यसे वस्तु में नाना अवस्थाएं होती है । कालान्तर में घट जीर्ण होजाता है। जीर्णता क्षणिक क्रिया के द्वारा होती है। क्रिया बिना ज्ञानके होती नहीं ऐसी अवस्था में प्राण के साथ ही मनकी सत्ताभी मानलेनी पड़ती है । जहां मन—प्राण—वाक् तीनो एक स्थान पर मिलजाते है वहीं 'अस्ति' रूप सत्ता तत्व प्रादुर्भूत होजाताहै । ऐसी अवस्थामें हम सत्ताका अवश्यही —'मनः प्राण वाचा संघातः सत्ता' यह लक्षण कर सकते हैं । सत्ताके इस वास्तव स्वरूप को न समझने के कारण ही दार्शनिकोने अपने अपने भिन्नभिन्न लक्षण बनाडाले हैं । आस्तिक लोग नास्ति वाद के विरोधी है। वे अनुपलब्धिमें कुछ सार नही समझे । 'अस्ति ब्रह्मेति वेदुवेद सन्त-मेनं तता विदुः' के अनुसार वे अस्तिरूपा उपलब्धि के ही भक्त हैं । अत एव उन्होंने सत्ता का 'उपलब्धिः सत' यह लक्षण किया है । उधर बौद्ध लोग 'सर्व क्षणिकं क्षणिकं' का उद्घोष करते हुए क्रिया को ही प्रधान मान कर 'अर्थ क्रिया कारित्वं सत्' इस क्रिया प्रधान लक्षणकोही प्रधा

नता देते है । उधर जैन दर्शन 'उत्पादव्यय ध्रौव्यं सत्' का ही निनाद करते हैं। विज्ञ पाठकों को मालूम होगया होगा कि तीनों ही लक्षण ठीक हैं ; मन ज्ञान है, इसका उपलब्धि से सम्बन्ध है । इस दृष्टि से 'उपलब्धिः सत्' यह कहा जासकता है। प्राण क्रिया है । प्राण सम्बन्ध से 'अर्थ क्रिया कारित्वं सत' इस लक्षण का भी विरोध नहीं किया जासकता । तीनों लक्षण अपूर्ण है । पूर्णता तो—'मनः प्राण वाचां संघातः सत्ता' यही लक्षण कर सकता है।

पूर्व के प्रकरण से यह भली भांति सिद्ध होजाता है कि मन–प्राण –वाक् की समष्टि ही अस्ति' है। यही सत है। यही सत्ता है । त्रिकल सत्ता के अतिरिक्त (व्यवहार में अतिरिक्त वस्तुतः अभिन्न) चेतना और आनन्द है। चेतना को ही विज्ञान कहा जाता है । इस प्रकार मन–प्राण –वाक्–विज्ञान-आनन्द भेदसे एक ही ब्रह्मकी पांच कलाए होजाती है । पांचोंका 'कोश ब्रह्म' रूप से तैत्तरीय उपनिषत् में अति विस्तार से निरूपण किया गया है। वहा वाग् ब्रह्मको 'अन्न ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है क्योंकि वाक् ही अन्नरूप में परिणत होती है । मन–प्राण–वाक्-विज्ञान आनन्द कहो या सच्चिदानन्द कहो–एक ही बात है । प्रत्येक वस्तु सच्चिदानन्द मूर्ति है–यह पूर्व में कहा गया है । उसमें से सत्ता कलाका निर्वचन होचुका। अब क्रम प्राप्त चित और आनन्द काभी संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सन्मुख रक्खा जाता है—

घट है–उसका हमें भान होना है । बस इस भानका ही नाम विज्ञान है । विज्ञान ही चित् एवं दार्शनिक भाषामें चेतना है । जो वस्तु है अथवा जिसका भान होता है, दूसरे शब्दों में जिसकी अस्ति और भाति है वह तीसरा [illegible] है। वही आनन्द है यहाकी एक बात और समझ

लेनी चाहिए। जिस मन प्राण वाङ्मयी सत्ता का पूर्व में निरूपण किया गया है वह ब्रह्मका अमृतरूप है । 'अनन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्' 'अर्द्धं है वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' के अनुसार अमृततत्व मृत्यु के विना अनुपपन्न है। अमृत सत्ता—अमृत विज्ञान—अमृतानन्द के साथ ही मर्त्यभाव भी प्रतिष्ठित रहते है । मन अमृत है । रूप इसका मर्त्यभाग है। मनही वस्तु के रूप से आकारित होता है । हम जिस वस्तु को देखते है—मन उसके रूपमें परिणत होजाता है दूसरे शब्दोंमे तदाकारा कठिन होजाता है । प्राण का मर्त्यरूप कर्म है । वाक् का मर्त्यरूप 'नाम' है । मन—प्राण—वाक् तीनों क्रमशः रूप—कर्म नामके आत्मा है । 'यस्य यदुक्थ सत—ब्रह्म सत्—सामस्यात् तत्तस्यात्मा' के अनुसार जो जिस वस्तु का उक्थ—ब्रह्म-साम होता है वह उस वस्तु का आत्मा माना जाता है । प्रभव को उक्थ कहते है। आधार को ब्रह्म कहते है । परायण को साम कहते है। मन सारे रूपों का प्रभव है साथ ही मे रूपों का आधार भी मन ही है एवं सारे रूपों में मन समान रूप से रहता है । दूसरे शब्दों में मन में ही रूपोंका अवसान है अतः पूर्व लक्षणानुसार हम मनको रूपोंका आत्मा मानने के लिए तयार है। यही अवस्था कर्म के उक्थ—ब्रह्म साम रूप प्राणकी है । एवं यही अवस्था नामो के उक्थब्रह्म सामरूपा वाक्की है। घटनाम—घटरूप—घटकर्म तीनों मृत्यु भाग घटके अस्तित्व पर प्रतिष्ठित है जबतक घटका अस्तित्व है तभी तक उसके नाम रूप कर्म है। वह अस्तित्व जिस रसका है वह अनिवर्चनीय भाव ही आनन्द है । समृद्धानन्द इसका मृत्युरूप है । बदलनेवाला भाव मृत्यु कहलाता है—न बदलने वाला भाव अमृत कहलाता है । यह अमृत मृत्यु की साधारण परिभाषा है। नाम रूप कर्म बदलतेहैं अस्ति नहीं बदलता। घटहै तबभी अस्तिहै। घटाभावरूप नास्ति में भी अस्ति है घट है—में भी 'है' है ।

'घटनहीं है' इस नहीं है के अन्तमें भी 'है' है। अतएव न बदलने वाला यह सत्तातत्त्व अमृतहै। शान्तानन्द अमृतहै। निर्विषयानन्द जोकि क्षोभ रहित रहताहुआ सदा एक रस रहता है, शान्तानन्दहै, एवं विषयानन्द प्रतिक्षण बदलनेके कारण मर्त्यहै। इसीप्रकार घट पटादि भेदशून्य अनन्त-ज्ञान अमृतज्ञानहै। भेद भावापन्न विविधज्ञान मर्त्यहै। मृत्यु भेदसे अस्ति भाति–रस तीनों पृथक् प्रतीत होते हैं। यदि भेद लक्षण मृत्युको हटा-दिया जाताहै तो तीनों तीन नहीं एकहैं। अतएव जहां मृत्यु निबन्धन भेद मात्रका आश्रय लेकर ऋषि ब्रह्मको–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसप्रकार त्रिकल्प बतलाते हैं, वही काल्पनिक मृत्यु भेदके तिरोहित होजानेपर उसी-केलिए–'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इसप्रकार उसे सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदशून्य बतलानेहुए एक बतलातेहैं। यही ब्रह्मका वास्तविक स्वरूपहै। इसी ब्रह्म स्वरूपको लक्ष्यमें रखतेहुए अभियुक्त कहतेहैं—

प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम् ॥१॥

बात यथार्थहै। कहनेको–अस्ति, भाति, रस पृथक्है। वास्तवमें तीनों एकहै। भातिरूप ज्ञानभी है, रस रूप आनन्द भी है। दोनों 'अस्ति' हैं। अस्ति काभी ज्ञान होता है, रसका भी ज्ञान होताहै। दोनों 'ज्ञान' हैं। ज्ञानभी वस्तुहै, अस्तिभी वस्तुहै, दोनों रसहैं। तीनों तीनों हैं अतएव तीनों एकहैं। प्रकारान्तरसे लीजिए। जो है उसीकी तो उपलब्धि होती है। एवं जो उपलब्धिका विषयहै और जो है–वहीतो उपलब्ध होताहै। एवं उपलब्धि ही तो (ज्ञान) है, वहीतो रसहै। इसप्रकार तीनों का ऐक्य भलीभांति सिद्ध होजाताहै। ब्रह्मको कहां पावें? इसका बड़ा सुन्दर समाधान करतीहुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते[1] ॥

---

१. कथं तदुपलभ्यते–पाठान्तर।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति ॥

कठोपनिषत् २ अ० ६ व० १३।१३ मं०

उपलब्धिवेदके स्वरूप बतलानेके लिए तत्प्रवर्त्तक सच्चिदानन्द ब्रह्म-कास्वरूप बतलानापड़ा । अब प्रकृतका अनुसरण करतेहैं ।

अस्ति–भाति–रस–के समुच्चयको सच्चिदानन्द ब्रह्म बतलायागयाहै । इसीकी हमें उपलब्धि होती है । वह उपलब्धिभी अस्ति–भाति–रस–इन तीन भागोंमें विभक्त होरहीहैं । अस्तिकी उपलब्धि 'विद्यते' रूपसे होरही है । भाति की उपलब्धि 'वेत्ति' रूपसे होती है, एवं रसकी उपलब्धि 'विन्दति' रूपसे होती है । 'विद्यते घटः'–यह अस्तिका स्वरूपहै । वेत्ति यह भातिका स्वरूपहै । एवं विन्दति रसका स्वरूपहै । है–जानताहै–प्राप्त कर-ताहै–एक ही विद्धातु तीनों से सम्बन्ध रखताहै । 'विद्यते इति वेदः' का अर्थहै 'अस्ति वेदः' । वेत्ति इति वेदः–का अर्थहै 'भाति वेदः' । एवं विन्दति इति वेदः का अर्थहै–'रस वेदः' । विद्यते में सत्तापूर्वक ज्ञानहै । 'घटोऽस्ति अतो ज्ञायते' में घटसत्ता पहिले है । अनन्तर उसका ज्ञानहै। 'वेत्ति' में ज्ञान-पूर्विका सत्ताहै । 'घटं वेद्मि अतो ज्ञायते' (घड़ा जानताहूं इसलिए वह है) में घटज्ञान पहिलेहै–अनन्तर सत्ताहै । 'अस्ति अतो ज्ञायते, अथवा 'ज्ञायते अत अस्ति' इस विषयका निर्णय करना कठिन है । भित्तिके उसपार घटका अस्तित्वहै (घट रक्खाहै) परन्तु हम उसे नहीं जानते । यदि सत्ताही ज्ञान का कारण होतीतो हम घटको जानजाते । इसलिए सत्ता पूर्वक ज्ञान होता है यहभी नही माना जासकता । साथहीमें विना वस्तुके ज्ञानभी नहीं होता अतः ज्ञानकोभी सत्ता पूर्वक नही माना जासकता । इस प्रकार सत्ता भाति के पौर्वापर्य्य का निर्णय कठिनहै । विद्वानोंने इसका निर्णयभी करडाला

है परन्तु उसका निरूपण अन्तर्जगत्—बहिर्जगत् के स्वरूप ज्ञानपर अव-लम्बितहै, जिसकाकि निरूपण करना आवश्यकतासे अधिक विस्तार का आश्रयलेना है। अतः फिर किसी आगेके प्रकरण के लिए इस विष-यको छोड़कर प्रकृतका आश्रय लिया जाताहै।

सत्ता पूर्वक ज्ञानहो—अथवा ज्ञान पूर्विका सत्ता हो यहां केवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगाकि विद्यते—निर्वचन सत्तापूर्वक ज्ञान भावका द्योत-कहै, एवं वेत्ति निर्वचन ज्ञान पूर्विका सत्ता भावका द्योतकहै। इस भाति और भातिसे (विद्यते—वेत्तिसे) जो रस प्राप्त होताहै—वही वास्तविक उपल-ब्धिहै। सच्चिदानन्दरूप पदार्थकी सच्चिदानन्दरूप जीवमें प्राप्ति होजानाही उपलब्धिहै। पदार्थ चैतन्यके साथ जीव चैतन्यका सम्बन्ध होजानाही उप-लब्धिहै। वेदान्तदर्शनके अनुसार प्रत्ययरूपा उपलब्धिका—

'अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं—अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं—विषया-वच्छिन्नं चैतन्यम्—त्रयाणामेकत्र संयोगः प्रत्ययः' यह लक्षणहै। सामने घट रक्खाहै। यह विषयहै। देवदत्त को उसका ज्ञान होरहाहै। इस घट प्रत्य-यमें ज्ञाता—ज्ञान—ज्ञेय तीनोंका सम्बन्ध है। ज्ञाता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यहै, ज्ञेय विषयावच्छिन्न चैतन्यहै, एवं ज्ञान अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यहै। शरीराकाशके मध्यमें प्रतिष्ठित हृदयाकाश (केन्द्र)में दहराकाशहै। उसमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रतिष्ठितहै। इन्द्रियद्वारा यही ज्ञाताहै। इस चैतन्यकी रश्मियें इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलती हैं। यही अन्तःकरण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यहै। इसीको पूर्वमें 'ज्ञान' शब्दसे व्यवहृत कियाहै। इस वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यका पुरोवस्थित घट चैतन्यकेसाथ (विषयरूप ज्ञेय चैतन्य के साथ) सम्बन्ध होताहै। देवदत्त का ज्ञान तदाकाराकारित होजाताहै। इस प्रकार तीनोंके समन्वयसे 'घटमहं जानामि' इस प्रत्ययका स्वरूप उत्पन्न होताहै। तीनोंके समन्वयसे उत्पन्न होनेवाले इसी ज्ञानको दार्शनिक परि-

भाषामें 'पाष्टिज्ञान' कहाजाताहै . इसप्रकार प्रत्येक ज्ञानका त्रिपुटीपना सिद्ध होजाताहै । 'विद्यते घटः—अस्ति घटः'—यह सत्तावेदहै । 'वेत्ति घटम्'—'जानाति घटम्'—यह प्रत्यय वेदहै । 'विन्दति-प्राप्नोति'—यह लाभ वेदहै । इस प्रकार विद्यते-वेत्तिरूप अस्ति भाति से जो एक अपूर्व रस उपलब्ध होताहै वह सत्ता भाति से अनुगृहीता रसरूपा उपलब्धि ही वेदहै । पदार्थकी अभिव्यक्ति ही उसकी उपलब्धिहै । अभिव्यक्ति को 'व्यक्ति' कहाजाताहै । अनन्त व्यक्तिएं हैं—अतः अनन्त उपलब्धिएं हैं । अनन्त वेदहै । इसी आधारपर तैत्तिरीयोक्त भारद्वाज इन्द्रके सम्भाषणमें इन्द्रने भरद्वाज के प्रति 'अनन्ता वै वेदाः' कहाहै । नाम रूप कर्म्म ही व्यक्ति भेदके कारणहैं । यदि इनको हटादिया जाताहै तो सामान्य सत्ता सामान्य ज्ञानसे अनुगृहीत सामान्य रसोपलब्धिरूप एकही वेद रहजाताहै। आप जितनेभी पदार्थ देखरहेहै सब भौतिकहैं । इन सबका दर्शन किंवा उपलब्धि अस्ति—भातिसे अनुगृहीत रस रूपहै । यही वेदहै । अतएव हम कहसकतेहैं कि नामरूप कर्म्मात्मक सभी भूत वेदत्रयीके गर्भमें ही प्रतिष्ठित हैं । इसी उपलब्धिरूप वेदस्वरूपको लक्ष्यमें रखकर ऋषि कहतेहैं—

"स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति । एतद्ध्यमृतम् । यद्ध्यमृतं—तद्ध्यस्ति । एतदु तद् यन्मर्त्यम् । त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि" (शत० १०।३।१।२१ इति) ।

त्रयी विद्याके सत्ता भागका मर्त्य भागही नामरूपकर्म्मात्मक भूत भागहै । मर्त्य भागभी उसीका अंशहै । इसी अभिप्रायसे 'एतदु तद् यन्मर्त्यम्' कहाहै । यह है ज्ञानरूप उपलब्धि वेदका संक्षिप्त निदर्शन । अब सत्यवेदकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

सत्यवेद—

अग्नि सत्यहै । इसका आविर्भाव परमेष्ठी में होताहै, जैसाकि प्रकरणके प्रारम्भमें बतलाया जाचुकाहै । मानसो—मैथुनी—याज्ञिकी आदि भेदसे अनेक

प्रकारकी सृष्टिएं हैं। इनमें मैथुनी-सृष्टिका प्रारम्भ आपोमय परमेष्ठीसे ही होताहै। योषा प्राण पत्नी है। वृषा प्राण पति है। अग्नि वृषाहै, यह आंगिरसहै। सोम योषाहै, यह भार्गवहै। भृग्वङ्गिरात्मक योषा वृषारूप पति पत्नीका प्रादुर्भाव परमेष्ठीमें ही सर्व प्रथम होताहै। एवं इन दोनोंका समन्वय ही मिथुनहै। इस मिथुनसे आगेकी सारी मैथुनी सृष्टि होती है अतः हम अवश्यही भृग्वङ्गिरात्मक परमेष्ठीको मैथुनी सृष्टिका प्रथम प्रवर्तक माननेके लिए तय्यारहै। इस मैथुनी सृष्टि में सबसे पहिले आपोमय परमेष्ठीके केन्द्रमें वराह वायुद्वारा अग्निघन सूर्य्यकाही जन्म होताहै। सबसे पहिले उत्पन्न होने के कारणही यह सत्यतत्व 'अग्रि' नामसे प्रसिद्ध हुआहै। अग्रिही परोक्षभाषामें 'अग्नि' कहाजाताहै।

जिस उपलब्धि वेदका पूर्वमें निरूपण कियागयाहै उसे हमने ज्ञानमय बतलायाहै। यह ज्ञान प्रधान वेद स्वायम्भुव वेदहै। इसे 'ब्रह्मनिश्वसित वेद' कहाजाताहै। ऋक्-साम-यजु-भेदसे इसमें तीन कलाएं हैं। ऋक्-साम वयोनाधहै—यजु वयहै। वस्तुको वय कहतेहैं, वस्तु जिस छन्दसे छन्दित रहती है वह छन्द वयोनाध कहलाताहै। यजुसे सृष्टि होती है। ऋक्साम सहकारी मात्रहै। यजुमें—यत्-जू-दो भागहैं। यत् गतितत्वहै—जू स्थिति तत्वहै। स्थितिरूप जू तत्व 'जूराकाशं सरस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम्' के अनुसार आकाशहै। गति तत्वरूप यत् वायुहै। वायुप्राणहै आकाश वाक्‌है। आकाश—वायु, वाक्—प्राण, स्थिति—गति, कुछभी कहो एकही बातहै।

आकाशः=स्थितितत्वम=वाक्=जूः
वायुः=गतितत्वम=प्राणः=यत्   }—यज्जूः—तदेव यजुः

स्थितिगतिरूप वाय्वाकाश स्वरूप वाक्प्राणकी समष्टिही 'यज्जू' है। 'यथाकाशगतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' के अनुसार वाय्वाकाशरूप

यत्-जू अविनाभूतहैं। यही यज्जू परोक्षप्रियदेवताओंकी परोक्षप्रियताके कारण 'यजु' नामसे प्रसिद्धहै। जैसाकि वाजसनेय श्रुति कहती है—

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्त-मनुप्रजायते। तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः—यदिदमन्तरि-क्षम्। एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षञ्च—यच्च जूश्च—तस्माद्यजुः। एष एव यदेष ह्येति। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक् सामे वहतः। (शत० १० कां० ३ अ० ५ ब्रा० १-२-कं०) इति।

ऋषिप्राणरूप सप्तपुरुष पुरुषात्मक चित्प्रजापति के काम—तप—श्रमसे सर्वप्रथम प्रतिष्ठारूप यही उपलब्धि वेद (जिसेकि हमने पूर्वमें ब्रह्मनिश्व-सित नामसे व्यवहृत कियाहै) प्रादुर्भूत होताहै। इसी प्रथमज प्रतिष्ठा वेद का निरूपण करतेहुए ऋषि कहते हैं—

"स[1] वै सप्त पुरुषो भवति। सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषः—यच्चत्वार आत्मा। त्रयः पक्ष पुच्छानि। सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत—भूयान्स्यां, प्रजायेय—इति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेवविद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहुः—'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्मादनूच्य प्रतिष्ठति। प्रतिष्ठाह्येष यद् ब्रह्म"—(शत० ६।१।१।,,६।७।८ कं०)

इस वेद प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित उस प्राणमय प्रजापति के तप श्रमसे वेद-त्रयीके यजुभागसे सर्वप्रथम पानी उत्पन्न हुआ। वाक् रूप जू भाग वायुरूप

१—प्रकरण सगतिके लिए यहां वेद स्वरूप प्रतिपादिका श्रुतियोंका उल्लेख मात्र करादिया है। यदि इनका यहीं रहस्यार्थ भी बतलानेका उपक्रम कियाजाय तो प्रकृत प्रकरण से बहुत दूर हटना पड़े। अतः पाठकोंको अभी इसीपर सन्तोष करना चाहिए। समय समय पर यह सब ग्रन्थिए सुलझती रहेंगी।

यत् भाग के व्यापारसे द्रवित हो पानीके रूप में परिणत हुआ । यह वाग् जन्यतत्व उत्पन्न होतेही सर्वत्र व्याप्त होगया—इसने त्रैलोक्यका संवरण करलिया—अतएव विद्वानोंने–सर्वमाप्नोत–सर्वमवृणोत्–इन व्युत्पत्तियों के आधार पर इस तत्वको आप–वारि–इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध करदिया । यही भृग्वङ्गिरात्मक आपतत्व गोपथब्राह्मण में 'भृग्वङ्गिरा' नामसे प्रसिद्ध हुआ । यही चौथा अथर्वब्रह्म कहलाया । त्रयीब्रह्मावच्छिन्न स्वयम्भूब्रह्मका सबसे ज्येष्ठपुत्र भी यही कहलाया । अनन्तर त्रयी विद्या के साथ वह प्रजापति इस आपोमण्डल में प्रविष्ट हो गए । जितनी दूर में वेदत्रयीमय प्रजापति व्याप्त हुए उतनी दूर तक एक अण्ड बनगया । चूंकि यह अण्ड उस ब्रह्मका था अतएव वह 'ब्रह्माण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ । उस वेदगर्भित आपोमय मण्डलके भीतर केन्द्रमें पूर्वोक्त सौराग्नि उत्पन्न हुआ । यह वेदका दूसरा अवतार हुआ । वह वेद ब्रह्मनिश्वसित था–यह गायत्री मात्रिक हुआ । वह ज्ञान योनिर्मय था–यह भूतज्योतिर्मय हुआ । वह प्राणमुख वेद था–यह अग्निमुख हुआ । वह अपौरुषेय था–यह ब्रह्मपुरुषसे उत्पन्न होनेके कारण पौरुषेय हुआ । यही हमारे प्रकरण का 'सत्यवेद' है । इसी ब्रह्मवेदका निरूपण करते हुए भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म । तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात । वागेव साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोद्यदिदं किंच यदाप्नोत–तस्मादापः । यदवृणोत् तस्माद् वाः । सोऽकामयत–आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेयेति–सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत । तत आण्डं समवर्तत । ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या । तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्' इति । अपि हि तस्मात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत । तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत । तस्मादनूचानमाहुरग्निकल्प इति । मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म । अथ यो गर्भोऽन्तरासीत सोऽग्निरसृज्यत । स यदस्य सर्वस्य (रोदसी त्रैलोक्यस्य)

अग्रमसृज्यत तस्मादग्निः। अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षमिया इव हि देवाः"–(शत० ६।१।१।–६–१.० कं०) इति।

सूर्य्य सचमुच त्रयीविद्याघन है। एवं अग्निमूर्त्ति होनेसे यह सूर्य्यरूप गायत्री मात्रिक वेद अवश्य ही 'सत्यवेद' है। इस सत्यवेदका ऋग्भाग 'महोक्थ' है। सामभाग महाव्रतहै। एवं यजुभाग पुरुषाग्नि है। उक्थ उस का नाम है जहां से वस्तु उठै। सूर्य्यपिण्ड रश्मियोंका प्रभव है। रश्मिएं सूर्य्य से उठती हैं अतः हम सूर्य्यपिण्डको अवश्य ही 'उक्थ' कहने के लिए तय्यार हैं। यह उक्थ कुल एक सहस्र हैं। हम जिस सूर्य्यको देखरहे हैं– वह सूर्य्य उक्थ है–नकि महोक्थ। किसी भी वस्तुको आप देखते जाइये और पीछे हटते जाइए। ज्यों ज्यों आप पीछे हटते जायंगे त्यों त्यों वह वस्तु उत्तरोत्तर आपको छोटी दिखलाई देगी। यहां तक कि किसी स्थान पर जाने से वह बिलकुल बिन्दुमात्र दिखलाई देने लगेगी। बस वस्तुपिण्ड से प्रारम्भ कर बिन्दुमात्र दीखनेवाले स्थान तक ऋषियोंने किसी विशेष कारणसे १,००० मूर्त्तिएं मानी हैं। इनमें ९९९ अपेक्षिक छोटी बड़ी सब मूर्त्तिएं उक्थहैं। क्योंकि प्रत्येकमें से अनन्त प्राण निकलता है। परन्तु इन सब मूर्त्तियोंका उक्थ वह मूलपिण्ड है। वह इन सबकी अपेक्षा बृहत् है अतएव उसे महोक्थ कहाजाताहै। इतर सब उक्थ 'उक्थामद' हैं। एक महापिण्ड महोक्थ है। यही ऋक्है। मूर्त्तिका नाम 'ऋग्वेद' है–यही निष्कर्ष है। एवं जो सौरप्रकाशमण्डल है–अर्चिमण्डलहै- वही सामवेदहै। मूर्त्तिकी समाप्ति साममण्डल पर होती है। जहां वस्तुप्राण समाप्त होताहै–वहीं वस्तुका अवसान होताहै। अवसान ही साम है। अव पूर्वक षोऽन्ताकर्म्मणि धातुसे न प्रत्यय करने पर अवसान शब्द निष्पन्न होताहै। म प्रत्ययसे साम बनताहै। व्रत-नाम सामका है। प्रत्येक उक्थका स्वतन्त्र व्रत (मण्डल) है। इनमें सबसे अन्तका मण्डल बृहत् है। अतः इसे 'महाव्रत' कहतेहैं। मूर्त्ति–और प्रगहन्त

पृथिवी मूला अदितिः २ ।

दूसरी है पृथिवी मूला अदिति । भूमण्डलके दृश्य और अदृश्य दो विभाग है । दृश्यभागका नाम ही अदिति है । अदृश्य भाग ही अदिति है। इस अवस्थामें रात्रिमें भी अदिति-सत्ता सिद्ध होजाती है । सूर्य-मूला अदिति का अहःसे ही सम्बन्ध था । किन्तु इसका रात्रिसे भी सम्बन्धहै । क्योंकि रात्रिमें भी दृश्यभावका सम्बन्ध वैसा ही रहता है जैसाकि दिनमें । सूर्य मूला अदिति १२ हों आदित्योंके साथ सूर्यसे युक्त रहती है । परन्तु यह दृश्य कपालरूपा पृथिवी पिण्डात्मिका अदिति अपने आठ पुत्रोंके साथ ही सूर्यसे युक्त होनेमें समर्थ होती है । कारण इसका यही है कि पृथिवी घूमती हुई आगे चलती है। सूर्य द्वादश-आदित्य प्राणघन है । यह १२ हों आदित्य अदिति के पुत्र हैं । पूर्वक्षितिजपर जिस समय सूर्य आता है, वहांसे पश्चिम क्षितिज पर्य्यन्त ७ आदित्य प्राण रहते हैं । 'पश्यन्ति सप्तमं सर्वे' के अनुसार सामनेका पश्चिम्–क्षितिजवाला आदित्य सातवां पडताहै । आठवां स्वयं सूर्य है । सौरकाल इन आठसेही युक्तहै । अतः दिनमें पृथिवी इन सा सेही सूर्य-केसाथ युक्तहोनेमें समर्थहोतीहै ।

इसी पृथिवी मूला अदितिके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।

देवाँ उपप्रैत् सप्तभिःपरा मार्त्ताण्डमास्यत॥ (ऋक्० ८।३।१)

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युगम् ।

प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्त्ताण्डमाभरत् ॥ (ऋ॰ ८।३।२) इति।

पृथिवीका सारा गोला अदितिहै । दिनभी अदितिहै । रात्रीभी अदितिहै । साथहीमें साराभूपिण्ड दितिभीहै । दिनमें आधा दृश्यभाग अदितिहै, अदृश्यभाग दितिहै । रात्रिमें दिनका दृश्यभाग दितिहै । अदृश्यभाग रात्रिमें

है । एवं गतिका अधिष्ठाता वही यजु वायुहै । इसी वेदत्रयी विज्ञानको लक्ष्य में रखकर महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वं तेजः सामरूप्यं हि शश्वत्—सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
ते. ब्रा.

इस प्रकार यह सत्यवेद ऋक्—साम—भेदसे त्रिधा विभक्त है । एवं यही प्रत्येक वस्तुका आत्माहै । 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार त्रयी मय सूर्य्य ही स्थावर जंगमका आत्मा बनताहै; एवं सूर्य्यके आधार पर ही सारे देवता प्रतिष्ठितहैं- इसी आधार पर 'त्रिःसत्या वै देवाः' यह कहा जाता है । 'वेदाः सत्यम्' के अनुसार वेद सत्यहै । वह त्रिकलहै । इसी त्रिकलवेद सत्यपर देवता प्रतिष्ठितहैं, अतएव विना त्रित्वके किसी विषय पर देवता की सत्य निष्ठा नहीं होती । यही कारणहै- सम्पूर्ण विश्वमें सत्य प्रतिष्ठाका आधार त्रित्ववादही माना जाताहै । शान्तिपाठ तीन बार करना पड़ताहै । न केवल वैदिकव्यवहारमें ही अपितु लौकिकव्यवहारमें भी- इस त्रित्ववादका सर्वात्मना राज्यहै । मिलिट्रीका सिपाही अपरिचितको आता देखकर तीन बार आवाज देताहै । तीन वारकी आवाजसे न वोलने पर फायर करदेता है । न्यायालयोंमें वादी-प्रतिवादीको तीनवार आवाज दीजाती है । वैद्य रोगी पर अपनी औषधिका फलाफल तीन दिनमें निश्चित कर पाताहै । इन सबका कारण वही त्रिकलवेदमूर्त्ति सत्यात्माहै । विना तीनके उसका पूरा स्वरूपही निष्पन्न नहीं होता । इसी त्रित्वके आधार पर निम्नलिखित त्रयीसमष्टि प्रचलित होती है । इससे आपको मालुम होगा कि वेदत्रयी ही सबका मूलहै । उसीके त्रित्वसे सारे भाव त्रित्वसे आक्रान्तहैं ।

सात—पांच—तीन—दो-एक-नव-दश-ग्यारह-वारह आदि सभी संख्याओं के आधार पर श्रुतियोंमें भिन्न भिन्न निगम अनुगम प्रचलित है । पूर्वमें

हमने पञ्चावयव यज्ञकी पाङ्क्तता का संक्षिप्त विवेचन किया था यहां प्रसङ्गागत त्रित्ववादकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है-

ऋग् यजुः सामरूप वेदत्रयी पर देवता प्रतिष्ठित हैं। अतएव देवता त्रिसत्य है। एवं 'जायमानो वै जायेत सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः' के अनुसार उत्पन्न होनेवाले सभी पदार्थ देवमय हैं। अतएव सृष्टिधारा त्रित्ववादको लेकरही आगे चलती है। उनमेंसे कुछत्रिकों का निर्देश कर दिया जाता है—

१ पृथिवी (भूः)
२ अन्तरिक्ष (भुवः)
३ द्यौः (स्वः)
} इति त्रयो लोकाः

१ ऋक्
२ यजुः
३ साम
} इति त्रयो वेदाः

१ अग्निः
२ वायुः
३ आदित्यः
} इति त्रयो-देवाः

१ वसवः
२ रुद्राः
३ आदित्याः
} इति त्रयोऽधि-देवाः

१ मनुष्याः
२ पितरः
३ देवाः
} इति तिस्रः प्रजाः

१ गार्हपत्याग्निः
२ दक्षिणाग्निः
३ आहवनीयाग्निः
} इति त्रयोऽग्नयः

१ गायत्री
२ त्रिष्टुप्
३ जगती
} इति त्रीणि छन्दांसि

१ मा
२ प्रमा
३ प्रतिमा
} इति वा त्रीणि छन्दांसि

१ वसन्तः
२ ग्रीष्मः
३ वर्षा
} इति ऋतवः

१ मनः
२ प्राणः
३ वाक्
} इति आत्मकला

१ ब्राह्मणः
२ क्षत्रियः
३ वैश्यः
} इति वर्णाः

१ वेदाः
२ नियतिः
३ ब्रह्म.
} इति स्वायम्भुवमनोता.

१ भृगुः
२ अंगिराः
३ अत्रिः
} इति पारमेष्ठ्य मनोताः

१ इडा २ ऊर्क् ३ गौः	इति वा पारमेष्ठ्य मनोताः	१ ज्योतिः २ गौः ३ आयुः	इति सौर मनोताः
१ रेतः २ श्रद्धाः ३ यशः	इति चान्द्रमनोताः	१ वाक् २ गौः ३ द्यौः	इति पार्थिव मनोताः

१ आपः २ वायुः ३ सोमः	इति भृगवः	१ भर्गः २ महः ३ यशः	इति तेजांसि	१ उक्थम् २ ब्रह्म ३ साम	इति आत्मकलाः

१ रथन्तरम् २ वैरूप्यम् ३ शाक्वरम्	इति पार्थिव सामानि	१ बृहत् २ वैराजम् ३ रैवतम्	इति सौर सामानि
१ वाक् २ आपः ३ अग्निः	इति शुक्राणि	१ जातिः २ आयुः ३ भोगाः	इति कर्मनिबन्धनानि
१ वातः २ पित्तम् ३ कफम्	इति धातवः	१ शिरा २ स्नायुः ३ धमनी	इति नाड्यः
१ शिरः २ उरः ३ उदरम्	इति शरीरपर्वाणि	१ इडा २ पिङ्गला ३ सुषुम्णा	इति नाड्यः
१ अव्ययः २ अक्षरः ३ क्षरः	इति पुरुषाः	१ सत्वः २ रजः ३ तमः	इति गुणाः
१ आकृतिः २ प्रकृतिः ३ अहंकृतिः	इति महत्कलाः	१ आत्मा २ प्राणाः ३ पशवः	इति प्राजापत्यकलाः

१ घनता २ तरलता ३ विरलता	इति अवस्थाः	१ जाग्रत् २ स्वप्नः ३ सुषुप्तिः	अवस्थाः
१ बालः २ युवा ३ वृद्धः	अवस्थाः	१ सत् २ चित् ३ आनन्दः	ब्रह्मकलाः
१ स्वरूपम् २ धर्मः ३ अभिनयः	रूपाः	१ नाम २ रूपम् ३ कर्म	सत्त्वानि
१ इच्छा २ तपः ३ श्रमः	आत्म व्यापाराः	१ प्रातः २ मध्याह्नम् ३ सायम्	काल कलाः
१ सृष्टिः २ स्थितिः ३ विनाशः	महाकाल कलाः	१ ब्रह्मा २ विष्णुः ३ शिवः	सृष्टि साक्षिणः
१ असंगः २ उद्गारः ३ समवायः	सम्बन्धाः	१ आत्मा २ सत्त्वम् ३ शरीरम्	अध्यात्मकलाः
१ तेजः २ आपः ३ अन्नम्	भूतकलाः	१ व्यक्तिः २ आकृतिः ३ जातिः	अभिव्यक्तयः
१ इष्टिः २ पशुः ३ सोमः	यज्ञाः	१ यज्ञायज्ञियम् २ वारवन्तीयम् ३ आयन्तीयम्	सामानि
१ स्वरूप (विश्वम्) २ परिरूप (विश्वात्मा) ३ अनिरुक्त (विश्वातीतः)	ब्रह्मणोऽवस्थाः	१ ज्ञानशक्तिः २ क्रियाशक्तिः ३ अर्थशक्तिः	शक्तयः

१ नरकम् २ स्वर्गः ३ अपवर्गः	आत्मगतयः	१ ज्ञानम् २ कर्म ३ उपासना	काण्डानि
१ स्वविषयकं सांसारिकं ज्ञानम् २ ईश्वरविषयकं सोपाधिक ज्ञानम् ३ मुक्तिसाधकं निष्कैवल्य ज्ञानम्	ज्ञानत्रिपुटिः	१ ज्ञाता २ ज्ञानम् ३ ज्ञेयम्	ज्ञानत्रिपुटिः
१ यज्ञः २ तपः ३ दानम्	विद्यासमुच्चित कर्म्माणि	१ इष्टम् २ आपूर्त्तम् ३ दत्तम्	विद्यानिरपेक्ष कर्माणि
१ कर्त्ता २ करणम् ३ कर्म्म	कर्म्मत्रिपुटिः	१ सम्वती २ अङ्गवती ३ अन्यवती	उपासनाः

न केवल सनातन धर्म्मी ही इस त्रित्ववाद से सम्बन्ध रखतेहैं—अपितु चर अचर सब इस त्रित्वसे आक्रान्तहै। लौकिक कर्म्म हो या पारलौकिक सबका कोई न कोई मूल कारण अवश्य रहताहै। अपने आपको परम वैज्ञानिक समझने वाले कितनेही महानुभाव कितनीही बातोंको 'बाईचान्स' कहकर उनके मूलकारण को खोजने की चेष्टासे वञ्चित रहजाते हैं। बाइचान्स का अर्थ उनकी दृष्टिमें 'निर्मूल–कार्यकारण भावशून्य' है। जिसका कोई कारण नहो—जो योंही होजाय उसे ये महानुभाव बाईचान्स कहतेहैं। परन्तु ऐसा समझना भारी भूलहै। बिना कारणके कोईभी कार्य नहीं हो सकता यह निश्चित सिद्धान्तहै। हां वह कारण अज्ञात हो सकताहै। अज्ञात कारण द्वारा होने वाले कार्यके लिए ही संस्कृत साहित्यमें 'दैवात्' शब्द प्रयुक्त होताहै। दैव संयोगसे ऐसा होगया—इसका अर्थ यह नहीं है कि बिनाही कारणके कार्य होपड़ा। अपितु अज्ञात कारण के लिए दैवात् कहा जाताहै। जो कारण हमारी दृष्टिसे परेहै मानना पड़ैगा कि उसके कर्त्ता

त्रैलोक्य व्यापक प्राणदेवताहैं। इन्हीको लक्ष्यमें रखकर 'दैवात्' कहाजाता है। भला बुरा सब इन्ही प्राणदेवताओंकी प्रेरणासे होताहै। वे चूंकि त्रिसर्ग हैं अतः सारा प्रपञ्च तीन कलाओंसे युक्त होताहै। त्रित्व सम्बन्धी कुछ निदर्शन पूर्वमें किए गएहैं। अब कुछ निदर्शनों की ओर पुनः आपका ध्यान आकर्षित किया जाताहै। इससे आपको विदित होगाकि त्रित्वकी व्याप्ति कहांतक दौड़ लगाती है। एवं त्रित्ववाद प्रतिपादक त्रिकल वेद किस प्रकारसे—"भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" इस मनु वचनको चरितार्थ करताहै।

भला बुरा ऐहलौकिक पारलौकिक सारा प्रपञ्च 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः' इस निगम श्रुतिके अनुसार देवताओंसे आक्रान्तहै। देवताही सबके मूल प्रभवहैं। इधर देवता वेद त्रिसत्यके कारण त्रिसत्यहैं अतएव सारा प्रपञ्च इस त्रिसत्यसे आक्रान्तहैं। जैसाकि निम्नलिखित उदाहरणोंसे औरभी स्पष्ट होजाताहै—

१ ईश्वर २ जीव ३ प्रकृति	त्रित्ववाद	१ औपश्लेषिक २ वैषयिक ३ अभिव्यापक	आधार	१ विराट् २ हिरण्यगर्भ ३ अव्याकृत	ईश्वरावस्था
१ वैश्वानर २ तैजस ३ प्राज्ञ	भोक्तात्मा	१ विराट् २ हिरण्यगर्भ ३ सर्वज्ञ	साक्षी	१ ब्रह्मर्षि २ देवर्षि ३ राजर्षि	ऋषि
१ संचित २ प्रारब्ध ३ क्रियमाण	कर्म	१ अकर्मक २ सकर्मक ३ प्रेरणार्थक	क्रिया	१ क्रिया २ पूर्वकालिकक्रिया ३ संभावनार्थक्रिया	क्रिया
१ शालग्राम २ नन्दीग्राम ३ मयलग्राम	ग्राम	१ माता २ पिता ३ आचार्य	गुरू	१ गुरु २ विद्या ३ शिष्य	संहिता

१ पिता २ पुत्र ३ माता	संहिता	१ असंज्ञ २ अन्तः संज्ञ ३ ससंज्ञ	जीन	१ धातु २ मूल ३ जीव	जीव
१ सत्वविशाल २ रजोविशाल ३ तमोविशाल	भूतसर्ग	१ जलचर २ थलचर ३ नभचर	जीव	१ आध्यात्मिक २ आधिभौतिक ३ आधिदैविक	ताप
१ विजातीय २ सजातीय ३ स्वगत	भेद	१ जहत २ अजहत ३ जहदजहत	लक्षणा	१ कर्तृप्रधान २ कर्मप्रधान ३ भावप्रधान	वाक्यप्रकार
१ स्थूल २ सूक्ष्म ३ कारण	शरीर	१ कृतात्मा (मुक्त) २ आरुरुक्षु (मुमुक्षु) ३ अकृतात्मा (विषयी)	पुरुष	१ प्रथम २ मध्यम ३ उत्तम	पुरुष
१ एकवचन २ द्विवचन ३ बहुवचन	वचन	१ रूढ २ यौगिक ३ योगरूढ	संज्ञाभेद	१ लिङ्ग २ वचन ३ कारक	संज्ञा अंग
१ स्वरसंधि २ व्यञ्जनसंधि ३ विसर्गसंधि	सन्धि	१ अंकगणित २ रेखागणित ३ बीजगणित	गणित	१ पद २ वाक्य ३ न्याय	तर्क
१ स्फोट २ स्वर ३ वर्ण	शब्दब्रह्म			१ जठरानल २ दावानल ३ वडवानल	अनल
१ हर्रे २ बहेड़ा ३ आमला	त्रिफला	१ भूत २ वर्त्तमान ३ भविष्य	काल	१ सोंठ २ मिर्च ३ पीपल	त्रिकुट
१ दान २ भोग ३ नाश	वित्तगति	१ नित्यगति २ संपरायगति ३ ब्रह्मगति	गति	१ ब्रह्मसंस्कार २ देवसंस्कार ३ भूतसंस्कार	संस्कार

१ दोषमार्जन		१ दृष्ट		१ काल	
२ अतिशयाधान	संस्कार	२ अनुमान	प्रमाण	२ स्वभाव	प्रबल
३ हीनाङ्गपूर्त्ति		३ आप्त		३ कर्म्म	

१ पूरक		१ ब्रह्म	
२ कुम्भक	प्राणायाम	२ क्षत्र	वीर्य
३ रेचक		३ विट्	

१ कायिक		१ द्वैत		१ जिन	
२ वाचिक	पुण्यपाप	२ अद्वैत	आस्तिकभेद	२ बुद्ध	ना० भेद
३ मानसिक		३ विशिष्टाद्वैत		३ अर्हन्	

१ दिगम्बर		१ रम्भा		१ हीनयोग	
२ श्वेताम्बर	जिन सं०	२ मेनका	अप्सरा	२ अतियोग	योग
३ ढूंढिया		३ उर्वशी		३ मिथ्यायोग	

१ अशन		१ यन्त्र		१ रोग	
२ वसन	शरीर यात्रा सा०	२ मन्त्र	निगम	२ शोक	व्याधि
३ शयन		३ तन्त्र		३ परिताप	

१ ऐरावत		१ गरुड़		१ निम्ब	
२ उच्चैःश्रवा	पशुश्रेष्ठ	२ हंस	पक्षिश्रेष्ठ	२ तुलसी	वायुशोधक वृक्ष
३ कामधेनु		३ मयूर		३ आमलक	

निदर्शनपात्र हैं। इन त्रिकोंका एकमात्र कारण वही हमारा त्रिसत्यवाद है। आत्मा त्रिसत्य है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि बिना तीनके सत्यनिष्ठा होतीही नहीं। इसी सत्यनिष्ठा प्राप्तिके लिए प्राणायाम–आचमन–शान्तिपाठ आदि तीनवारही किए जातेहैं। इसी त्रिसत्यको आधार मानकर त्रिसत्य

१—विराट् ईश्वर से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है। विराट् १० अक्षरका छन्द है। अतएव सर्वत्र १–२–३–४ इस क्रमसे १० संख्याका साम्राज्य है। इस विषयका विशद विवेचन हमारे लिखे हुए 'विराट्स्वरूप निदर्शन' नामके निबन्ध में देखना चाहिए।

वेदकेलिए भगवान् को—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' यह कहना पड़ाहै। प्रसंगागत त्रिसत्यवाद का निदर्शन किया गया। अब प्रकृतका अनुसरण करतेहैं।

आपोमय परमेष्ठीके केन्द्रमें प्रकट होनेवाला महोक्थ, महाव्रत, पुरुषरूप अग्निमय सूर्य्य साक्षात् सत्यवेद है। पूर्वमें इसी अग्निमूर्त्ति सत्यवेदका निरूपण कियागयाहै। अब प्रकारान्तरसे वेदतत्वका निरूपण किया जाताहै।

ईश्वर वेदमूर्त्तिहै। वेदमूर्त्ति ईश्वर प्रजापति यज्ञमयहै। 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' के अनुसार वह प्रजापति स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमा भेदसे पञ्चावयवहै। स्वयम्भू प्राणमयहै, परमेष्ठी आपोमयहै, सूर्य वाङ्मयहै, पृथिवी अन्नादमयी है, एवं चन्द्रमा अन्नमयहै। प्राणमय स्वयम्भूका अधिष्ठाता देवता ब्रह्माहै। आपोमय परमेष्ठीका अधिष्ठाता विष्णुहै। वाङ्मय सूर्य्यका अधिष्ठाता इन्द्रहै। अन्नादमयी पृथिवीके अधिष्ठाता अग्निहै। एवं अन्नमय चन्द्रमाके अधिष्ठाता सोमहै। यह पांचही देवता संसारके प्रभव प्रतिष्ठा परायणहै। 'व्यक्तिस्तु पृथगात्मता' के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र आत्मा रखताहै। आनन्द विज्ञान मन प्राण वाक् भेदभिन्न पञ्चकल अव्यय पुरुषका नाम आत्माहै। इस आत्मामे अन्तर्य्यामी—सूत्रात्मा भेदसे दो अक्षर प्रतिष्ठित रहतेहैं। परन्तु पिण्डके केन्द्रमें प्रतिष्ठित होकर उस वस्तु का अपनी स्वाभाविक नियति से नियमन करनेवाला तत्त्व अन्तर्यामी है। हृदयके आधारसे प्रतिष्ठित होकर अन्तः सूत्र और बहिः सूत्रसे वस्तुपिण्ड का निर्म्माण करने वाला तत्त्व सूत्रात्माहै। हृदयमें प्रतिष्ठित रहने वाला अन्तर्यामी हृ द य भेदसे त्रिकलहै। हृ विष्णुहै। द इन्द्रहै। यम् ब्रह्माहै। प्रत्येक वस्तुमें आदान, विसर्ग, नियमन भेदसे तीन शक्तिएं प्रतिष्ठित रहतीं हैं। आदान शक्तिका उक्थ ब्रह्म साम—विष्णुहै। विसर्ग शक्तिका उक्थ ब्रह्म साम—इन्द्रहै। एवं नियमन शक्तिका उक्थ ब्रह्म साम—ब्रह्माहै।

वस्तुपिण्ड पुरहै। इसके निर्म्माता इन्द्र अग्नि सोम यह तीन देवताहै। इस-प्रकार वस्तुकेन्द्र और वस्तुपिण्ड भेदसे पूर्वोक्त पांचो देवता पूर्वोक्त दो भागोंमें विभक्त होजाते है। इनमें ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र तीनों विष्णु शब्दसे व्यवहृत होतेहैं। कारण इसका यही है कि-

'सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्म्मणि'

ऋग्वेद

के अनुसार आध्यात्मिक पक्षमें विष्णु शब्दसे अन्तर्य्यामी का ग्रहण किया जाताहै। एवं ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र तीनों की समष्टि अन्तर्यामी है। इधर इन्द्र अग्नि सोम तीनोंकी समष्टि शिव कहलाती है। 'त्रयो लोकस्य कर्त्तारो ब्रह्मा विष्णुः शिवस्तथा' के अनुसार पुराणने इन्द्र अग्नि सोम तीनों का शिव शब्दसे ही ग्रहण कियाहै। हृदय पृष्ठ, अन्तः पृष्ठ, वहिः पृष्ठ, पारावत पृष्ठ, भेदसे प्रत्येक पदार्थ चतुःपृष्ठ होताहै। वस्तुकेन्द्र हृदय पृष्ठहै। वस्तुपिण्ड अन्तः पृष्ठहै। वस्तु पिण्डसे निकलकर अपना महामण्डल बनाने वाला महाप्राणमण्डल ३३ अहर्गणोंसे युक्तहै। इनमें २१ वे अहर्गण पर्यन्त वहिः पृष्ठहै, एवं ३३ तक पारावत पृष्ठहै। इन चारो पृष्ठोंमें हृत्पृष्ठ--अन्तः पृष्ठ-वहिः पृष्ठ इन तीनों में तो विष्णुकी (ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रकी) व्याप्ति रहती है, एवं अन्तः पृष्ठ, वहिः पृष्ठ, पारावत पृष्ठ इन तीनों में शिवकी (इन्द्र-अग्नि-सोमकी) व्याप्ति रहती है। विष्णुकी प्रतिष्ठा शिवहै। शिवकी प्रतिष्ठा विष्णुहै। दोनों अविना भूतहैं। जबतक हृदयहै तभीतक अन्तः पृष्ठ-बहिःपृष्ठ-पारावत पृष्ठरूप शिव मण्डलकी सत्ताहै। एवं जबतक अग्नि सोमात्मक यज्ञमूर्त्ति शिवकी सत्ताहै तभीतक विष्णुमण्डलकी सत्ताहै। इसी पारस्परिक प्रतिष्ठाको लक्ष्यमें रखकर—

"शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः" यह कहाजाताहै।

पूर्वमें हमने इन्द्रको वाङ्मय बतलायाहै, अग्निको अन्नादमय बतला-

याहै सोमको अन्नमय वतलायाहै एवं तीनोंकी समष्टिको 'शिव' कहा है। इस इन्द्राग्निसोममूर्त्ति शिवके अधिकारमें वाक-अन्नाद-अन्नरूप अन्तः पृष्ठ-बहिः पृष्ठ-परावत पृष्ठात्मक तीन पुरहै। शिवाविष्टित इन तीनों पुरों में अन्तर्य्यामी विष्णु (ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र) का वीरण होताहै। ब्रह्म तत्व-पर (जोकि प्रतिष्ठा रूपहै) इन्द्र विष्णुकी स्पर्द्धा होती है। इसी स्पर्द्धाका नाम वीरणहै। इस स्पर्द्धासे क्रमशः वेद, लोक, वाक्, इन तीन साहस्त्रियों का जन्म होताहै। वेदसाहस्री ब्रह्ममूलाहै। यह प्राणमयी है। लोकसाहस्री विष्णुमूलाहै। यह आपोमयी है। एवं वाक् साहस्री इन्द्रमूलाहै। यह वाङ्मयी है। इसी साहस्री विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

'उभा जिग्यथु र्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्चविष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्'
'कितत् सहस्रमिति-इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्' इति।

शतपथ

मूलमें वेद साहस्रीहै। उसके आधारपर लोक साहस्रीहै। लोकसाहस्रीपर वाक्साहस्रीहै। यही प्रजाहै। वेद-लोक-प्रजामयी तीनों साहस्त्रिएं शिवगर्भित अग्निसोमके भेदसे द्वेधा विभक्त होजाती है। परमेष्ठी मे उत्पन्न होनेवाला गो तत्व सहस्रधा विभक्तहै। उसका वेद-लोक-प्रजा तीनोंसे सम्बन्ध होताहै। अतएव तीनों सहस्र भावापन्न होजातेहैं। ऋग, यजुः, साम यह तीनों वेद, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-यह तीनों लोक एवं अग्नि-वायु-आदित्य यह तीनों देवता-अग्निमयहै। अग्नि सम्बन्धसे-वेद-लोक-प्रजा इस स्वरूपमें विभक्त होजातीहै। एवं अथर्ववेद, आपोलोक-पितर तीनके भेदका कारण सोमहै। इसप्रकार अग्निसोम भेदसे साहस्री दो भागोंमें विभक्त होजाती है। सहस्र गोमय वषट्कार मण्डलमें हमने पूर्वके प्रकरणोंमें ३३ अहर्गण वतलाएहैं। इनमें २१ वे अहर्गण तक अग्निमयी

साहस्रीकी सत्ताहै, एवं २१ से ३३ तक सोममयी साहस्रीकी सत्ताहै। दूसरे शब्दोंमें जहांतक अग्निकी व्याप्तिहै वहांतक तीन वेद—तीन लोक—तीन देवताओंकी व्याप्तिहै एवं जहातक सोमकी व्याप्तिहै वहांतक आपोलोक—पितरोंकी व्याप्तिहै। इसप्रकार सम्पूर्ण विश्व अग्नि सोममय होताहुआ वेद—लोक—प्रजासे आक्रान्तहै। इन तीनोंमेंसे लोक और प्रजाको अप्राकृत होनेसे छोड़तेहैं। केवल वेदसाहस्री की ओरही आपका ध्यान आकर्षित कराया जाताहै।

त्रयीवेद—अथर्ववेद—भेदसे वेद भागद्वयमें विभक्तहै। अग्निवेद त्रयीवेदहै—सोमवेद अथर्ववेदहै। इनमे अग्निवेद पृथिवी-सूर्य्यभेदसे दो भागों में विभक्तहै। दोनोंमें से पूर्वके सप्तवेद प्रकरण में सूर्य्यवेदका निरूपण किया जाचुकाहै। दूसरा पार्थिववेद चितेनिधेय अग्निके सम्बन्धसे पृथिवी अन्तरिक्ष—द्यौ इन तीन भागों में विभक्त होजाताहै। पिण्ड पृथिवीके चारों ओर ३३ तक अपना मण्डल बनाने वाली महापृथिवीहै। इसेही महावेदि कहतेहै। 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी' (शत०) के अनुसार यह महावेदी वेदमयहै। इस महावेदिरूपा महा पृथिवीके त्रिवृत् स्तोमतक (९ तक) अग्निमय (घनाग्निमय) ऋग्वेदकी सत्ताहै। पञ्चदश स्तोम पर्यन्त (१५ तक) वायुमय (तरलाग्निमय) यजुर्वेद की सत्ताहै। एकविंश स्तोम पर्यन्त (२१ तक) आदित्यमय (विरलाग्निमय) सामवेदकी सत्ताहै। एवं त्रयस्त्रिंश स्तोम पर्यन्त आपोमय अथर्ववेदकी सत्ताहै। त्रिवृत्—पञ्चदश—एकविंश—त्रयस्त्रिंश यह चारों स्तोम क्रमशः इस महापृथिवीके अवयव भूत पृथिवी अन्तरिक्ष—द्यौ—आपः यह चारलोकहैं। चतुर्लोकात्मिका पृथिवीके २१ वे अहर्गण तक अग्निवेद किंवा त्रयीवेदहै। ३३ वे अहर्गण तक सोमवेद किंवा अथर्ववेदहै। इस पार्थिव वेदको 'यज्ञमात्रिक वेद' कहा जाताहै। कृष्णमृगचर्म्म विद्याका इसी पार्थिव यज्ञमात्रिक वेदसे सम्बन्धहै जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इसी यज्ञमात्रिक वेदको लक्ष्यमें रखकर गोपथ श्रुति कहती है—

"ऋचामग्निर्दैवतं पृथिवीस्थानम्। यजुषां वायुर्दैवतमन्तरिक्ष स्थानम्। साम्नामादित्य दैवतं द्यौः स्थानम्। अथर्वणां चन्द्रमा दैवतमापः स्थानम्" 'गोपथ ब्रा०'

अथर्व वेदको थोड़ी देरकेलिए छोड़दीजिए। अग्निवेद पर दृष्टि डालिए। अग्नि वेद त्रयी वेदहै। वह आत्मा–प्रतिष्ठा–ज्योति–भेदसे तीन प्रकारकाहै। 'अस्ति' यह प्रतिष्ठा तत्वहै। इस प्रतिष्ठामें आत्मा प्रतिष्ठित होकर प्रतिभासित होताहै। वस्तुभात ज्योतिर्वेदहै। वस्तुप्रतिष्ठा प्रतिष्ठा वेदहै। प्रतिष्ठामें प्रतिष्ठित आत्मा आत्मवेदहै। तीनोंकी समष्टि पदार्थकी उपलब्धिहै। उपलब्धि वेदरूपाहै। इसीलिए हमने पूर्वमें उपलब्धिको वेद कहाहै। आत्मा प्रतिष्ठितहै। प्रतिष्ठामें प्रतिष्ठित आत्माका भान होरहाहै। इसप्रकार प्रतिष्ठा और भानही आत्माकी उपलब्धिहै। इन तीनोमें प्रतिष्ठाग्नि किंवा प्रतिष्ठातत्व ऋग्वेदहै। आत्माग्नि किंवा आत्मतत्व यजुर्वेदहै, एवं ज्योतिरग्नि किंवा ज्योतितत्व "सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" के अनुसार सामवेदहै। सारा विश्व समष्ट्या व्यष्ट्या उभयथा वेदमयहै। प्रतिष्ठाग्नि पृथिवी स्थानीयहै। यही ऋग्वेदहै। आत्माग्नि अन्तरिक्ष स्थानीय है। यही यजुर्वेदहै। एवं ज्योतिरग्नि दिव्यस्थानीयहै। यही सामवेदहै।

१ प्रतिष्ठाग्निः=प्रतिष्ठावेदः–पार्थिवः, ऋग्वेदः		मूर्त्तिः–अग्निः
२ आत्माग्निः=आत्मवेदः-आन्तरिक्ष्यः-यजुर्वेदः	अग्निवेदः, त्रयीवेदः	गतिः-वायुः
३ ज्योतिरग्निः=ज्योतिर्वेदः–दिव्यः–सामवेदः		तेजः–इन्द्रः

तीनों वेदोंमें तीनों वेदोंका उपभोगहै। दूसरे शब्दोंमें प्रत्येक वेद ऋग् यजुः साम भेदसे त्रिधाविभक्तहै। इनमें प्रथम प्रतिष्ठावेदरूप ऋग्वेदके अवयवभूत ऋग् यजुः सामका ही निरूपण कियाजाताहै—

१-प्रतिष्ठा वेदः-ऋग्वेदः,

१-आत्मधृतिः

ठहरावका नाम प्रतिष्ठाहै। यह प्रतिष्ठा तत्त्व आत्मधृति, असतोधृति, सतोधृति भेदसे तीन प्रकारकीहैं। इनमें पहिलेकी आत्मधृति स्वप्रतिष्ठा कहलातीहै एवं आगेकी दोनों धृतिएं पर प्रतिष्ठा नामसे व्यवहृत होती हैं। मन-प्राण-वाक्‌की उन्मुग्धावस्थाको ही सत्ता कहतेहैं जैसाकि उपलब्धि वेद निरूपणमें बतलाया जाचुकाहै। घटहै-इस वाक्यमें जो अस्तिभावहै वह आत्मधृति किंवा आत्म सत्ताहै। 'घटोऽस्ति' का अर्थहै घटः-आत्मानं धत्ते। जबतक यह सत्ताहै तभीतक घट स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठितहै। अहमस्मि यह आत्मसत्ताहै। स्व-स्वरूपरक्षिका सत्ताहै। घटोऽस्ति का अर्थहै घटः सत्तां धत्ते। इसका अर्थ है-आत्मानं धत्ते। इसका अर्थहै-मनो धत्ते-प्राणं धत्ते-वाचं धत्ते। सूर्य्यहै, पृथिवी है, चन्द्रमाहै, मनुष्यहै, घटहै, पटहै, इसप्रकार से जिस वस्तुस्वरूपरक्षक अस्तिभावका हम प्रत्येक पदार्थमें साक्षात्कार कर-रहेहैं वह मनप्राणवाक्‌ की समष्टिरूपा सत्ताही आत्मधृतिहै। जबतक आत्म-धृतिहै तभीतक वस्तु स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठितहै। आत्माभावमें वस्तु विनष्टहै। यही पहिली प्रतिष्ठाहै—

२-असतोधृतिः

सत्ताशून्य पदार्थमें सत्ता डालदेना असतो धृतिहै। अभी घटका आत्यन्तिक अभावहै। घट नहीं है। होता क्या है-कुम्भकार मिट्टीके मन प्राण वाक्‌पर अपने मन प्राण वाक्‌का व्यापार करताहै। घट निर्म्माणानुकूल अपने मनका मिट्टीमें संनिवेश करताहै। 'मैं घट बनाऊं' इस इच्छासे वह पहिले अपने अन्तर्जगत्‌में घटका निर्म्माण करताहै। बस घटाकारा कारित मनोऽवच्छिन्न प्राण व्यापारद्वारा दण्ड-चक्र-चीवर-आदि साधन भूत वाक् तत्त्वकी सहायतासे भूतसत्ता और कुम्भकार सत्ता मिट्टीमें प्रविष्ट

होकर घटरूप धारण करलेती है। घट कुम्भकारसे अनुगृहीत मृत्सत्ताका परिग्रह कर उत्पन्न होजाताहै। अपूर्वसत्ता धारण करलेनाही उसवस्तुका जन्म कहलाताहै। उत्पन्न होनेवाला पदार्थ विकृतिहै। एवं जिससे वह उत्पन्न होताहै वह उसकी प्रकृतिहै। उत्पन्न होनेवाले विकृतिरूप पदार्थ अपनी प्रकृतिमें ही प्रतिष्ठित रहतेहै। वह सत्ता उनकी नहीं है–प्रकृति की है। वेतो स्वय असतहैं। प्रकृतिकी सत्ताको लेकर वे सत्तावान् बनरहेहैं। इसी आधारपर—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम" यह कहा जाताहै। विकृतिरूप असत् पदार्थको धारण करनेवाली यह प्रकृति प्रतिष्ठाही असतो धृतिहै। यही दूसरी प्रतिष्ठाहै।

पूर्व प्रतिपादित आत्मधृति एवं इस असतो धृतिमें अन्तर इतनाहीहै कि उसके लिए 'अस्ति' शब्दका प्रयोग होताहै, एवं इसके लिए 'जायते' शब्द प्रयुक्त होताहै। घटहै—यह आत्म धृतिका उदाहरणहै, एवं 'घटो जायते' यह असतो धृतिका उदाहरणहै।

३—सतोधृतिः

तीसरीहै–सतो धृति। यह सत्ता आधाराधेय भाव रूपाहै। घटमें जलहै। अश्वपर अश्वारोही है। पृथिवीपर ओषधि वनस्पतिहै। शरीरपर वस्त्रहै। टेबिलपर पुस्तकहै। यह सब सतोधृतिके उदाहरणहैं। यहां आधार और आधेय दोनों सत्तावान्है। दोनोकी सत्ता स्वतन्त्रहै। अप्रतिष्ठित पदार्थ अन्यमें प्रतिष्ठित होताहै। दूसरे शब्दोंमे अल्पमाणकी प्रतिष्ठा महामाण बनताहै। यही सतोधृति हैं। बस संसारमे प्रतिष्ठा कुल तीनही प्रकारकी है। इन तीनोमें प्रथमा आत्म प्रतिष्ठा ऋग्वेदहैं।

ब्रह्माक्षरकी प्रकृति प्राणहै। यही वेदहै। प्राण साहस्रीका ही पूर्वमें वेद बतलाया गयाहै। स्वयम्भू प्राणमयहै। एवं स्वयम्भूका अधिष्ठाता

ब्रह्माक्षरहै। ब्रह्माक्षरसे उद्भूत प्राणरूप वेदही आपोमय, दूसरे शब्दों में अप्प्राकृतिक विष्णु नामके पारमेष्ठ्य अक्षरसे उद्भूत सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्रतिष्ठाहै। अव्ययविशिष्ट ब्रह्माक्षरसे अनुगृहीत यही वेद सबका आत्मा बनताहै। अन्य प्रतिष्ठित पदार्थोंकी यही प्रतिष्ठाहै। एवं मूलप्रतिष्ठा तत्वको पूर्वमें ऋग्वेद कहागयाहै। इधर यह आत्मधृतिरूपा प्रतिष्ठा आगेकी असतोधृति और सतोधृति दोनों प्रतिष्ठाओंकी भी प्रतिष्ठाहै। अतः हम अवश्यही इस आत्मधति को ऋग्वेद कहने के लिए तय्यारहै।

दूसरी है असतोधृति। यही यजुर्वेदहै। यजनका यजुसे सम्बन्धहै। यजुर्वेद 'सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत्' के अनुसार गति प्राकृतिकहै। गति द्वाराही एक वस्तु दूसरी में आहुत होती है। इसी यजुमूलक आहुति व्यापारको 'यजन' कहतेहैं। बलाग्निमें मृत्तिकारूप कारण सत्ताकी आहुति होनेसे असतोधति का स्वरूप निष्पन्न होताहै। दूसरे शब्दोंमें कार्य्य जातकी उत्पत्तिके लिए कारण सत्ताकी आहुति होती है। इससे यजन सम्पत्ति प्राप्त होतीहै। ऐसी अवस्थामें यजनरूपा असतोधृतिको हम अवश्यही यजुर्वेद कहनेके लिए तय्यारहैं।

तीसरी है सतोधृति। 'ऋचा सममेने तस्मात साम' के अनुसार ऋक् की समानताके कारणही तीसरावेद साम कहलाताहै। आत्मप्रतिष्ठारूप ऋक् का जैसा स्वरूप होताहै उसीके अनुसार सतोधृति की प्रवृत्ति होती है। प्रतिष्ठा जैसी होती है तदनुरूपही उसपर अन्यवस्तु प्रतिष्ठित रहसकती है। पानी अपने ऊपर तृणको प्रतिष्ठित करसकताहै पाषाणको नहीं। क्योंकि पाषाण उस जल सत्तासे अधिक बलरखताहै। यहां समानरूपताका अभावहै। आधारकी अनुरूपताही आधेयकी प्रतिष्ठामें मुख्य कारणहै। ऐसी अवस्थामें आधेयरूपा इस सतोधृतिको अवश्यही सामवेद कहनेके लिए तय्यारहैं।

इसप्रकार प्रतिष्ठारूप ऋग्वेदमें प्रतिष्ठात्रयीके कारण तीनों वेदोंका उपभोग होजाताहै—

१ आत्मधृतिः=ऋग्वेदः=प्रतिष्ठानां प्रतिष्ठात्वात् ।
२ असतोधृतिः=यजुर्वेदः=बलाग्नौ कारणसत्तायाहृयमानतया यजनसंपत्तेः । } सोऽयं ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोगः
३ सतोधृतिः=सामवेदः=आत्मधृति साम्येन तत्र वृत्तेः ।

२ आत्मवेदः = यजुर्वेदः

दूसराहै आत्मवेद । इसीको हमने पूर्वमें यजुर्वेद कहाहै । पूर्वके प्रकरणोंमें 'यस्य यदुक्थं सत्—ब्रह्म सत् साम स्यात् स तस्य आत्मा' आत्माका यह लक्षण कियागयाहै । उक्थ—ब्रह्म—साम समष्टि ही आत्माहै । 'यस्मादुत्तिष्ठते' के अनुसार प्रभव (उपादान कारण) का नाम उक्थहै । 'यो बिभर्त्ति' के अनुसार आधारभूमि का नाम ब्रह्महै । 'यत्समं सर्वेषु' के अनुसार समान जातीय पृथक् पृथक् व्यक्तियोंमें समान भावसे व्याप्त रहने वाला तत्त्व साम है । जोकारण तत्त्व अपने कार्यका उक्थ—ब्रह्म—साम होताहै वह उस कार्य का आत्मा माना जाताहै ।

'तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्' (शत१.४।३।३) के अनुसार उक्थ—ब्रह्म—साम तीनों मिलकर एक आत्माका स्वरूप निष्पन्न होताहै । आत्मा एक होताहुआ भी उक्थ-ब्रह्म—साम भेदसे त्रिकलहै । आत्माकी यह तीनों कलाएं ही क्रमशःत्रयीवेदहै । उक्थ भाग ऋग्वेद है । ब्रह्म भाग यजुर्वेदहै । साम भाग सामवेदहै । महोक्थको ऋक् कहतेहैं । महाव्रतको साम कहतेहैं । ब्रह्माग्निको (पुरुषाग्निको) यजुर्वेद कहतेहै । (देखो शत० १०म् काण्ड) । उदाहरणके लिए नाम रूप कर्म्मको लीजिए ।

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' के अनुसार सृष्टि साक्षी आत्मा मन प्राण वाङ्मयहै। यह इस आत्म प्रजापतिका अमृतभागहै। एवं 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम' के अनुसार आत्मा अमृतमर्त्य भेदसे उभय भावापन्नहै। आत्माके मर्त्यभाग नाम–रूप–कर्म्महै। नाम वाक् भागका मर्त्यरूपहै। कर्म्म प्राण भागका मर्त्यरूपहै एवं रूप मनका मर्त्यरूपहै।

नामोंका उक्थ ब्रह्म साम वाक्तत्त्वहै। सारे नाम वाक्से ही उठतेहैं। वाक्पर ही सारे नाम प्रतिष्ठित रहतेहैं। एवं सर्वथा विभिन्न नामोंमें वाक् तत्त्व समानहै। रूपोंका उक्थ चक्षुताराग्रवर्त्ती मनहै। इस चक्षुमनको लोक भाषामें मानस किंवा 'प्राणस्या' कहाजाताहै। यही चक्षुका चक्षुपनाहै। चक्षु शब्दोपलक्षित इसी मनसे सारे रूप उठतेहैं। इसीपर प्रतिष्ठित रहतेहैं एवं यह मन सारे विभिन्न रूपोंमें समानरूपसे व्याप्तहै। तीसराहै कर्म्म। आत्मा[1] (ब्रह्माग्निरूप शरीर) सारे कर्म्मोंका उक्थ है, यही सबकी आधार भूमि है। सभी विभिन्न कर्म्मों में यह समान है। नाम–रूप–कर्म्म स्वरूप अपने मर्त्य भागसे अविनाभूत वाक्–मन–प्राणरूप त्रिकल आत्मा त्रिकल होताहुआ भी एक आत्माहै। दूसरे शब्दोंमें एक आत्मा त्रिकलहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर वाजि श्रुति कहतीहै—

"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदुक्थम। अतोहि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम। एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम। एत

---

[1] चत्वार आत्मा (शत० ६।१।१) के अनुसार कण्ठ से मूलाधार पर्य्यन्त का भाग आत्मा कहलाताहै। यहीं से कर्म्म प्रेरणा होतीहै। प्रकृतमें भी आत्मशब्दसे यही भाग अभिप्रेतहै।

देषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति । अथ रूपाणां चक्षु (प्राज्ञ-मनः—चक्षुस्थानीयम्) रित्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति । एतदेषां साम । एतद्धि सर्वै रूपैः समम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति । अथ कर्म्मणां आत्मा (ब्रह्मप्राणात्मकं शरीरं) इत्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति । एतदेषां साम । एतद्धि सर्वैः कर्मभिः समम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्त्ति । तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्"—(शत० १४ कां० । ३ प्र० ३ ब्रा० । १—२—३ कं०) इति ।

१ नाम = वाक् = वाग्ब्रह्म
२ रूप = मन = चक्षुब्रह्म
३ कर्म = प्राण = आत्मब्रह्म
} "स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"

त्रिकल आत्मा आत्मवेदहै । यही यजुर्वेदहै । इसका उक्थ भाग ऋग्वेद है । ब्रह्म भाग यजुर्वेदहै । साम भाग सामवेदहै । इसप्रकार यजुर्वेदात्मक आत्मवेदमें तीनो वेदों का उपभोग होजाताहै—

उक्थम् = महोक्थम् = ऋक्
ब्रह्म = पुरुषः = यजुः
साम = महाव्रतम् = सामः
} आत्मवेदः—यजुर्वेदः
"सोऽयं यजुर्वेदे वेदत्रयोपभोगः"

३ ज्योतिर्वेदः = सामवेदः

'सर्व तेजः समारूप्यं ह शश्वत' के अनुसार ज्योतितत्त्वका नाम साम वेदहै । ज्योतितत्व ज्ञानज्योति, भूतज्योति, सत्यज्योति भेदसे तीन भागोंमें विभक्तहै । इनमें भूत ज्योति—सूर्य्य, चन्द्र, तारक, विद्युत, अग्नि भेदसे

पञ्चधा विभक्तहै। सत्य ज्योति नाम—रूप—भेदसे द्विधा विभक्तहै। एवं ज्ञान ज्योति सविषयक—निर्विषयक भेदसे द्विधा विभक्तहै। इनमें भूतज्योति और सत्य ज्योतिका आत्मा ज्ञान ज्योतिहै। क्योंकि ज्ञान ज्योतिही इतर दोनों ज्योतियों का उक्थ-ब्रह्म-सामहै। जबतक अध्यात्म जगत् इस आत्मरूप ज्ञान ज्योतिसे प्रकाशित रहताहै, तभीतक वह भूतज्योति और सत्य ज्योतिका साक्षात् करनेमें समर्थ होताहै। अतएव ज्ञान ज्योतिको 'ज्योतिषां ज्योतिः' कहाजाताहै। बात यथार्थहै। भूत ज्योतिका प्रभाव केवल प्रकाशमेंही रहताहै। अंधकारको हटाकर वहांकी वस्तुका साक्षात्कार करादेना मात्र भूतज्योति का काम है। परन्तु ज्ञान ज्योतितो प्रकाश अन्धकार दोनोंमें समान रूपसे व्याप्त रहतीहै। घोर अन्धकारमें भी हमारा ज्ञान स्वच्छन्द गतिसे विचरण किया करताहै। इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

सूर्य—अग्नि—विद्युत—चन्द्र—तारक—यह पांचो भूत ज्योतिएं चक्षुरिन्द्रिय पर अनुग्रह करती हैं। भूतोंद्वारा चक्षुपर प्रतिष्ठित होती हैं। तीसरी नामरूपात्मिका सत्य ज्योति है। घटमें घटत्व रहताहै। घटत्व विशेषणहै। घट विशेष्यहै। इस घट—घटत्वमें जो विशेष्य भागहै वह अमृततत्त्वहै। वह सबमें समानहै। केवल विशेषण भेदसे वह पृथक् प्रतीत होने लगताहै। नाम रूप द्वाराही वह अमृत तत्त्व 'अयं घटः—अयं पटः—अयं मनुष्यः, इत्यादिरूपसे पृथक् पृथक् प्रतीत होने लगताहै। घटत्व सम्बन्धसे वही अमृततत्त्व घट कहलाने लगताहै। पटत्व सम्बन्धसे वही पट कहलाने लगताहै। नामरूप द्वारा सर्वथा तिरोहित वह अमृत प्रकाशमें आजाताहै। अतः नाम-

रूप को ज्योति कहा जासकताहै। नामरूपात्मिका सत्यज्योतिने ही उस अमृतरूप विशेष्य प्राणको घेर रक्खाहै। इसी अभिप्रायसे श्रुति कहतेहै—

"तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नम्। प्राणोवाऽअमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः" (श० १४।३।२ इति।

ज्ञान–भूत–सत्य तीनों ही ज्योतियों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। तीनों का परस्पर में एक दूसरे पर अनुग्रह है। ज्ञानमय आत्मा जब तक शरीर में प्रतिष्ठित रहता है तभी तक भूतज्योति और सत्यज्योति का साक्षात्कार होता है। विना आत्मसत्ता के दोनों निरर्थक है। हृदयस्थ विज्ञानघन अन्तर्ज्योति ही ज्ञानज्योति है। यही आत्मा है। जब तक इसे भूतज्योति रूप अन्न मिला करता है तभी तक यह शरीर में प्रतिष्ठित रह सकता है। प्रकाश (भूतज्योति) के अभाव में यह ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा शरीर से उत्क्रान्त होजाता है। विदेह जनक के 'किं ज्योतिरयं पुरुषः ?' यह प्रश्न करने पर भगवान् याज्ञवल्क्य ने 'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः' यह समाधान किया है। वहां सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि–वाक्–आत्मा इन्हें पांच ज्योतिएं बतलाया गया है। इन पांचों में—सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि–वाक् यह ४ भूतज्योति हैं—आत्मा ज्ञानज्योति है। इस पक्ष में तारक और विद्युज्ज्योति का सूर्य्य में अन्तर्भाव है। कहना प्रकृत में यह है कि जबतक सूर्य्यसत्ता रहती है तबतक आत्मा कर्म्म करने में सन्नद्ध रहता है। साथ ही में सौर प्रकाश में वह भयावह स्थान में भी चला जाता है। सूर्य्यास्त होने पर चन्द्रज्योति का सहारा लेना पड़ता है। यदि चन्द्रमा नहीं रहता है तो अग्निज्योति (दीपक आदि प्रकाश के साधन) की अपेक्षा होती है। यदि अग्निज्योति का भी अभाव होता है तो वाग्ज्योति की अपेक्षा होती है। शून्य एवं भयावह

जंगल में अमावस की रात्रि में एकाकी मनुष्य भयभीत होजाता है । उस समय यदि उसके कान में किसी मनुष्य की आवाज आजाती है तो उसका भय दूर होजाता है । 'अग्निर्वाग भूत्वा मुखं प्राविशत्' इस औपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार वाक् (शब्द) साक्षात् अग्नि ज्योति है । अग्नि ही शरीर का बल है । बल की कमी से भय का संचार होताहै । वाक् द्वारा बल प्राप्ति होजाती है । भय की निवृत्ति होजाती है । पांचवी ज्योति आत्मा-ज्योति है । यदि कोई सहारा नही होताहै तो उस समय वह एकाकी मनुष्य 'मुझे किस का डरहै' इस प्रकार आत्मबल के सहारे निडर हो जाताहै । यदि किसीका आत्मा निर्बल होजाता है तो ऐसे समय में उसका आत्मा शरीरसे उत्क्रान्त होजाता है । यह पांचों ही ज्योतिएं सूर्य्यमूलक हैं। 'सूर्य्यआत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार आत्मज्योति का भी अन्न सूर्य्य-ज्योति ही है । यही कारण है कि हमारा आत्मा अन्धकार में घबड़ाने लगताहै । बिना भूतज्योति के यह ज्ञानज्योतिर्म्मय आत्मा कथमपि स्व स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । तीसरी है सत्यज्योति । नाम रूप को ही पूर्व में सत्यज्योति कहा है । नामरूप ही विषयका स्वरूपहै । संसारके पदार्थमात्र नामरूपात्मकहैं । ज्ञानज्योतिर्मय हमारा आत्मा इन नामरूपात्मक विषयों को लेकर ही 'अहं जानामि' 'अहं करोमि' इस प्रकारसे अपने आप को प्रकाशित करने में समर्थ होताहै । निर्विषयक ज्ञान (आत्म) नही के समानहै । बहिर्जगतके विषयों के साथ जब तक आत्माका सम्बन्ध रहता है तबतक जाग्रदवस्थाहै । अन्तर्जगत (सांस्कारिकजगत) के विषयों के साथ जबतक सम्बन्धहै तबतक इसकी स्वप्नावस्थाहै । जब दोनों ही विषयोंका अभाव होजाता है तब अपने आपमें अपीत होता हुआ यह सुषुप्ति में लीन होजाता है । इस से सिद्ध होजाताहै कि नामरूपात्मक सत्यज्योतिको लेकर ही ज्ञानज्योति स्वस्वरूपको प्रतिष्ठित करने में समर्थ होतीहै । इसी विज्ञान के आधार पर भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

नसोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्यपदी)

गो शब्द के सुनते ही हमारा ज्ञान गोरूपाकाराकारित होजाता है । एवं गोरूपको देखते ही हमारा ज्ञान 'गोशब्द' से आक्रान्त होजाताहै । विना नामरूप के किसी वस्तुका भी ज्ञान सम्भव नहीं है । ऐसी अवस्थामें ज्ञान–भूत–सत्य तीनों ज्योतियों को हम परस्पर अनुपक्त मानने के लिए तय्यार हैं ।

पूर्वोक्त तीनों ज्योतियों में ज्ञानज्योति ब्रह्मनिश्वसित वेदहै, जिसकाकि निरूपण पूर्वके उपलब्धिवेदप्रकरणमें कियाजाचुकाहै । यही पहिला ऋग्वेदहै । यही सबका उक्थ होनेसे महोक्थ है । महोक्थ ही ऋग्वेदहै । सूर्य्यज्योति-रूपा भूतज्योति गायत्री मात्रिकवेदहै । इसीको हमने पूर्व में यजुर्वेद कहा है । जैसे नामरूप सत्य कहलाते हैं वैसे ही अग्नि भी सत्य कहलाता है । इसीके लिए 'तद्यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या (श० ६।५।१।१८) यह कहाजाता है । यही यजुर्वेदहै । भूतज्योति अग्निस्वरूपहै । अग्नि पुरुष है । पुरुष यजुर्वेद है । तीसरी सत्यज्योति सामवेदहै । अवसान ही साम है । वस्तु की अन्तिम सीमा 'उद्दच' साम है । नामरूप ही वस्तुका अन्तिम अवसान है । अन्तिम स्वरूपहै । इस प्रकार ज्योति स्वरूप इस सामवेद में ही ज्ञान--भूत--सत्य भेद से तीनों वेदोंका उपभोग होजाताहै ।

१ ज्ञानज्योतिः = ब्रह्मनिश्वसितवेदः = ऋग्वेदः
२ भूतज्योतिः = गायत्रीमात्रिकवेदः = यजुर्वेदः } 'सोऽयं सामवेदे वेदत्रयोपभोग'
३ सत्यज्योतिः = अनन्तवेदाः = सामवेदः

प्रतिष्ठातत्व ऋग्वेदहै । आत्मतत्व यजुर्वेदहै । एवं ज्योति तत्व सामवेदहै । तीनोंमें तीनोंका उपभोगहै । इसी वेदत्रयीका नाम सच्चिदानन्दहै ।

ज्ञानमपरसम्बन्धि ज्ञानस्य स्मारकं भवति' इस न्यायके अनुसार उसी प्रकरणसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य प्रकरणका भी उल्लेख करदिया जाताहै। पुराणों मे ऐसी सप्रसंग संगति की भरमारहै। नवीन प्रकरणसे पहिले परिचयार्थ भूमिका लिखी जाती है। वही उपोद्घात संगति कहलातीहै। कारण प्रदर्शन हेतु संगति कहलाती है। अवसर प्राप्त क्रमिक कथन चौथी संगतिहै। निर्वाहकैक्यका प्रतिसंचर पक्षसे सम्बन्धहै। 'सर्वे पदार्थाश्चणकेन निर्म्मिताः' यह प्रतिसंचर पक्षहै। सर्व उद्देश्यहै। चणक विधेयहै। उद्देश्य अनेकहों, विधेय एकहो यही प्रतिसंचरपक्षहै। छठी संगतिका संचरपक्षसे सम्बन्धहै। 'चणकेन सहस्रशः पदार्थाः सम्पद्यन्ते' यह कार्य्यैक्य संगतिहै। चणक उद्देश्यहै। सर्व विधेयहै। एक उद्देश्यहो—नाना विधेयहों वही संचर पक्षहै। इस प्रक संगति छै प्रकारसे होतीहै।

१ प्रसंग संगतिः = 'एक सम्बन्धि ज्ञानमपरसम्बन्धिज्ञानस्य स्मारकं भवति'
२ उपोद्घातः = भूमिका
३ हेतुता = कारणप्रदर्शनम्।
४ अवसर = अवसरप्राप्ता क्रमबद्धोक्तिः।
५ निर्वाहकैक्यम् = प्रतिसंचरः पक्षः यथा 'सर्वे पदार्थाश्चणकेन निर्मिताः।'
६ कार्यैक्यम् = संचरः पक्षः—यथा 'चणकेन सहस्रशः पदाथाः संपद्यते।'

इन ६ ओं संगतियों में से प्रकृतके आख्यानमें उपोद्घात संगतिहै। कृष्णमृगचर्म्मकी यज्ञता सिद्ध करनी है। तदर्थ 'यज्ञो वै कृष्णो भूत्वा' इत्यादि रूपसे भूमिका बांधी गईहै।

यज्ञकी सर्वताके लिए प्रकृतमें कृष्णमृगचर्मका ग्रहण किया जाताहै। अतः सबसे पहिले यही विचार करना चाहिए कि यज्ञ कहते किसेहैं। भिन्न भिन्न ऋषियोने यज्ञके भिन्न भिन्न लक्षण किएहैं। उन सब लक्षणोके

निरूपणका प्रकृतमें अवसर नहीं है। केवल दो एक लक्षण—समझलेना ही पर्य्याप्त होगा। ऐतरेयके अनुसार यज्ञका 'वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः' यह लक्षणहै। एवं यजुर्वेदके अनुसार 'अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः' यह लक्षणहै। मन प्राण वाककी समष्टि आत्माहै। यह आत्मा यज्ञके प्रभावसे महिमाशाली वनजाताहै। यज्ञसे ही आत्मा सशरीरी बनता हुआ वित्तादिसे युक्त होजाताहै। 'एकोऽहं बहुस्याम' के अनुसार आत्माके मन भागसे कामनाका उदय होताहै। कामनाके द्वारा प्राणव्यापाररूप तप होताहै। अनन्तर वागव्यापाररूप श्रम होताहै। श्रमानन्तर उसे अन्य वस्तुकी प्राप्ति होतीहै। प्राप्त होने वाली वस्तुभी मन प्राण व मयहीहै। इसके आगमन से उस आत्माका आयतन बढ़जाताहै। इस प्रकार उत्तरोत्तर-वृद्धि होती जाती है। इस वृद्धिसे आत्मा सशरीरी बन जाताहै। चित्त(मन) और वाक्—प्राणकी वर्त्तनी (पगडण्डी) है। प्राण व्यापार द्वारा मन वाक् का उत्तरोत्तर चयन होता जाताहै। यही यज्ञहै। हम अन्न खातेहैं। दूसरे शब्दोंमें शरीराग्निमें अन्नात्मक सोमकी आहुति देतेहैं। आहुत सोम ऊर्क् रूपमें परिणत होजाताहै। ऊर्क आगे जाकर प्राणरूपमें परिणत होजाताहै। प्राणके आकर्षणसे पुनः अन्नका आगमन होताहै। इस प्रकार अन्न ऊर्क प्राणका परस्परमें अनुग्रह होतारहताहै। इसी प्रक्रियाका नाम यज्ञहै। 'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः' यही निष्कर्ष है। सारा विश्व समष्ट्या व्यष्ट्या उभयथा यज्ञरूपहै। सूर्य्य अग्निमयहै। इसमें निरन्तर पारमेष्ठ्य सोमकी आहुति होती रहती है। इसी आधारपर भगवान याज्ञवल्क्य कहतेहैं—

"सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्। तद्यदेतस्या अग्रऽआहुतेरुदैत् तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम्" (श० २।३।१।१) इति।

'चित्रंदेवानामुदगात्' के अनुसार सूर्य्य देवग्राम बनाहै। सौरयज्ञ दूसरे शब्दोंमें सौर मण्डल देवमयहै। सृष्टि क्रमके अनुसार पृथिवी सूर्य्यका उप-

होती रहती है। अंगिरास्वरूप गायत्राग्नि पृथिवीसे निकलकर द्युलोक पर्य्यन्त जाया करताहै इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर वेदमहर्षि कहतेहैं—

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा यथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ अथर्वस.१८का.१।६१म ।

यह एक प्रकारसे सौराग्नि का पृथिवीमें आगमन हुआ। वहिर्य्याम सम्बन्धसे भी सौराग्निका आगमन होताहै। सौराग्नि पृथिवीपर आताहै। एवं पृथिवी से टकराकर वापस चला जाताहै। उस अग्नि से 'अश्व' का स्वरूप निष्पन्न होताहै। पृथिवी पृष्ठसे द्यौतक सारे त्रैलोक्यमें अश्व खड़ा है। इन दोनों अग्नियोंमें से प्रकृतमें गायत्राग्नि से ही हमारा सम्बन्धहै। 'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' के अनुसार पृथिवी में अग्निकी प्रधानताहै। सूर्य्यमें इन्द्रकी प्रधानताहै। 'इन्द्रो रूपाणि करीकृदच-रत्' 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' के अनुसार इन्द्र रूपके अधिष्ठाताहैं। अतएव सौराग्निका हमें प्रत्यक्ष होजाताहै। परन्तु वही सौराग्नि पृथिवीमें आकर इन्द्र संपत्तिसे वियुक्त होताहुआ कृष्णरूप धारण करलेताहै। पार्थिव पदार्थमात्र अग्निमयहै। परन्तु सर्वत्र अग्नि प्रतिमूर्च्छित होरहाहै। दूसरे शब्दोंमें दिव्य सौर मण्डलसे आया हुआ यज्ञाग्नि कृष्णरूपमें परिणित होरहाहै। सो रहाहै। अग्निकी इसी कृष्णावस्थाका निरूपण करतेहुए वेद महर्षि कहतेहैं—

शेषे वनेषु मात्रोः स त्वा मर्त्तास इन्धते ।
अतन्द्रो हव्या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि ॥ ऋ.सं.८मं.६०सू.१५मं.

काष्ठरूप माताकी गोदमें अग्नि सोरहाहै। मरण धर्मामनुष्य उस सुप्त अग्निका समिन्धन करतेहैं। उसे जगातेहैं। जगनेके अव्यवहितोत्तर कालमें ही वह हविसंपादन करनेवाला अग्नि तन्द्रारहित होकर हव्य वहन करने

लगताहै । एवं अनन्तरही देवताओं में (सूर्य्यमण्डलमें—अपने लोकमें) चम-कने लगताहै—मन्त्रका यही अर्थहै । काष्ठमें अग्निहै । परन्तु हम उसे नहीं देखरहे । वह हमारेलिए कृष्णहै । हमारेलिए वह मृग्यमाणहै । खोजेंगे तब मिलेगा । बस मृग्यमाण होनेसेही यह पार्थिव गुप्त किंवा प्रतिमूर्च्छित अग्नि 'कृष्णमृग' कहलाताहै । साराभूमण्डल कृष्णमृगहै । यह साक्षात् यज्ञहै । क्योंकि यज्ञात्मक सौर अग्निही तो देवताओंसे अपक्रान्त होकर कृष्णमृग रूपमें परिणत हुआहै । पृथिवी में सौराग्नि प्रविष्ट हुआ । पृथिवीका आत्मा बना । वही कृष्णमृग कहलाया यह सिद्ध होचुका । यह कृष्णमृग साक्षात् त्रयी विद्याहै । इस पार्थिव वेदको यज्ञमात्रिक वेद' कहा जाताहै । भूमण्डल 'अग्निर्भूस्थानः' (या० नि०) के अनुसार अग्निमयहै । इसमें अग्नि प्रकट नहीं हैं अपितु गर्भमें है । इसी आधारपर 'यथाग्नि गर्भा पृथिवी' (शत० १४) यह कहा जाताहै । पृथिवीके गर्भमें रहनेवाला अग्नि प्रतिमूर्च्छित होनेसे कृष्णहै एवं मृग्यमाण होनेसे मृगहै । पृथिवी-स्तर उस कृष्णमृगका चर्म्महै । इसी आधारपर 'तस्य (अग्नेः) एष स्वोलोको यत् कृष्णाजिनम्'(श० ६।४।२।६)'इयं(पृथिवी)वै कृष्णाजिनम्'(श.६।४।१।६) यह कहाजाताहै । यह कृष्णाजिन यज्ञरूपहै। दूसरे शब्दोंमें कृष्णमृग यज्ञस्वरूप है । अग्निमें सोमकी आहुति होनाही यज्ञहै यह पूर्वमें कहागयाहै । पार्थिवअग्नि अमृत मर्त्य भेदसे दो प्रकारकाहै । अमृताग्नि प्राणाग्निहै । यही देवताहै । मर्त्याग्नि भूताग्निहै । पृथिवी पिण्ड भूतहै। पृथिवी पिण्डमें रहनेवाला मृग-रूप प्राणाग्नि देवताहै । यह अग्निरस पृथिवीमें से निकलकर अपना बड़ी दूरतक एक मण्डल बनाताहै जैसाकि पूर्व प्रकरणों में कई स्थलोंपर बत-लाया जाचुकाहै । यह अग्नि पृथिवी में से निकलकर सप्तदश स्तोम पर्यन्त व्याप्त रहताहैं । उसी १७ के ऊपर सोमहै । उस सोमकी सप्तदश स्थानीय अग्निमें आहुति होती है । इसी आहुति के कारण सप्तदश स्थानीय अग्नि-

को 'आहवनीयाग्नि' कहा जाताहै। इसमें आहुत होनेसे वह अग्नि एकविंश स्तोमतक व्याप्त होजाताहै। बस इसी यज्ञके द्वारा वह अग्नि २१ तक वितत होजाताहै अतएव इस अग्नि सोमात्मक यज्ञको वितान यज्ञ कहाजाताहै। त्रिवृत स्तोमपर्य्यन्त अग्निहै। यहांतक ऋग्वेदकी व्याप्तिहै। पञ्चदश तक वायुहै यहांतक यजुर्वेदकी व्याप्तिहै। २१ तक आदित्यहै। यहांतक सामवेदकी व्याप्तिहै। 'वेदाः सप्तम' के अनुसार वेद सप्त तत्वहै। यह वेद अग्नि स्वरूपहै। इसी यज्ञ द्वारा इस सप्त वेदका वितान होताहै। दूसरे शब्दोंमें वह सप्तवेद यज्ञद्वारा त्रैलोक्यमें (स्तोम त्रैलोक्यमें) व्याप्त होजाता है। इसी आधारपर "तद्वत तत सर्वं त्रयी सा विद्या। ते देवा अब्रुवन् यज्ञ कृत्वेदं सर्वं तनवामहै" (श० १० कां० ५ अ० १ ब्रा० १८ कं०) यह कहाजाताहै। यह त्रयीमययज्ञ कृष्णमृगहै इसी आधारपर 'यज्ञो हि कृष्णः। स यः स यज्ञस्तत कृष्णाजिनम्' (श० ३।२।१।२८) यह कहा जाताहै। पार्थिव अग्निमय ऋग्वेद मूलमें है। दिव्य आदित्यमय सामवेद अन्तमें है। एवं आन्तरिक्ष्य वायुमय यजुर्वेद मध्यमें है। पार्थिवाग्निमें कृष्णरूपकी प्रधानताहै। क्योंकि यहां रूपाधिष्ठाता इन्द्रका अभावहै। यह अग्नि कृष्णहै अतएव तत्सम्बन्धी पार्थिव ऋग्वेदको हम अवश्यही कृष्ण कहनेके लिए तय्यारहैं। आदित्य इन्द्रात्मक होनेसे ज्योतिर्मयहै। अतएव तत्सम्बन्धी सामवेदको अवश्यही शुक्ल कहा जासकताहै। शुक्ल और कृष्णकी सन्धिमें हरितरूपका प्रादुर्भाव होजाताहै। इधर यजुर्वेद वायव्य होनेसे सान्ध्यहै अतः हम यजुर्वेदको हरित माननेके लिए तयारहैं। इसप्रकार प्रकृतिके पार्थिव यज्ञात्मक इस कृष्णमृगचर्म्मकी त्रयीमयता भली नि सिद्ध होजाती है। इसीके आधारपर यज्ञनिष्पन्न होताहै। त्रयी वेदस्वरूप त्रैलोक्य व्यापक यही कृष्णमृग यज्ञकी आधार भूमिहै। भूपिण्ड कृष्णमृगहै। एवं महिमा भाग चर्महै दूसरे शब्दोंमें २१ (एकविंश) स्तोम पर्य्यन्त व्याप्त महापृथिवी चर्म्महै। इसीमें ९-१५-२१ इस क्रममें वेदत्रयी

का उपभोगहै। यही यज्ञ मण्डलहै। सौर यज्ञ भूस्वरूपसे सौर देवताओंसे अपक्रान्त होकर कृष्णमृग बनकर विचरने लगाथा। सूर्य्यसे पृथिवीरूप कृष्णमृग प्रवृत्तहोकर क्रान्तिवृत्तपर घूमने लगाथा एवं आजभी घूम रहाहै। देवता उसे तो न लेसके किन्तु अपने यज्ञकी सर्वताके लिए उन्होंने उसकी त्वचाको उखाड़ लिया। तात्पर्य्य इसका यहीहै कि महिमा पृथिवी में व्याप्त त्रयीवेदात्मक प्राणयज्ञका ही सौर मण्डलसे सम्बन्ध होताहै। पृथिवी पिण्डतो अपनेही स्थानपर घूमताहै। इस कृष्णमृगको देवता प्राप्त नहीं करसकते। इसका चर्म्ममात्र उन्हें मिलताहै। इसी सारे गुहानिहित विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर भगवान याज्ञवल्क्य कहतेहैं—

"अथ कृष्णाजिनमादत्ते—यज्ञस्यैव सर्वत्वाय। यज्ञो ह देवेभ्यो (सूर्य-मण्डलात्) ऽपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य त्वच-मेवावच्छाय आजह्रुः। तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां साम्नां च रूपम्। यानि शुक्लानि तानि साम्नां रूपम्। यानि कृष्णानि तान्यृचाम्" इति।

'ऋङ्मूर्त्तिर्मण्डलं साम' के अनुसार मूर्त्ति ऋग्वेदहै एवं मण्डल सामहै। मण्डल द्युलोकहै। मूर्त्ति पृथिवी लोकहै। दोनोंका अन्तराल अन्तरिक्षहै। इस भावमें मूर्त्तिरूपा पिण्डपृथिवी ऋग्वेदहै। यह कृष्ण वर्णहै। मण्डलरूपा महापृथिवी द्यौ है। यह सामवेदहै इसका इन्द्रज्योतिके कारण शुक्ल-रूपहै। मध्यपतित आन्तरिक्ष्य यजु हरितवर्ण है। वषट्कार मण्डलका निरूपण करतेहुए पूर्व में बतलायाहै कि प्रत्येकवस्तुपिण्डका जो बहिर्मण्डलहै वही वषट्कार कहलाताहै। बहिर्मण्डल वाङ्मय होताहै। उस वाक् तत्वके ६–१५–१७–२१–२७–३३ इसप्रकार ६ स्तोम होतेहै। वाक्के यह षट्कारही वषट्कारहै। वषट्कारकी अन्तिम सीमातक उस वस्तुकी

सत्ता मानीजाती है। इस वषट्कारात्मिका महापृथिवी में त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–त्रयस्त्रिंश भेदसे क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष–द्यौ–आप–इन चारो लोकोंकी सत्ता मानी जाती है। चतुर्लोकात्मिका यह महापृथिवी ही यज्ञपरिभाषामें महावेदि नामसे प्रसिद्ध है।

'वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन्।

वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीं सा पप्रथे पृथिवी पार्थिवानि।

गर्भं बिभर्त्ति भुवनेष्वन्तस्ततो यज्ञो जायते विश्वदानिः'

(तै० ब्रा० ३।३।९) के अनुसार

वेदकेद्वारा प्राप्त होनेके कारणही यह पृथिवी वेदी कहलातीहै। वेदिही वेदकी प्रतिष्ठाहै। सूर्य्यमण्डलस्थ ज्योतिर्म्मय देवताओंसे तिरोहित होनेवाली कृष्णामृगरूपा यह पृथिवी वेदद्वाराही प्राप्त होतीहै। इस वेदीमें मूर्त्ति और मण्डलके अपेक्षा भेदसे ऋक साम दोनोंही शुक्ल कृष्ण भेदसे दो दो स्वरूप धारण करलेतेहैं। यदि त्रिवृत स्तोमतक मूर्त्ति मानी जाती है एवं २१ तक महिमा मानी जाती है तो ऋक् कृष्णहै। क्योंकि त्रिवृत पर्य्यन्त पृथिवीका पनिस्विक कृष्णरूप रहताहै। एवं २१ तक मण्डल माना जाताहै तो साम शुक्ल होजाताहै। क्योंकि 'एक विंशो वा इत आदित्यः' के अनुसार पृथिवी के २१ वें अहर्गणपर (जोकि स्थान रथन्तर साम कहलाताहै) सूर्य्यहै। सूर्य सम्बन्धसे वहांका साम शुक्लहै। यदि २१ तक मूर्त्ति मानी जाती है तो मूर्त्ति रूप ऋग्वेद शुक्लहै। एवं ऊपरका ३३ तक व्याप्त रहनेवाला आपोमण्डल किंवा सोममण्डल सामवेदहै। यह तत्त्व सर्वथा कृष्णहै। अतः वह सामभी कृष्णहै। यजु दोनो ही पक्षोंमें सान्ध्य होनेसे हरितहै। बस इसी मूर्त्ति और मण्डलके अपेक्षा भेदको लेकर श्रुति कहती है—

'यदि वा इतरथा—यानि कृष्णानि तानि साम्नां रूपम्। यानि शुक्लानि तान्यृचाम्। यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषां रूपम्'।

सूर्य्यरूप गायत्री मात्रिक वेदमें भी यही अवस्था समझनी चाहिए। सूर्य्यमें भी पिण्ड और महिमाहै। केन्द्रमें सूर्य्य पिण्डहै। उसके बाहर २१ तक हिरण्यमय मण्डलहै। २१ के बाहर ३३ तक पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डलहै। उसके बाहर ३४ वेंसे वेद मण्डलहै। इसीको 'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः' के अनुसार प्राजापत्य मण्डलभी कहा जाताहै। 'आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानः' के अनुसार सूर्य्यपिण्ड घोर कृष्णहै। आप जो सूर्य्यमें प्रकाश देख रखे हैं वह सोमाहुति का प्रभावहै। सौराग्नि दाह्यहै। पारमेष्ठ्य सोम दाहकहै। इस दाहक सोमकी दाह्य अग्निमें आहुति होती है। इसी से प्रकाशका जन्म होताहै। 'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' के अनुसार प्रकाश सोमाहुति की महिमाहै। निष्कर्ष यही हुआकि सूर्य्यपिण्ड घोर कृष्णहै। सूर्य्यके २१ वें स्तोम तक व्याप्त हिरण्मय मण्डल ज्योतिर्मयहै। शुक्लहै। पुनः ३३ तक व्याप्त आपोमण्डल किंवा सौरमण्डल कृष्णहै। क्योंकि अग्निवत् सोमभी कृष्णही है। न अग्निमें प्रकाशहै, न सोममें प्रकाशहै। प्रकाशहै दोनोंके समन्वयमें। ३३ के बाहरका वेदमण्डल ज्योतिर्मय (ज्ञानज्योतिर्मय) होनेसे शुक्लहै। इसप्रकार पिण्ड—२१—३३—३४—४८इन चार संस्थाओंके कारण सूर्यमें—कृष्ण—शुक्ल—कृष्ण—शुक्ल—यह चार स्वरूप होजातेहैं। ज्यों ज्यों हम वस्तुसे आगे बढ़ते जातेहैं त्यों त्यों उसका स्वरूप छोटा दिखाई देने लगताहै। इसका कारण यहीहै कि उस वस्तुके व्यासार्द्धसे सूचीमुख होताहुआ ऋक् तत्व वर्गमूलके कारण उत्तरोत्तर तीन तीन बिन्दु छोटा होता जाताहै। अतएव वस्तुस्वरूप भी उत्तरोत्तर छोटा होता जाताहै। प्रत्यक्ष हमें इसी ऋक्का होताहै। दूसरे शब्दों में ऋक्ही वस्तुमूर्त्तिके प्रत्यक्षका कारणहै अतः ऋक्को अवश्यही मूर्त्ति कहा जासकताहै।

इस ऋक्की व्याप्ति ३३ तक रहतीहै। ३३ पर मूर्त्तिरूपा ऋक् बिन्दुमात्र रहजाती है अतएव वहांके सामको निधनसाम किंवा उद्गसाम कहाजाताहै। पूर्वमें ऋक् रहताहै। आगे उसीकी समानतासे साम रहताहै। जिस स्थान-पर खड़े रहनेसे वस्तुका जो आयतन आप देखरहेहैं, वहां खड़े होकर उस वस्तुको केन्द्रमें मानतेहुए आप अपने स्थानसे एक मण्डल बनाइए। वह मण्डल साम कहलावेगा। उस मण्डलपर खड़े रहनेवाले सभी मनुष्योंको उस वस्तुका उतनाही बड़ा आयतन दिखलाई देगा, जितनाकि आपको दिख-लाई देरहाहै। ऋक्के समानही सामात्मक मण्डलकी व्याप्ति होती है। अतएव सामका 'ऋचा समं मेने तस्मात साम' यह लक्षण किया जाताहै। इससे बतलाना हमें यहीहै कि मूर्त्ति ऋग्वेदहै। मण्डल सामवेदहै। साथही में पूर्व मण्डल उत्तर मण्डलकी अपेक्षा मूर्त्तिहै। यह ऋग्वेदहै। आगेका मण्डल सामहै। उसमेंभी आगेका मण्डल अपने आगेके मण्डलकी अपेक्षा ऋक्है। इसप्रकार मूर्त्ति और मण्डल की अपेक्षासे ऋक् साम धारा वाहिक रूपसे व्याप्त रहतेहैं। ऐसी अवस्थामें कृष्णा सूर्य्य पिण्डको जब हम मूर्त्ति मानतेहैं एवं २१ पर्य्यन्त हिरण्मय भागको मण्डल मानतेहैं तो ऋग्वेद कृष्ण होजाताहै। सामवेद शुक्ल होजाताहै। यदि २१ तक मूर्त्ति मानते हैं। ३३ तक मण्डल मानतेहैं तो ऋग्वेद शुक्ल होजाताहै—सामवेद कृष्ण होजा-ताहै। यदि ३३ तक मूर्त्ति मानते हैं—४८ तक मण्डल मानतेहैं—तो ऋग्वेद पुनः कृष्ण होजाताहै—सामवेद शुक्ल होजाताहै। इसप्रकार मूर्त्ति और मण्डलके अपेक्षाकृत भेदसे दोनों भाव उत्पन्न होजाते है। सूर्य क्या तप रहाहै साक्षात त्रयी विद्या तप रही है। इसी आधारपर 'सेषा त्रयी विद्या तपतीति' (श० १० यह कहा जाताहै। आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डलके केन्द्रमें रहनेवाले त्रयीमय नारायण श्वेतद्वीप निवासी यही सूर्य्यदेवहैं। आगेके चित्रसे पूर्वोक्त ऋक सामका स्वरूप स्पष्ट होजाताहै।

सैषा त्रयी विद्या तपति ।

सूर्य प्रतिकृतिः ।

सैषा सूर्य सम्बन्धिनी लोक संस्था ।

यज्ञमात्रिक वेदमयी पृथिवी, एवं गायत्रीमात्रिक वेदमय सूर्य्यसे सम्बन्ध रखनेवाले वेदस्वरूपका संक्षिप्त निदर्शन होचुका। अब सम्पूर्ण विश्वके साथ वेदत्रयीके उपभोगका सम्बन्ध बतलातेहैं। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रोपलक्षित अन्तरिक्ष–पृथिवी–यह पांचों ईश्वर प्रजापतिकी पांच कलाएं हैं। इन पांचोंकी समष्टि ईश्वर प्रजापतिहै। दूसरे शब्दोंमें पांचोंकी समष्टि विश्वहै। एवं 'अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्' के अनुसार पांचोंमें प्रविष्ट रहनेवाला षोडशी पुरुष इस पञ्चात्मय विश्वका आत्माहै। पञ्चकलात्मक विश्व–प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नाद–इन पांचोंके सर्वहुत

यज्ञसे उत्पन्न हुआहै। अतः सम्पूर्ण विश्वको हम यज्ञरूप कहनेकेलिए तय्यारहैं। इसी विश्व यज्ञको 'सर्वहुतयज्ञ' कहाजाताहै। इसके स्वयम्भू–परमेष्ठी–आदि पूर्वोक्त पांच अवयवहैं। इसी आधारपर 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' यह प्रामाण्य वचन प्रचलितहै। इस सर्वहुत यज्ञस्वरूप विश्वकी प्रतिष्ठाभी वही वेदहै। वेद मौलिक तत्वहै। यज्ञ यौगिक तत्वहै। एवं मौलिक तत्वही यौगिक तत्वका प्रभवहै। इन पांचोंमें स्व० पर० अमृत प्रधानहै। 'तस्मायत्किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' (श० १०।५।१।४) के अनुसार सूर्य्यसे नीचेके पृथिवी और चन्द्रमा मर्त्यहैं। एवं मध्यस्थ सूर्य्य 'निवेशयन्नमृतंमर्त्यंच' (यजुः संहिता) के अनुसार अमृतभी है, मर्त्यभी है। ऊपरके अमृत मण्डलके साथभी अमृत सूर्यका सम्बन्धहै, नीचेके मर्त्यमण्डलके साथभी मर्त्य सूर्यका सम्बन्धहै। आत्माको षोडशी कहाजाताहै। पञ्चकल अव्यय, पञ्चकलक अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, परात्परकी समष्टि षोडशी पुरुषहै। इसमें अव्यय भाग परब्रह्म कहलाताहै। क्षरभाग अवरब्रह्म कहलाताहै। एवं मध्यस्थ अक्षर भाग क्षरकी अपेक्षा पर, अव्ययकी अपेक्षा अवर होनेसे परावरब्रह्म कहलाताहै। पर–अवर०परावरात्मक आत्मा पूर्वोक्त पञ्चपर्वा विश्वमें व्याप्त रहताहै अवश्य। परन्तु स्व० पर० रूप अमृत भागमें आत्माके पर भागकी (अव्ययकी) प्रधानता रहतीहै अतः विश्वका यह भाग उपनिषदोंमें 'परब्रह्म' नामसे व्यवहृत होताहै। पृ० च० इन दोनोंमें आत्माके अवरभागकी (क्षरकी) प्रधानता रहती है, अतः यह भाग अवर ब्रह्म कहलाताहै। एवं अमृतमर्त्यात्मक मध्यस्थ सूर्यमें आत्माका परावरभाग (अक्षर) प्रधान रहताहै, अतः सूर्य्यको 'परावरब्रह्म' मानाजाताहै। पृथिवी पृथिवी है, यह अन्नादमयी है। चन्द्रमा अन्तरिक्षहै, यह अन्नमयहै। सूर्य्य द्यौ लोकहै, यह वाङ्मयहै। परमेष्ठी आपोलोकहै, यह आपोमयहै। स्वयम्भू वेदलोकहै–दूसरे शब्दोंमें वाक् लोकहै। यह वाङ्मयहै।

१ वाक्=स्वयम्भू=प्राणमयः	परब्रह्म	ईश्वरप्रजापतिर्यज्ञमूर्त्तिः
२ आपः=परमेष्ठी=आपोमयः		
३ द्यौः=सूर्यः=वाङ्मयः	परावरब्रह्म	
४ अन्तरिक्षम्=चन्द्रमा=अन्नमयः	अवरब्रह्म	
५ पृथिवी=पृथिवी = अन्नादमयी		

इन पांचोमें पृथिवी कृष्णाहै। द्यौ शुक्लाहै। मध्यका अन्तरिक्ष सांध्य होनेसे हरितहै। एवं आप (परमेष्ठी) कृष्णाहै। वाक् (स्वयम्भू) शुक्लाहै। यदि पृथिवीको मूर्त्ति मान कर द्यौको महिमामण्डल मानाजाताहै तो पूर्व कथनानुसार मूर्त्तिरूप ऋग्वेद पार्थिव होनेसे कृष्णाहै। मण्डलरूप साम वेद दिव्य होनेसे शुक्लहै। मध्यका आन्तरिक्ष्य यजु हरितहै यदि द्युलोक पर्य्यन्त (सूर्य्यपर्य्यन्त) मूर्त्ति एवं परमेष्ठी पर्य्यन्त महिमा मानी जाती है तो मूर्त्तिरूप ऋग्वेद द्यौस्थानीय होनेसे शुक्लहै। एवं मण्डलरूप सामवेद आपस्थानीय होनेसे कृष्णहै। मध्यमें यजुहै। यदि आपोमय परमेष्ठी पर्यन्त मूर्त्ति और वेदमय स्वयम्भू पर्य्यन्त महिमा मानी जातीहै तो मूर्त्तिरूप ऋग्वेद आपस्थानीय होनेसे कृष्णाहै। एवं मण्डलस्वरूप सामवेद स्वयम्भू स्थानीय होनेसे शुक्लहै—

१ स्वयम्भू =वाक्=वेदा =प्राण =शुक्ल —यानि शुक्लानि तानि साम्नाम्

२ परमेष्ठी=आप =आप =आप कृष्णा यानि कृष्णानि तानि साम्नाम्, या कृ तान्यृचाम्

३ सूर्य्य =अग्नि =द्यौ = वाक्=शुक्ला=यानि शुक्लानि तानि साम्नाम, या शु तान्यृचाम्

४ चन्द्रमा =आप =अन्त =अन्नम् बभ्रूणिव हरीणि तानि यजूंषि

५ पृथिवी=वाक्=पृथि =अन्नाद =कृष्णाम्=यानि कृष्णानि तान्यृचाम्

कृष्णमृगचर्म्म त्रयी विद्यामयहै, यह पूर्वके प्रकरणसे भली भांति सिद्ध होजाताहै। वास्तवमें त्रयी विद्याही कृष्णमृगचर्म्म की प्रतिष्ठाहै।

पृथिवी यज्ञमयी है। यही यज्ञ सौर देवमण्डलसे उत्क्रान्त हुआथा। इसकी प्रतिष्ठा वही वेदथा। इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं—'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः'—

हौत्र, औद्गात्र, आध्वर्यव, भेदसे यज्ञेति कर्त्तव्यता तीन भागों में विभक्तहै। होता का कर्म्म हौत्रहै। उद्गाता का कर्म्म औद्गात्रहै, एवं अध्वर्युकी इति कर्त्तव्यता आध्वर्यहै। होता शस्त्र करताहै, उद्गाता स्तोत्र करताहै, अध्वर्यु ग्रह करताहै। शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह तीनोंके समन्वयसे यज्ञ स्वरूप निष्पन्न होताहै। शस्त्र ऋग्वेदसे होताहै। इसका अधिष्ठाता ऋग्वेदी होताहै। स्तोत्र सामवेदसे होताहै। इसका अधिष्ठाता सामवेदी उद्गाताहै। ग्रह यजुर्वेदसे होताहै, इसका अधिष्ठाता यजुर्वेदी अध्वर्युहै। ऋग्वेद अग्नि स्थानीयहै। यजुर्वेद वायुस्थानीयहै। सामवेद द्युस्थानीयहै। पार्थिव त्रैलोक्याग्निमें सोमाहुति होनाही यज्ञहै। यह यज्ञ कृष्णमृगहै। इसकी प्रतिष्ठा शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह-स्वरूप संपादक ऋग-यजुः-सामही है। ऋक-साम-वाक प्रधानहै। दोनोंसे आत्माका वाक भाग सपन्न होताहै। यजु प्राण प्रधानहै। इससे प्राण भागकी निष्पत्ति होती है। एवं त्रयीवेदमूर्ति ब्रह्मा मनके स्वरूपका संपादन करताहै। इसप्रकार त्रयी विद्याके आधारपर सोमाहुति द्वारा मन प्राण वाङ्मय यज्ञात्मा किंवा दैवात्मा निष्पन्न होजाताहै। जैसाकि प्रथम वर्षके प्रथमाङ्कम विस्तारसे बतलाया जाचुकाहै। इसी सारे विज्ञानके आधारपर हम यज्ञके लिए अवश्यही 'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः' यह कहसकतेहैं।

प्रजापति शिल्पी है। नया नया शिल्प तय्यार करना उसका नित्य-कर्म्महै। अपने आत्माको नए ढंगसे संस्कार करना ही शिल्प कहलाताहै। प्रजापतिने इसी आत्मसंस्कार रूप विश्वशिल्पसे उसीप्रकार अपने आपको संस्कृत कर रक्खाहै जैसे कि प्रजापति अंशभूत जीवात्माने शरीरावच्छिन्न होकर नाना संस्कार शिल्पों से अपने आपको संस्कृत कर रक्खा है। सारा

विश्व उसका संस्कार है। सूर्य–चन्द्र–पृथिवी–आदि सब उसके शिल्पहैं। असंस्कृत प्रजापति शुद्धरूपमे परिणत होता हुआ विश्वातीतहै। मनकी कामनासे–प्राणके तपसे–वाक्के श्रममे नए नए पदार्थ बनाकर उनको अपने आप पर प्रतिष्ठित करता हुआ आज वह शिल्पी विश्वका अध्यक्ष बन रहाहै। सूर्य चन्द्रादि आत्मसंस्कृति हैं। यही शिल्प है। इसी आधार पर 'आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि' (गो० ब्रा० उ० ६।७) यह कहा जता है। विश्वस्वरूप संपादक सर्वहुत यज्ञद्वारा जैसे महाप्रजापति (ईश्वर) आत्मसंस्कार रूप नए नए शिल्पका निर्म्माण करता रहताहै उसीप्रकार अपने वैध-यज्ञ द्वारा यह क्षुद्र प्रजापति (यज्ञकर्त्ता यजमान) भी मन–प्राण–वाक् द्वारा शस्त्र–स्तोत्र–ग्रह रूप वेदत्रयी से आत्मसंस्कार रूप नये दिव्यात्माका निर्माण कर उससे अपने आत्माका (मानुषात्मा) संस्कार करडालता है। इसी आधार पर—

'आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि, छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते' (ऐ० ब्रा० ६।२७) यह कहा जाता है। वास्तवमें आत्म सम्कृति ही शिल्पहै। चित्रकार पहिले अपने मानस पटलपर चित्र बनाताहै। अनन्तर उसे बहिः पटलपर खचित करताहै। अन्तर्जगतके चित्रसे उसका आत्मा संस्कृत होजाताहै। वासना भावनारूप कर्म्म–ज्ञान जनित संस्कार शिल्पहैं। इन्हीसे आत्मा संस्कृत होरहाहै। मन, वाक्, प्राण, तीनोंमे; मन वाक् पङ्गु है। प्राण गति शीलहै। प्राणके आधार पर मन-वाक् आगे चलते हैं। मध्यस्थ प्राण-मनका भी संचालन करताहै; वाक्का भी संचालन करता है। प्राण व्यापारही मुख्य है। इसीके तपसे नवीन वस्तुका निर्म्माण होताहै। अतः 'प्राणाः शिल्पानि' (कौ० ब्रा० २५।१२।१३) के अनुसार प्राणोंको ही शिल्प मान लिया जाता है। यह शिल्प अनुरूप–प्रतिरूप भेदसे दो प्रकारकाहै।

(((((इन रेखाओंका परस्परमें जो सम्बन्धहै वह अनुरूप कहलाताहै। एव))))) इनकाभी परस्परका सम्बन्ध अनुरूपही कहलाताहै। दोनों स्वतन्त्ररूपसे अनुरूपहैं। परन्तु दोनोंमें एक दूसरेके साथ जो सम्बन्धहै वह प्रतिरूप सम्बन्ध कहलाताहै। पूर्वरूपका उत्तररूप प्रतिरूप है। उत्तररूपका पूर्वरूप प्रतिरूपहै। एव दोनोंका समुच्चय अभिरूपहै। अर्थात् दोनोंका परस्परका सम्बन्ध अभिरूप कहलाताहै। अभिरूप सौन्दर्यहै। शिल्प वही सुन्दर होताहै जिसमें दो प्रतिरूप शिल्पोंका सम्बन्धहो।

मनुष्य वही सुन्दर कहलाताहै जिसके शरीरके दक्षिण वाम भाग परस्परमें प्रतिरूप होते हैं। जैसा आकार वाम भागका होताहै वैसाही यदि दक्षिण भागका होताहै तभी सौन्दर्यका विकास होताहै। दहिनी आंखसे बांई आख दहिने कपोलसे वाम कपोल दक्षिण नासिकासे वाम नासिका इसप्रकार एक दूसरेके ठीक प्रतिरूप होनेमें ही सुडोल भाव उत्पन्न होताहै। यदि दोनों भागोंमें वैषम्यहै तो सौन्दर्यका अभावहै। अभिरूपतामें ही सौन्दर्यका विकासहै। मूर्त्ति वही उपास्या मानी जाती है जिसका शिल्प अभिरूपहो। 'आभिरूप्याच्च बिम्बानां देवः सान्निध्यमृच्छति' यह प्रसिद्धहै।

((((((	))))))
अनुरूप	अनुरूप
उत्तरका प्रतिरूप	पूर्वका प्रतिरूप

अभिरूप

पूर्वोक्त अनुरूप शिल्पका स्वरूप बतलातेहुए महर्षि ताण्ड्य कहतेहैं।

"पूर्वमु चैव तद्रूपमपरेण रूपेणानुवदति. यत पूर्वं रूपमपरेणानुवदति तदनुरूपस्यानुरूपत्वम" (तां० महाब्राह्मण० १२।१।५) इति।

इस अनुरूप शिल्पकी नकल प्रतिकृति शिल्प कहलाताहै। मनुष्य अनुरूप शिल्पहै। चित्र प्रतिकृति शिल्पहै। जैसे लौकिक शिल्प (मनुष्य कृत शिल्प) दो तरहका है उसी प्रकार ईश्वर शिल्पभी भागद्वयमें विभक्तहै। यज्ञपुरुष, स्वयम्भू, कूर्म्म, आदि ईश्वर प्रजापतिके अनुरूप शिल्पहैं। मनुष्य–शालग्राम–कछुआ–इन अनुरूप शिल्पोंकी प्रतिकृतिहैं। उपासना काण्डमें इस प्रतिकृति शिल्पका उपयोग होताहै। यज्ञपुरुष त्रैलोक्यमें व्याप्त है। पृथिवी गार्हपत्यहै। अन्तरिक्ष दक्षिणाग्निहै। द्युलोक आहवनीयहै। महामण्डल वेदि है। इस यज्ञपुरुषकी नकल मनुष्यहै। मनुष्य उस यज्ञकी प्रतिकृतिहै। इसके द्वारा उस यज्ञपुरुषकी उपासना की जाती है। प्रतिकृति द्वारा उपासक उस असलीके पास पहुंच जाताहै अतएव इस व्यापार को 'उपासना' (समीप बैठना) कहाजाताहै। उपास्य वास्तविक शिल्पहै। उपासनाका साधन भूत मनुष्य प्रतिकृति शिल्पहै। दोनों अभिन्नहै। इसी आधारपर 'यज्ञो व पुरुषः। पुरुषो वै यज्ञः' यह दोनों निगम प्रचलितहैं।

किसी निरावरण प्रान्तमें खड़े होजाइए। वहां आपको चारों औरका क्षितिज आकाशसे मिलाहुआ प्रतीत होगा। ऊपर वर्त्तुलाकार आकाश देखेंगे। नीचे सपाट मैदान देखेंगे। यही कूर्म्म प्रजापतिहै। नीचेका भाग पैदाहै। ऊपरका भाग पृष्ठहै। जैसा स्वरूप कछुएकाहै वैसाही इसकाहै। अतएव इसे कूर्म्म कहाजाताहै। यह ईश्वर प्रजापतिका वास्तविक शिल्पहै। इसकी नकल कछुआहै। जैसा स्वरूप त्रैलोक्य व्यापक उस कूर्म्म प्रजापतिकाहै वैसाही इस कछुएकाहै। त्रैलोक्य व्यापक कूर्म्मके चारों ओर पारमेष्ठ्य पानी भराहुआहै। एवं यह दधि–घृत–मधु–इनतीनों रसोंसे युक्तहै। पृथिवी दधिसे युक्तहै। अन्तरिक्ष घृतस पूर्णहै। द्युलोक मधुमयहै। चिदात्मा स्वरूप उस चित्य ईश्वर प्रजापतिके ऊपर इस अव्गर्भित दधि मधु घृतात्मक त्रैलोक्य व्यापक कूर्म्मका चयन होरहाहै। इसीलिए वैध यज्ञमें भी कूर्म्मकी

चिति कीजातीहै। अप्के स्थानमें कछुएके चारों ओर अवमूत्ति अवका(शैवाल) विछाए जातेहै। एव दधि—मधु—घृतका उसपर लेप किया जाताहै। इस कूर्म्मकी उपासनासे उस वास्तविक कूर्म्मका सम्बन्ध होजाताहै। कहना यहीहै कि कछुआ उस र्म्म प्रजापतिका प्रतिकृति शिल्पहै।

ईश्वर प्रजापति स्वयम्भू मूर्त्तिहै। सूर्य्यरूप भूतज्योतिका वहां अभाव है अतएव—

आसीदिदं तमो भूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ मनुः।

इसके अनुसार उसे घोर कृष्ण माना जाताहै। वर्त्तुल स्वयम्भू कालाहै। उसके उदरमें (केन्द्रमें) ज्योतिर्म्मय हिरण्मय सूर्य्य प्रकाशित होरहाहै। यह है ईश्वरका साक्षात् शिल्प। शालग्राम प्रतिमा ठीक इसकी प्रतिकृतिहै। शालग्राम ऊपरसे वर्त्तुलवृत्तहै। कालाहै। इसके केन्द्रमें सोनाहै। एवं रश्मियोंके स्थानमें भीतर धाराएं पडी हुई है। असली शालग्राम वही कहलाताहै जिसके केन्द्रमें सुवर्णहो। वही वास्तविक प्रतिकृति होनेसे उपासनाका साधनहै। परन्तु ऐसे शालग्राम वहुत कम मिलते हैं। नेपाली लोग सूक्ष्म छिद्र करके सोना निकाल लेते हैं। ऐसा शालग्राम अनुपास्यहै। कहना यही है कि शालग्राम प्रतिमा उस स्वयम्भू प्रजापति की प्रतिकृतिहै। ठीक इसी प्रकार कृष्णमृग उस कृष्णमृग (पार्थिव अग्नि) की प्रतिकृतिहै। जैसा उस का स्वरूपहै ठीक वैसाही स्वरूप इस कृष्णमृग (पशु) का है। इसके तीनो वर्ण उस वेदत्रयी के शिल्पहैं। प्रकृतिकी लीला वडी विचित्रहै। जिस देशमें वेदावतार हुआहै उसी देशमें कृष्णमृग उपलब्ध होताहै। काला हरिण भारतवर्षकी प्रातिस्विक वस्तुहै। क्योंकि वेदत्रयी घन कृष्णमृगकी प्रधानता इसी देशमेंहै। यही वेदविद्या प्रादुर्भूत हुई है। वेदके आधारपर चातुर्वर्ण्य मूलक

धर्मतत्व प्रतिष्ठितहै। उधर उसी वेदाग्निका अवतार कृष्णमृगहै। इसी आधारपर—

'ब्रह्मणो वा एतद् ऋक्सामयो रूपं यत् कृष्णाजिनम्'
(तै० ब्रा० २।७।३।३)

'कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः' (मनुः २।२३)

इत्यादि वचन प्रचलितहैं। यज्ञ वेदत्रयी पर प्रतिष्ठितहै। कृष्णमृग वेदत्रयीका प्रतिकृति शिल्पहै। अतः यज्ञ प्रतिष्ठा के लिए यज्ञमें वेदत्रयीकी संपत्ति प्राप्त करना आवश्यक होजाताहै। वह वेदत्रयी प्राणरूपाहै। उसका ग्रहण इस मनुष्य यज्ञमें संभव नहीं है। वस ऋषियोंने अपने विज्ञान चक्षु द्वारा यह देखलिया कि जो स्वरूप प्राकृतिक वेदकाहै—कृष्णमृग साक्षात् उसीकी प्रतिकृतिहै वस तभीसे उन वैज्ञानिकोंने यह विधान करदियाकि वैधयज्ञमें यज्ञ प्रतिष्ठाभूत वेद तत्वकी प्राप्तिके लिए तत् प्रतिकृति भूत कृष्ण मृगका ग्रहण करना चाहिए। प्रतिकृतिरूपा प्रत्ययालम्बनस्वरूपा उपासनामें पशु कूर्म्म द्वारा जैसे कूर्म्म प्रजापतिकी चिति होजाती है, वैसेही यहांभी कृष्णमृग चर्म्मके द्वारा तत् प्रभवंभूत वेदसम्पत्तिका इस वैध यज्ञसे सम्बन्ध होजाताहै।

यज्ञकी सर्वताकेलिए ही कृष्णाजिनका ग्रहण होताहै। इसी सार्व्य भावके लिए सोमयज्ञमें इसी कृष्णमृगचर्म्म पर बैठके यजमान दीक्षा लिया करतेहैं। इसी सार्व्य भावकी प्राप्तिके लिए हवि कूटना—पीसना—आदि सारे कार्य इसीपर किए जातेहैं। यज्ञका स्वरूप हविहै। हविही पुरोडाश स्वरूपमें परिणतकर अग्निमें आहुत होताहै। यज्ञात्माके स्वरूप निर्म्माणके लिए जितनासा हविर्द्रव्य उपयुक्त समझा जाताहै, उतनाही लिया जाताहै। ऐसी

अवस्थामें कूटतेहुए पीसतेहुए यदि उछटकर हविभाग भूमिपर गिरजायगातो उतनाभाग अयज्ञिय प्रदेशमें गिरजानेसे वापस नही लिया जायगा। ऐसी अवस्थामें उतने भागके कम होजानेसे यज्ञस्वरूप अधूरा रहजायगा। इस विषम समस्या को हल करनेका एकमात्र उपायहै कृष्णमृगचर्मपर हवि संपादन करना। यज्ञकी प्रतिष्ठा यज्ञही होसकती है अन्य नही। इधर—

'यज्ञो वै कृष्णाजिनम् (श० ६।४।१।६) यज्ञो हि कृष्णः—स यः स यज्ञ-स्तत् कृष्णाजिनम (श० ३।२।१।२) इत्यादिके अनुसार कृष्णमृगचर्म यज्ञ-मूर्त्तिहै। वेदमूर्त्तिहै। अतः इसीपर पेषणादिकर्म होनेसे पूर्वापत्तिका निरा-करण होजाताहै। पेषणादिकर्म करतेसमय जोकुछ हविभाग इधर उधर गिरजाताहै वह मृगचर्मरूप यज्ञपरही प्रतिष्ठित होताहै। उसे वापस उठा-कर काममें लेलिया जाताहै। इसप्रकार यज्ञ सर्वात्मना संपन्न होजाताहै। यज्ञमें कृष्णमृग चर्मका ग्रहण क्यों किया जाताहै? इतर चर्मोंकी अपेक्षा इसे क्यों पवित्र मानागया? इत्यादि प्रश्नोंका यही संक्षिप्त उत्तरहै।

एकबात और। यज्ञ सौर प्रण्डलके सम्बद्ध हुआहै। सौर तेज वर्च कहलाताहै। ब्रह्मतेज किंवा ब्रह्म वीर्यकी प्रतिष्ठा यही वर्चहै। इसका उद्-गमस्थान सूर्यमण्डलहै। कृष्णमृग इसीकी प्रतिकृतिहै। अतः इसके चर्ममें वर्चमात्रा विशेष रूपसे रहताहै। इसी आधारपर श्रुति कहती है—

"कृष्णाजिनेऽभिषिच्यत। एतद् वै प्रत्यक्षं ब्रह्मवर्चसम" (ता० १७ ११।८) "स (ब्रह्मचारी) यन्मृगाजिनानि वस्ते तेन तद् ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे" (गो० पू० २।२) इसीलिए क्षत्रवीर्य प्रधान क्षत्रियोंका जहा सिंहचर्मके ऊपर बैठनेका आदेशहै वहां ब्राह्मणोंका कृष्णाजिनपर बैठनेका आदेशहै। इसी सम्पूर्ण विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहतेहैं—

"सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णः। तद्यत् कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव सर्वत्वाय। तस्मात् कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव-सर्वत्वाय" इत्यादि।

इति कृष्णाजिनोत्पत्ति रहस्यम्।

अथातो आवृत् (पद्धतिरावृत)

उपपत्ति प्रकरण समाप्त हुआ। अब पद्धति बतलाते हैं। 'असञ्चरेण प्रोक्षणीर्निधाय—'शर्म्मासीति कृष्णाजिनादानम्' (का० श्रौ० २ अ० ४ क० १ सू०) के अनुसार प्रणीता और आहवनीय के मध्यमें प्रोक्षणी पानी रखनेके अनन्तर 'शर्म्मासि' यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु (यज्ञकी सर्वताके लिए) कृष्णमृगचर्म्म का ग्रहण करताहै। लौकिक भाषामें (संस्कृत नामसे प्रसिद्ध भारती भाषामें) जो चर्म्म नामसे व्यवहृत होताहै देवभाषामें वही 'शर्म्म' नामसे पुकारा जाताहै। शर्म्म छन्दोभाषा (वेद-भाषा) का शब्दहै। इसी अर्थमें संस्कृत साहित्यमें शर्म्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। शर्म्मासि का अर्थहै चर्म्मासि। निरुक्त क्रमके अनुसार स—ह, च—श, स—ख, ग—ज. द—ड, श—छ, र—ल, ड—ल, आदिका अभेद सम्बन्ध माना जाताहै। देश भाषाओं में इनके अत्यधिक उदाहरण मिलतेहैं। 'हमारी सुनिए' इस वाक्यके स्थानमें मारवाड प्रान्तमें 'म्हारी हुणो' बोला जाताहै। यहां स के स्थानमें ह प्रयुक्त हुआहै। समान वयस्कके लिए जहां सम उमर प्रयुक्त होना चाहिए वहां 'हम उमर' बोला जाताहै। जिसे हम सोम कहतेहैं जरथुस्थ सम्प्रदायवाले उसेही होम कहतेहैं। गंगाका गेञ्जस होजाताहै। श्यामका छ्याम होजाताहै। होलीका होरी होजाताहै। स्वः का

दा होजाताहै। इसीप्रकार चर्म्मका शर्म्म होजाताहै। प्रयत्न तारतम्यही इस व्यवहारका मूलाधारहै। भाषाकेद्वारा मनुष्यके बलाबलका अनुमान लगाया जासकताहै। उदाहरणके लिए एक भारतीयके साथ एक युरोपियनकी तुलना कीजिए। भारतीय 'तुम क्या करतेहो'—बोलताहै, युरोपियन इसी वाक्यके स्थानपर 'टुम क्या करटेहो' यह बोलताहै। कारण इसका यही है कि—त दन्तस्थान से बुलताहै। ट मूर्द्धास्थान से बुलताहै। मूर्द्धा स्थान पूर्वमें है। उसके आगे दन्तस्थानहै। अतएव इसमे वर्णोच्चारण करनेमें मूर्द्धास्थानकी अपेक्षा अधिक बलका प्रयोग करना पड़ताहै। भारतीय अग्नि प्रधानदेशका निवासीहै। अतः शीतप्रधान पाश्चात्य देशों की अपेक्षा इसमें अधिक बलहै। 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत' इस औपनिषत् सिद्धान्तके अनुसार कायाग्निही वायुसे धक्का खाकर क—च—ट—त—प— आदि वर्ण रूपमें परिणत होताहै। अतएव युरोपियनकी अपेक्षा प्रयत्न बलकी अधिकता होनेसे भारतीय 'तुम' बोललेताहै। युरोपियन भी बोलना चाहताहै तुमही। परन्तु बलकी कमीसे उसका प्रयत्न दन्तस्थानपर न जाकर मूर्द्धापरही ठहर जाताहै। तुम न बुलकर टुम बुलजाताहै। श की अपेक्षा च में अधिक बल लगाना पड़ताहै। इधर सौम स्वर्गके देवता उत्तरमें रहतेथे। उत्तर सोम (शीत) प्रधानहै। अतएव उनके मुखसे च के स्थानमें श बुलजाताथा। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहतेहैं—

'शर्म्मासीति। चर्म्म वा एतत् कृष्णस्य (कृष्णमृगस्य)। तदस्य तन्मानुषम्। शर्म देवत्रा। तस्मादाह शर्म्मासीति'।

आज यजमान यज्ञ कररहाहै। अपने अध्यात्म देवताओंका आहुतिद्वारा आधिदैविक प्राण देवताओंके साथ योग करादेनाही यज्ञहै। इस यज्ञविद्याके प्रथम प्रवर्त्तक भौम मनुष्य देवताथे। उन्हीसे भारतीयोंने यज्ञविद्या सीखी। वे लोग चूंकि चर्म्मको शर्म्म बोलाकरतेथे अतएव 'यद्वै देवा

अकुर्वंस्तद करवाणि' 'देवाननु विधा वै मनुष्याः' के अनुसार यह भी शर्म्म ही बोलना उचितहै। 'देवो भूत्वा देवं भावयेत्' के अनुसार देवमण्डलरूप यज्ञ मण्डलमें देवमर्य्यादाका ही अनुगमन करना उचितहै।

वास्तवमें शर्म्म चर्म्महै। इसीलिएतो ब्राह्मणको 'शर्म्मा' कहा जाताहै। ब्राह्मण शर्म्माहै। क्षत्रिय वर्म्माहै। वैश्य गुप्तहै। समाज एक महासंस्थाहै। यदि इसका यथावत् संचालन न किया जाय तो समाजमें अनेक दुर्गुणोंका समावेश होजाय जैसाकि आज होरहाहै। तत् कालीन समाज शास्त्रियोंने समाज शान्तिके लिए ब्रह्म-क्षत्र विड्-वीर्य्य भेदसे समाजको तीन भागों में विभक्त किया। समाजका प्रधानबल अर्थबल (संपत्तिबल) है। जिस समाजका सम्पत्तिबल क्षीण होजाताहै उसका नाश शीघ्रही होजाताहै। ईश्वर न करे इसी रोगके कारण भारत अपनी भी किसीदिन खो बैठे। सम्पत्ति के अधिष्ठाता वैश्यहैं। यही वास्तविक समाजहै। ज्ञान प्रधान ब्राह्मण, क्रिया प्रधान क्षत्रिय, शिल्प प्रधान शूद्र तीनोंकी सत्ता इसी वैश्य वर्गपर अवलम्बितहै। बाहरके शत्रुओंका आक्रमण, शरीरपर होताहै। इसे रोकने के लिए क्षत्रियहै। एवं आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आक्रमण अन्तरंग आक्रमणहै। असमयमें वर्षा होना-भूकम्प होना-महामारी होना यह सब आधिदैविक आक्रमणहै। अविद्या-अस्मिता-रागद्वेषादिका प्रभुत्व होजाना आध्यात्मिक आक्रमणहै। ज्वर-गठिया-सन्निपात-व्रण-आदि आधिभौतिक आक्रमणहै। इन तीनों आक्रमणोंसे समाजको बचाने वाला ब्राह्मण वर्गहै। आधिभौतिक आक्रमणसे रक्षा करनेवाला आयुर्वेद शास्त्र है। अध्यात्माक्रमणसे बचानेवाला दर्शन शास्त्रहै। एवं आधिदैविक आक्रमणसे बचानेवाला धर्म्मशास्त्रहै। तीनोंही शास्त्रोंके प्रवर्त्तक ब्राह्मणहैं। इस प्रकार ब्राह्मण-और क्षत्रिय दोनोंसे समाज सुरक्षित रहताहै। उदाहरण के लिए शरीरका लीजिए। शरीर एवं समाजहै। सर्दी गर्मी-आदि बाहर

अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाᳬस्यावविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति ॥६॥

अथोखलूखलं निदधाति । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न इति वा तद्यथैवादः सोमᳬ राजानं ग्रावभिरभिषुणवन्त्येवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याᳬ हविर्यज्ञमभिषुणोत्यद्रय इति वै तेषामेकं नाम तस्मादाहाद्रिरसीति वानस्पत्य इति वानस्पत्यो ह्येष ग्रावासि पृथुबुध्न इति ग्रावा ह्येष पृथुबुध्नो ह्येष प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संगमेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योन्यᳬ हिनसात इति ॥७॥

अथ हविरावपति । अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनमिति यज्ञो हि तेनाग्नेस्तनूर्वाचो विसर्जनमिति या वा ऽअमᳬ हविर्ग्रहीष्यन् वाचं यच्छत्यत्र वै तां विसृजते तद्यदेतामत्र वाचं विसृजत ऽएष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठादेष हि प्रासारि तस्मादाह वाचो विसर्जनमिति ॥८॥

स यदीदं पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् । तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद् यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते

तेभ्यो हैषा ग्रायश्चित्तिर्देवावीतये त्वा गृह्णामीति देवानव-
द्धित्यु हि हविर्गृह्यते ॥८॥

अथ मुसलमादत्ते । बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य इति बृहद्ग्रावा ह्येष वानस्पत्यो ह्येष तदवदधाति स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्वेति स इदं देवेभ्यो हविः सᳪस्कुरु साधु सᳪस्कृतᳪसᳪस्कुर्वित्येवैतदाह ॥१०॥

अथ हविष्कृतमुद्वादयति । हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति वाग्वै हविष्कृद् वाचमेवैतद् विसृजते वाग् वै यज्ञस्तद्य-ज्ञमेवैतत् पुनरुपह्वयते ॥११॥

तानि वा एतानि । चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मण-स्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य तदाहैतद्धि यज्ञियतममेतदु ह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात् ॥१२॥

तद्ध स्मैतत्पुरा । जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति तादिदम-प्येतर्हि य एव कश्चोपोत्तिष्ठति स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति तदेको दृषदुपले समाहन्ति तद्यदेतामत्र वाचं प्रत्युद्वा-दयन्ति ॥१३॥

अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्यवपद्यानिति । ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता, तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति, अधोलूखलं निदधाति—"अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः" (१ अ० १४ म०) इति वा । तद्यथादः सोमं राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्ति,—एवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञमभिषुणोति । अद्रय इति वै तेषामेकं नाम । तस्मादाह—अद्रिरसीति । वानस्पत्य इति । वानस्पत्यो ह्येषः । ग्रावासि पृथुबुध्न इति । ग्रावा ह्येष, पृथुबुध्नो ह्येषः । "प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्तु" (१ अ० १४ म०) इति । त्वचमेवास्या एतत्कृष्णाजिनाय च वदति—नेदन्योन्यं हिनसात इति ॥ अथ हविरावपति—"अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनम्" (अ० १५ म०) इति । यज्ञो हि । तेनाग्नेस्तनूः । वाचो विसर्जनमिति । या वा अमूं हविर्ग्रहीष्यन् वाचं यच्छति—अत्र वै तां विसृजते । तद्यदेनामत्र वाचं विसृजते—एष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठात् । एष हि प्रासारि । तस्मादाह—वाचो विसर्जनमिति ॥ स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत्—तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत् । यज्ञो वै विष्णुः । तद्यज्ञं पुनरारभते । तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः—"देववीतये त्वा गृह्णामि" (१ अ० १५ म०) इति । देववीतयेऽस्तु हि गृह्णाति ॥ अथ मुसलमादत्ते—"बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः" (१ अ० १५ म०) इति । बृहद्ग्रावा ह्येष, वानस्पत्यो ह्येषः । तदवदधाति—"स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व" (१ अ० १५ म०) इति । स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु, साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह ॥ अथ हविष्कृतमुद्वादयति—"हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि" (१ अ० १५ म०) इति । वाग् वै हविष्कृत् । वाचमेवैतद्विसृजते । वाग् वै यज्ञः—तद्यज्ञमेवैतत्पुनरुपह्वयते ॥ तानि वा एतानि चत्वारि वाचः । एहीति ब्राह्मणस्य । आगह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्च । आधावेति शूद्रस्य । स यदेव ब्राह्मणस्य—तदाह, एतद्धि यज्ञियतमम् । एतदु ह वै वाचः शान्ततमम्, यदेहीति । तस्मादेहीत्येव ब्रूयात् । तद्धैतत्पुरा जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति । तदिदमप्येतर्हि य एव कश्चोपोत्तिष्ठति । स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति—तदेके दृषदुपले समाघ्नन्ति । तद्यदेतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति ॥

चर्म्मास्तरणानन्तर 'छायाशून्ये निदधात्युलूखल 'मद्रिरसि ग्रावासी' ति वा' (का० श्रौ० २।४।४) के अनुसार वह अध्वर्यु वामहस्तसे स्पृष्ट कृष्णमृगचर्म्मके ऊपर दक्षिण हस्तसे उलूखल मूसलका ग्रहण करताहै। प्रत्येक कर्मकी एक स्वतन्त्र धारा रहती है। यदि मध्यमें ही उसका विच्छेद होजाताहै तो उस कर्म्मका स्वरूप छिन्न भिन्न होजाताहै। आपने किसी विषयका अध्ययन प्रारम्भ किया। यदि 'दीर्घकालादरनैरन्तर्य सत्कार्यसेवितो दृढभूमिः'के अनुसार नियत समयपर्यन्त नियतरूपसे अध्ययन करते रहतेहैं तो अध्ययन सफल होताहै। यदि मध्यमें अन्तराय होजाताहै तो संतान क्रमके विच्छिन्न होजाने से विद्यासंस्कार विच्छिन्न होजाताहै। अध्ययन निदर्शनमात्रहै। संसारके जितनेभी कर्महै सर्वत्र यही साधारण नियमहै। जिस कामको हाथमें लेलिया उसे मनसा-वाचा-कर्मणा-पूर्ण करकेही विश्राम लेना चाहिए। मध्यमें छोड़देनेसे, अथवा बीच बीच में उस कार्यको छोड़ छोड़ कर करनेसे कर्मसंतानरूपा विद्युत्का विच्छेद होजाताहै। यह विच्छेदक प्राण असुर है। कर्म्म छोडते ही वह आत्मापर आक्रमण करडालता है। इसी आसुरभावके आक्रमण में आलस्यका प्रवेश होजाताहै। आत्माका उत्साह नष्ट होजाता हैं। इसलिए यह उचित है कि यातो किसी कार्यका आरम्भ ही नहीं करना। यदि एकवार किसी कार्यको हाथमें लेलिया तो उसे पूरा करके ही विश्राम लेना। कृष्णमृग चर्म बिछाकर उसके ऊपर पात्रो को रखदेना एक कर्म्महै। ऐसी अवस्थामें चर्म्मास्तरण और पात्रासादनके मध्यमें अन्तराय होजायगा तो कर्म्मसे सम्बन्ध रखने वाली विद्युत् विच्छिन्न हो जायगी। अतः अध्वर्यु को चाहिये कि वह इस विद्युद्द्वारा सम्बन्धको सुरक्षित रखनेकेलिए कृष्णमृगचर्म्मका स्पर्श किए हुएही पात्रोको उसपर रक्खे।

वैध यज्ञद्वारा अपने आत्माको दिव्य भावापन्न करनेवाला आहिताग्नि ब्राह्मण साक्षात सांतपनाग्नि मूर्त्तिहै। एसे ब्राह्मणकी वाणी कभी व्यर्थ

नहीं जाती। इसके दर्शन–स्पर्श–भाषणसे आसुर भावका विनाश होजाता है। 'अग्नि हि रक्षसामपहन्ता' (कौ० ८।४) के अनुसार आग्नेय प्राण आप्यप्रधान आसुर प्राणका विनाशक है। इधर ब्राह्मण इस असुरघ्न एवं रक्षोघ्न अग्निकी साक्षात् प्रतिकृति है। जिसके शरीरमें यह अग्नि प्रज्वलित रहताहै–कार्यावरोधक–राक्षस असुर उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। वह मनस्वी अपने अग्नि बलके प्रभावसे सारी विघ्न बाधाओं को पार करताहुआ अपने प्रारब्ध कर्मको यथावत् सुसंपन्न करनेमें समर्थ होजाताहै। वैश्य भलेही विघ्न बाधाओंसे भयभीत होजाय, क्षत्रिय भलेही आपत्तियों के डरसे अपना उत्साह छोड बैठे, परन्तु ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण कभी अपने कर्त्तव्यसे विमुख नहीं होसकता। उसके कोशमें आलस्य शब्दका ऐकान्तिक अभावहै। समाजका संचालक ज्ञानमूर्त्ति ब्राह्मणहै। दुर्भाग्यवश यदि समाजके इस अङ्गमें शिथिलता आजाती है तो सारा समाज बिना नींव के प्रासादके समान तहस नहस होजाताहै। कहना नहीं होगाकि यज्ञमूलक दिव्याग्नि संपत्तिका तिरस्कार कर ब्राह्मण समाज आज किस अवनति पर पहुंचगयाहै। किसी समय ब्राह्मणके लिए 'ब्राह्मणोहि रक्षसामपहन्ता' यह कहाजाताथा। आज ठीक इसके विपरीत इनकेलिए 'राक्षसो हि ब्राह्मणानामपहन्ता' यह वाक्य चरितार्थ होरहाहै। क्या हम अपनी इस दशाके लिए पश्चात्ताप करतेहुए पुनः तत्कालीन यज्ञ बलको प्राप्तकर पुनः वैसे नहीं बनसकते। उसी बलके प्रभावसे अध्वर्यु केवल करस्पर्श मात्रसे आसुर भावका नाश करडालताहै। इसी सारे विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर—

"अभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति–अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति" इत्यादि कहाहै।

उलूखल ग्रहणानन्तर 'अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः' यह मन्त्र बोलताहुआ अध्वर्यु उलूखलको कृष्णमृगचर्म के ऊपर रखताहै। हविर्यज्ञके अनन्तर पिण्डपितृयज्ञ—चमिष्टयज्ञ—दाक्षायणयज्ञ—वरुणप्रघासेष्टि आदि अनेक इष्टियें होती हैं। अनन्तर पशुबन्ध यज्ञ होताहै। सर्वान्तमें बहुत आगे जाकर पुरुषगर्भस्वरूप सोमयज्ञ किया जाताहै। सोम साक्षात् राजाहै। भौमत्रिलोकीके व्यवस्थापक मागेरहस्थ (पामीरस्थ) हिरण्यशृंग पर्वत-निवासी भगवान् ब्रह्माने महर्षि अत्रिके पुत्र परमसुन्दर चन्द्रमाको उत्तर दिशाका लोकपाल बनाकर उन्हें गन्धर्वोंका नायक बनाकर सोमवल्लीकी रक्षाकेलिए नियत कियाथा। सोमाहुतिसे यज्ञनिष्पन्न होताहै। यज्ञही ब्राह्मणोंका तत्त्वहै। अतएव ब्राह्मणलोग इस सोमकेलिए बड़े गर्वसे—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' यह कहाकरते हैं। ब्राह्मणों के ऊपर त्रिष्टुप-छन्दा क्षत्रियराजाओं का शासन नहीं है, अपितु सोमही उनका शास्ताहै। हमारा राजा सोमहै। सोमका प्रभवस्थान चन्द्रमाहै। इसी आधारपर 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः'—यह कहा जाताहै। चान्द्रसोमसे निष्पन्न होनेवाली सोमवल्लीका बड़े आदरके साथ क्रय किया जाताहै। अनन्तर प्रादेशमात्र खण्ड करके उसके अंशू (पूली) बनालिए जातेहैं। इन सोमांशुओंका ग्रावाओंसे अन्तर्याम नामसे प्रसिद्ध शिलापर पेषण किया जाताहै। यज्ञविना सोमाहुतिके नहीं होता यह निश्चित सिद्धान्तहै। इधर प्रकृतके इस हविर्यज्ञमें पुरोडाशकी आहुति दीजातीहै। यह भी एकप्रकारका सोमही है। साथही में जैसे उस साक्षात् सोमका अभिषव होताहै वैसेही यहांभी उलूखल मुसलसे एवं दृषदुपल (सिल—लोढी) से इस हविका अभिषव होताहै। इस प्रकार सोमसंपत्तिका इस हविर्यज्ञमें सर्वात्मना सम्बन्ध सिद्ध होजाताहै। अन्नसोम की आहुति से हविर्यज्ञभी अपने यज्ञनामको सर्वात्मना चरितार्थ करडालताहै। इसी यज्ञसम्बन्ध का प्रतिपादन करते

हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—'तद्यथैवादः सोमं राजानमभिषुण्वन्ति०' इत्यादि ।

सोमकी अनेक जातिएँहैं। कोई सोम–पदार्थ को तरल बना डालताहै। कोइ विरलं बनाडालताहै । कोई सोम उसपदार्थमें मविष्ट हो उसे घन बना डालताहै । बस पदार्थ में घनता मम्पादन करनेवाला घनसोम ही वैदिक विज्ञान शास्त्रमें–'अद्रि' नामसे मसिद्धहै। पाषाण अति कठिन होताहै। कारण इसका यहीहै कि पाषाणमें अद्रि सोम अत्यधिक मात्रा में रहताहै । अतएव यह अद्रि नाम से मसिद्ध होताहै । वनस्पतियोंमें सबसे कठिन भद्रपर्णी है । उसी का उलूखल मुसल बनताहै । वनस्पति का होताहुआ अद्रि है । सहसा छुन नहीं होसकता । चूंकि इसमें अद्रि सोमकी मधानताहै, अतएव इसका एक नाम 'अद्रि' भी रखदियाहै। 'अद्रिरसि वानस्पत्यः' इस मन्त्रसे, अथवा ग्रावासि पृथुबुध्नः' इससे दोनों में से किसी एकसे उलूखल का विधान करना चाहिए । यह ग्रावा (पाषाणतुल्य होने से पाषण ही है) इसका पैंदा चौड़ा है ।

इस मकार पूर्वोक्त मन्त्र भागोंमेंसे किसी एक भाग के द्वारा उलूखल का विधान करके तदव्यवहितोत्तर 'प्रतित्वादितिर्वेत्तु' (तुम को अदिति पहिचाने) यह मन्त्र बोलताहै यह ध्यान रखना चाहिए कि 'प्रतित्वेत्युभयोः' (का० श्रौ० २।४५) के अनुमार अद्रिरसि वानस्पत्यः प्रतित्वादितिर्वेत्तु' " पृथुबुध्नः ग्रावासि प्रतित्वादितिर्वेत्तु' इस मकार दोनों ही मन्त्रभागों के साथ प्रति त्वादितिर्वेत्तु" इसका सम्बन्ध कराना आवश्यकहै । पूर्वके कृष्ण-मृगचर्म मकरणमें कृष्णमृगचर्मको अदिति स्वरूप बतलायाहै । सजातीय पदार्थों का सम्बन्ध क्षोभरहित होता हुआ शान्ति का कारण बनता है । एवं विजातीय पदार्थों का सम्बन्ध क्षोभमूलक होता हुआ अशान्ति का

कारण बनताहै। अशान्ति आसुर भावहै। आज अध्वर्यु वानस्पत्य उलूखल का अदितिरूप कृष्णमृगचर्म के उपर आसादन करताहै। कहीं अदिति इसे विजातीय न समझने। इसे यह ध्यान रहे कि यह वानस्पत्य होता हुआ मेराही अंगहै। अदिति पृथिवी ही तो ओषधि वनस्पतिका मूलहै। बस इसी परस्परके सम्बन्ध भाव को व्यक्त करने के लिए 'प्रतिरा' इत्यादि कहा जाताहै। इससे विरोध भाव शान्त होजाताहै इसी अभिप्रायसे ऋषि कहतेहैं—

'तद संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति। नेदन्योऽन्यं हिनसातै'-इति

७

उलूखलासादनानन्तर अध्वर्यु 'हविराचपदग्नेस्तनूरिति' (वा. श्रो. २।४।६ के अनुसार 'अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि (यजुः १.५)' हे हवि आप अग्नि के शरीर हो, वाक् के विसर्जन हो देवताओं के लिऐ तुह्मारा ग्रहण करता हूं' यह मन्त्र बोलता हुआ उलूखल में हवि डालता है। यह हविद्रव्य यज्ञ का (यज्ञात्माका) संपादन करता है। प्रथम ब्राह्मण की विवेचनामें यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि मन्त्रपूत दिव्याग्निमें सोमकी आहुतिसे नया दिव्यात्मा उत्पन्न किया जाताहै। दिव्यात्मा सोमगर्भित अग्नि है। सोमगर्भित अग्निका दूसरे शब्दों में अग्नीसोम समुच्चय का ही नाम यज्ञ है। अतएव अग्नीसोम के समन्वयसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्गप्राप्तिके कारणभूत इस दिव्यात्मा को यज्ञात्मा भी कहाजाता है। इस यज्ञात्माकी योनि अग्नि है। रेत सोम है। सोमरेत की

आहवनीयाग्नि योनि में आहुति होने से ही देवात्मा का जन्म होता है। इस प्रकार एकमात्र सोमाहुति पर ही यज्ञात्मा का स्वरूप अवलम्बित है। आप जितने भी पिण्ड देख रखे हैं सब इसी सोमाहुति का प्रभाव है। अग्नि विशकलन धर्म्मा है। वह कभी एक स्थान पर पिण्डीभूत नहीं रह सकता। इधर सोम संकोच धर्म्मा है। इसके प्रभाव से अग्नि की विशकलन शक्ति का अभिभव होजाता है। अग्नि सशरीरी बनजाता है। इसी प्रकार हमारे वैध यज्ञमें भी यज्ञस्वरूप संपादक अतएव 'तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' इस न्याय के अनुसार यज्ञ नाम से प्रसिद्ध यह हविसोम दिव्याग्नि को शरीर (पिण्ड) रूपमें परिणत करता हुआ इसे देवात्मा बनाडालताहै। अतः हम अवश्य ही इस अग्नि का शरीर कह सकते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर— 'यज्ञो हि, तेनाग्नेस्तनूः'—यह कहा है। आपको स्मरण होगा कि पात्र ग्रहण करते समय अविच्छिन्न रहते हुए यज्ञवितान करने के लिये अध्वर्यु और यजमान दोनो ही वाक संयमन करते है। आज इस हविग्रहणकालमें ही वाक् का विसर्जन होता है। अतएव इस हविको हम अवश्य वाक् का विमोक करनें वाला कह सकते हैं। वाग् विसर्जन के विषयमें दो मत हैं। अनुपदमें ही हविष्कृदाह्वान कर्म होनेवाला है। अध्वर्यु हविसंपादन के लिये पहिले से ही नियत 'हविष्कृत्' नाम से प्रसिद्ध ऋत्विक् का 'हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि (हवि संपादन करने वाले चलो) यह बोलता है। यही समय 'हविष्कृदाह्वान काल' नामसे प्रसिद्ध है। इस समयमें वाक विसर्जन करना एकपक्ष है। एवं 'हविष्कृदेहि' यहमन्त्र बोलते हुए वाग्विसर्जन करना दूसरा पक्षहै। दोनों में कामचार है। वाक् का विसर्जन सचमुच हविग्रहण पर ही निर्भर है। जब तक शरीराग्निमें हवि की (अन्नकी) आहुति होती रहती हैं तभी तक वागिन्द्रिय अपना काम करती रहती है। अन्नाहुति से अग्नि प्रवृद्ध होता है। एवं 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' इस औपनि-

यदु सिद्धान्तके अनुसार अग्नि ही क-च-ट-त-प आदि वर्णरूपमें परिणत होकर निकलताहै। यदि हविग्रहण (अन्नाहुति) बंद करदिया जाय तो बोलना चालना सब बंद होजाय। ऐसी अवस्थामें हम इस हवि को अवश्य ही वाक् विसर्जन (जिसमें वाक् का विसर्जन होता हो) कह सकते हैं। इस वैध यज्ञमें भी इसी विज्ञान के आधार पर हविग्रहण कालमें ही वाक् विसर्जन करने का नियम रक्खा है। वाक्को पूर्वमें (वाक् संयमन कर्ममें) यज्ञ बतलाया है। उस यज्ञ को आज तक अपने में प्रतिष्ठित रक्खा गया था। आज हविस्वरूप यज्ञके साथ साथही इस वाक् यज्ञको भी इस ऊखलमें प्रतिष्ठित किया जाता है। यहांपर प्रतिष्ठित होनेवाला वाक्यज्ञ-और हविर्यज्ञ दोनों एकीभूत होकर आहुतिद्वारा सप्तदशस्तोम तक वितत होंगे। संचित यज्ञ का वितान यहीं से होगा। संचित वाक् का विसर्जनरूप वितान यहीं से होगा इसलिए भी हम इस हविको वाक् विसर्जन कहने के लिए तय्यार हैं। इसी सारे विज्ञानको लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

'यत्र वा हविर्ग्रहीष्यन्वाचं यच्छति अत्र वै तां विसृजते एष हि यज्ञः (वाग्यज्ञः-हविर्यज्ञश्च) उलखलं प्रत्यष्ठात्'० इत्यादि ॥

८

हविष्कृदाह्वान कर्मसे पहिले, एवं पात्रासादनके अनन्तर वाक्संयमन करनेवाला अध्वर्यु और यजमान यदि मानुषी वाक्का प्रयोग करडालें तो उन्हें उसी समय विष्णुदेवताक ऋचाका या यजुर्मन्त्रका जप करना चाहिए। यज्ञ विष्णु स्वरूपहै। सो इस मन्त्रजप कर्मसे विच्छिन्न यज्ञका पुनः प्रारम्भ करताहै। इस कर्मकी यही प्रायश्चित्तिहै। 'यष्टव्य देवताओं को हमारा

हवि तृप्त करें' इसी अभिप्रायसे हवि ग्रहण कियाजाताहै। इसी आधारपर 'देववीतये त्वा गृह्णामि' यह कहाहै।

वाक् यज्ञ तत्वहै जैसाकि वाक् संयमन प्रकरणमें विस्तारसे बतलाया जाचुकाहै। इस यज्ञ तत्वके संचयके लिए ही संयम व्रत धारण किया जाताहै। ऐसी अवस्थामें यदि लौकिक वाणीका प्रयोग करदिया जाताहै तो यज्ञ निर्बल होजाताहै। यज्ञ भाग विच्छिन्न होजातीहै। विष्णु साक्षात यज्ञ स्वरूपहै। अग्निमें सोमकी आहुति होनाही यज्ञहै। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र अग्नि-सोम यह पांच अक्षर संसारके कर्त्ता भर्त्ता हैं। इनमें ब्रह्मा-विष्णु इन्द्रकी समष्टिका नाम अन्तर्यामीहै। प्रत्येक वस्तु पिण्डके केन्द्रमें प्रतिष्ठित होकर उसका नियमन करना इन हृदयाक्षरोंका मुख्य कर्त्तव्यहै। एवं अग्नि सोमसे पिण्ड स्वरूप निष्पन्न होताहै केन्द्रस्थ ब्रह्मतत्व प्रतिष्ठाहै। विष्णु-तत्व अन्नाहरण करताहै। अन्नभोक्ता स्वरूप अग्निमें अन्नरूप सोमकी आहुति देना विष्णुका कार्यहै। उक्थरूप विष्णुसे निकलनेवाली अर्करूपा अशनाया (बुभुक्षा) ही अशितिरूप अन्नका आदान करतीहै। इसीसे अग्नी सोमात्मक यज्ञ संपन्न होताहै। यदि विष्णु अपना व्यापार छोडदें तो उसी-क्षण अग्नीषोमात्मक यज्ञ बंद होजाय। ऐसी अवस्थामें हम यज्ञस्वरूप संपादक उस विष्णुको अवश्यही यज्ञमूर्त्ति माननेके लिए तय्यारहैं। विष्णु-द्वाराही यज्ञ संधान होताहै। अतः इस वाग् यज्ञके विच्छिन्न होजानेपर विष्णुदेवताक मन्त्रका जप करना आवश्यकहै। विष्णुरूपा मन्त्रवाक् साक्षात यज्ञहै। इस यज्ञरूपा वाक्के प्रयोगसे यज्ञका पुनः संधान होजाताहै। यज्ञ पुनः वितत होने लगताहै। पूर्वकी पङ्क्तियोंका यही तात्पर्यहै।

६

उलूखलमें हवि को प्रतिष्ठित करनेके अनन्तर यह अध्वर्यु 'बृहद् ग्रावासि वानस्पत्यः' यह मन्त्र बोलताहुआ मुसलको अपने हाथमें उठाताहै। सोमयज्ञमें सोमवल्लीका ग्रावासे अभिषव कियाजाताहै। पूर्व कथनानुसार यह हवियज्ञभी सोमाङ्गभूत होताहुआ सोमयज्ञही है। इसी सादृश्यका प्रतिपादन करनेके लिए मुसलके लिए 'ग्रावासि' विशेषण दियाहै। यह उलूखलकी अपेक्षा बड़ा होताहै। अतएव बृहद्ग्रावा कहाहै।

मुसलग्रहणानन्तर 'स इदमिसवदधाति' (का० श्रौ० २।४।१२) के अनुसार 'स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व' (यजुः १।१५) यह मन्त्र बोलताहुआ अध्वर्यु (हवि संस्कारके लिए) उलूखलमें मुसलका प्रवेश करताहै। हे मुसल आप भलीभांति हविर्द्रव्य का संस्कार करो यही तात्पर्य है।

१०

मृगचर्म बिछाकर उसपर उलूखल रखकर हवि अवघात करदेना अध्वर्युका कामहै। एवं कूटना हविष्कृत्का कामहै। 'अतः पत्न्य इह न्यो वा' (का० श्रौ० २।४।१४) के अनुसार यजमानपत्नी—अथवा आग्नीध्र दोनोंमेसे एक हविः सम्पादन करतेहैं। अपना कर्म्म समाप्त करके अध्वर्यु 'हविष्कृदेहि' इस मन्त्र भागको तीनबार बोलकर हविष्कृत् नामसे प्रसिद्ध आग्नीध्रका आह्वान करताहै। वाक् ही हविष्कृत्है। हविष्कृत्का आह्वान करनाही वाक्का विसर्जन करनाहै। वाक्ही यज्ञहै। यज्ञका ही पुनः आह्वान करतेहैं। तात्पर्य्य यहीहै कि हविष्कृदेहि बोलताहुआही अध्वर्यु वाग् विसर्जन करताहै। वाक्विसर्जन इन्हीं अक्षरोंसे होताहै। हविष्कृदेहिसे ही क्यों वाग विसर्जन होताहै ? इसकी उपपत्ति यही है कि प्राकृतिक दूसरे शब्दोंमें भा

धिदैविक नित्य यज्ञमें वाक तत्वही हविष्कृत (हवि स्वरूप संपादन करने वाला) है। पञ्चकोशात्मक अव्यय ब्रह्मही सारे प्रपञ्चकी आधार भूमिहै। ये पांचोंकोश क्रमशः आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—नामसे प्रसिद्धहैं। इन पांचोंकाही पूर्वके अंकोंमें तत्तत स्थलोंपर विस्तारसे निरूपण किया जाचुकाहै। यहां केवल यही समझलेना पर्याप्त होगाकि इस पञ्चकोषात्मक अव्ययका आनन्द विज्ञान मन भाग मुक्तिसाक्षी है। सृष्टिमें आत्माका यह भाग सहकारी मात्रहै। एवं मन प्राण वाक् भाग सृष्टि साक्षी है। मुक्तिमें यह सहकारी मात्रहै। मन ज्ञान शक्ति है। प्राण क्रिया शक्तिहै। वाक अर्थ शक्तिहै। इसी वाक तत्वका नाम अन्नमय कोशहै। कारण इसका यहीहै कि अन्न पृथिवी—जल—तेज-वायु—आकाश (पराकाश) भेदसे पञ्च महाभूत की समष्टिहै। आकाशकाही नाम वाक्है। यही वागाकाश उत्तरोत्तर होने वाली ग्रन्थग्रन्थियों के कारण क्रमशः वायु—तेज—जल—मिट्टी रूपमें परिणत होजाताहै। मिट्टी वाक्का अन्तिम विकारहै। अभेद सत्ता सम्बन्धके कारण उत्तर उत्तरके भूतमें पूर्व पूर्वका भूत भाग समाविष्ट रहताहै। सुतरां मिट्टीमें पांचों भूतोंकी सत्ता सिद्ध होजाती है इसी विज्ञानके आधारपर पृथिवीको सम्पूर्ण भूतोंका रस कहाजाताहै। जैसाकि श्रुति कहतीहै—

'एषां वै भूतानां पृथिवी रसः' (शत० १४।९ ५।१) इति।

यही वाङ्मयी दूसरे शब्दोंमें पञ्चभूतमयी पृथिवी चान्द्रसोमको अपने गर्भमें रखती हुई अन्नरूपमें परिणत होजाती है। वह वाक् तरहही हवि बनाहुआहै। लौकिक अन्न अन्न कहलाताहै। यज्ञमर्यादामें वही अन्न हवि नामसे व्यवहृत होताहै। इसी विज्ञानके आधारपर हम वाक्को हविष्कृत् कहनेके लिए तय्यारहैं। वाक् हविष्कृतहै। हमें वाक्का विसर्जन करनाहै। इधर हविष्कृत् रूपा वाकका प्रतिनिधि हविष्कृत प्राप्त है। अतः इसीके

सम्बन्धसे वाक् विसर्जन करना उचितहै। जो वाक् यज्ञ वितत होनेके लिए अबतक सुरक्षित था। वही विसर्जनके साथही वितान कोटिमें आजाताहै। इसी सारे विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहतेहैं—

"वाग् वै हविष्कृत्। वाग् वै यज्ञः। तद्यज्ञमेव पुनरुपह्वयते" इति।

११

अनुगम और निगम भेद से श्रुति वचन दो भागों में विभक्तहै। नियत देवता एवं नियत अर्थसे सम्बन्ध रखने वाले श्रुति वचन 'निगम' नामसे प्रसिद्धहैं 'वाग्वै यज्ञ' 'यज्ञोवै विष्णुः' 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता' इत्यादि निगम हैं, एवं अनियतार्थ का प्रतिपादन करने वाले वचन 'अनुगम' नामसे प्रसिद्ध हैं। अनुगम का किसी एकही देवता के साथ सम्बन्ध नहीं है। अपितु जहां उस अर्थ का समन्वय होजाताहै वहीं वह अनुगम श्रुति चरितार्थ होजातीहै। 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' 'त्रिराद्या यज्ञः' 'द्वयंवा इदं न तृतीयमस्ति' इत्यादि वचन अनुगमहैं। इन्हीं अनुगमों में से निम्नलिखित अनुगम मन्त्र अति सुप्रसिद्ध है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ इति।

इस अनुगम मन्त्रके अनेक अर्थहैं। स्वयं ऐतरेय महर्षिने ऐतरेय आरण्यकमें इसके ५–६ अर्थ किये हैं। वैय्याकरण परा–पश्यन्ती–मध्यमा वैखरी–भेदसे वाक्को चतुर्द्धा विहित मानते हैं। वैज्ञानिकलोग–सत्या–आम्भृणी–बृहती–अनुष्टुप्–भेदसे वाक्के चार विभाग करतेहैं। इन सारे भेदों का प्रकृतमें निरूपण नहीं किया जासकता। इन सबका विशद

निरूपण जानने की इच्छा रखनेवालों को श्रीगुरुप्रणीत ' पथ्यास्वस्ति ' (वर्णमातृकारहस्य) नाम का ग्रन्थ देखना चाहिए। प्रकृतमें भिन्न प्रकारसे ही वाक् की चतुर्द्धा विहित बतलाया जाताहै। आह्वान सम्बधिनी वाक् एहि, आगहि, आद्रव, आधाव, भेदसे चार भागोंमें विभक्तहै। यह आपको स्मरण रखना चाहिए कि यथाजात मनुष्य मनुष्य कहलाताहै। ऐसा यथाजात-असंस्कृत मनुष्य वर्ण व्यवस्था के अनुसार शूद्रहै। इतर तीनों वर्ण संस्कार संस्कृत होते हुए मनुष्य कोटिसे बाहरहैं। उनके आत्मामें क्रमशः अग्नि इन्द्र–विश्वेदेव बैठे हुए हैं। वे मनुष्य नहीं देवताहैं। मनुष्य शब्दभाक् केवल शूद्रहै। यही कारण है कि सेवावृत्ति के लिए 'इतने आदमियों को बुलाओ' यही व्यवहार होताहै। पूर्वोक्त तीन वाक्भेद तीनों वर्णों में ही प्रयुक्त होते हुए गुहानिहित हैं। एवं 'आधाव' यह तुरीय भाग यथाजात सर्व साधारण मनुष्यों के व्यवहार में आताहै। ब्राह्मण–चारों वर्णों का पूर्वोक्त क्रमसे आह्वान करताहै। ब्राह्मण ब्राह्मणसे एहि (आइए) कहताहै। क्षत्रियसे आगहि (आओ) कहताहै। वैश्यसे आद्रव (जल्दी आवो) कहताहै। शूद्रसे आधाव जल्दी दौडो) यह कहताहै। क्षत्रिय ब्राह्मणसे एहि कहेगा। क्षत्रियसे आधाव कहेगा। वैश्यसे आद्रव कहेगा। शूद्रसे आधाव-कहेगा। यही व्यवस्था इतर दोनो वर्णोंमें समझनी चाहिए। समाज व्यवस्था के अनुसार पूर्वोक्त वाक व्यवहार प्रचलितहै। हविष्कृत् आग्नीध्र ब्राह्मण है। अतः 'एहि' कह करही उसका आह्वान करना उचितहै। अपिच ब्राह्मण शान्तमूर्त्ति है।

क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येदाकुष्टः कुशलं वदेत ।
कुर्यादन्यं न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

सत्वस्यं वा अयं ब्र ह्मणः, मित्र नवाऽयं कंचन हिनस्ति' (श० २।३।२।१२) इत्यादि श्रौत स्मार्त्त वचनों के अनुसार ब्राह्मण संसार का मित्र है। सत्वक

साथ शान्तिपूर्ण व्यवहार करना ब्राह्मणका पहिला कर्त्तव्य है। इसी भावका द्योतन करने के लिये 'एहि' पदका निर्देश किया है। इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहतेहैं—'एतदु ह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात्'—

१२

पुराने युगमें यह संप्रदाय था कि अध्वर्युके 'हविष्कृदेहि' यह प्रैष (अनुज्ञा) करने पर स्त्री ही हविः संपादन करने के लिये उपस्थित होती थी। वही नियम आजभी प्रचलितहै। यदि स्त्री उस समय उपस्थित न होतो अन्य कोई ऋत्विक इस कर्मके लिए उपस्थित होजाताहै। 'आह्वयत्याऽन्वयो दृषदुपले 'कुक्कुटोऽसी' ति त्रिः शम्यया द्विर्दृषदं सकृदुपलाम' (का० श्रौ० २।४।१५) के अनुसार पत्नी अथवा आग्नीध्र का अध्वर्यु आह्वान करताहै। आहूत आग्नीध्र सर्वप्रथम 'कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः' यह मन्त्र बोलता हुआ शम्यासे दोवार दृषत् (सिल) पर ध्वनि करताहै, एक वार उपल पर ध्वनि करताहै। सो जोकि आग्नीध्र यहां वाक् ध्वनि करताहै इसकी उपपत्ति बतलातेहैं। हविः संपादन करने से पूर्व शम्यासे सिललोढी पर आवाज योकी जातीहै इसकी वैज्ञानिक उपपत्ति बतलाते हैं—

१३

मनोर्ह वा ऽ ऋषभ आस। तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् प्रविष्टा स तस्य ह स्म श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिरे पापं बत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति किलाताकुली ऽ इति हासुरब्रह्मावासतुः ॥१४॥

तौ होचतुः । श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनेनर्षभेणेति तथेति तस्यालब्धस्य सा वागपचक्राम ॥१५॥

सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश । तस्यै ह स्म यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्मैवासुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिरेऽ इतो वै नः पापीयः सचते भूयो हि मानुषी वाग् वदतीति किलाताकुली हैवोचतुः श्रद्धादेवो वै मनुरावं न्वेव वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनयैव जाययेति तथेति तस्या आलब्धायै सा वागपचक्राम ॥१६॥

सा यज्ञमेव यज्ञ पात्राणि प्रविवेश । ततो हैनां न शेकतुर्निर्हन्तुꣳ सैषासुरघ्नी सपत्नघ्नी वागुद्वदति स यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाचं प्रत्युद्वा दयन्ति पापीयाꣳसो हैवास्य सपत्ना भवन्ति ॥१७॥

स समाहन्ति । कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इति मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद् विषजिह्वोऽसुरेभ्यः स यो देवेभ्य आसीः स न एधीत्येवैतदाहेषमूर्जं मा वद त्वया वयꣳ सङ्घातꣳ सङ्घातं जेष्मेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१८॥

मनोर्ह वा ऋषभ आस । तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् प्रविष्टा स तस्य ह स्म श्वसथाद् रवथाद् असुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति । ते हासुरा समूदिरे–पापं बत नोऽयमृषभः सचते, कथं न्विमं दभ्नुयामेति । किलाताकुली–इति हासुरब्रह्मावासतुः । तौ होचतुः–श्रद्धादेवो वै मनु,–आवं नु वेदावेति । तौ हागत्योचतु'–मनो ! याजयाव त्वेति । केनेति–अनेनर्षभेणेति । तथेति । तस्यालब्धस्य सा वागपचक्राम । सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश । तस्यै ह स्म यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति, ततो ह स्मैवासुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति । ते हासुरा समूदिरे–इतो वै न पापीयः सचते, भूयो हि मानुषी वाग् वदतीति । किलाताकुली हैचोचतु.-श्रद्धादेवो वै मनुः आवं न्वेव वेदावेति । तौ हागत्योचतु.-मनो ! याजयाव त्वेति । केनेति । अनयैव जाययेति । तथेति । तस्या आलब्धायै सा वागपचक्राम् । सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश । ततो हैना न शेकतुर्निर्हन्तुम् । सैषासुरघ्नी सपत्नघ्नी वागुद्वदति । स यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाच प्रत्युद्वादयति, पापीयांसो हैवास्य सपत्ना भवन्ति । स समाहन्ति–कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः-(१ अ० १६ म०) इति । मधुजिह्वो वै स देवेभ्य. आसीद् विषजिह्वोऽसुरेभ्य । स यो देवेभ्य आसीत् स न एधीत्येवैतदाह । "इषमूर्ज मा वद रायावयम् सङ्घातम् सङ्घात जेष्म–" (१ अ० १६ म०) इति । नात्र ह्येतत् तिरोहितमिवास्ति ।

प्रत्युद्वादनोपपत्ति—

भगवान मनु के पास एक बैल था । उसमें असुर और सपत्नों को नष्ट करने वाली वाक् प्रविष्ट थी । उस बैलके श्वासलेने से और शब्द करने से असुर राक्षस मृतकतुल्य होजाते थे । (इस आपत्ति से बचने के लिए एक बार) असुर राक्षसोंनें एकत्रित होकर परस्पर में विचार कियाकि देखो भाई ! यह ऋषभ हमे सदा सताया करता है। ऐसा कौनसा उपायहै जिससे अपन इस ऋषभ का मानमर्दन करसकें । उन असुरों की मण्डली में किलात और आकुलि नामसे प्रसिद्ध दो असुर पुरोहित थे ॥१४॥

उन दोनों ने असुर पराङ्जी से कहा कि श्रद्धादेव नामका मनु है। हम दोनों उसे खूब अच्छी तरह जानते हैं। (वहां जाकर कोई उपाय करना चाहिए यह निश्चय कर दोनों मनु के पास पहुंचे) वहां जाकर वे मनुसे कहने लगे हे मनु! हम आपको यज्ञ करवाना चाहते हैं मनुने पूछा कि किस (आहुतिद्रव्य) से तुम हमें यज्ञ करवाओगे। असुरों ने उत्तर दिया (कि आपके पास जो) बैल है उसीसे हम यज्ञ करवायेंगे। मनुने स्वीकार करलिया। (असुरों को विश्वास था कि यदि ऋषभ की आहुति दे दी जायगी तो सारी आपत्ति दूर होजायगी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ)। जब उसका आहुति के लिए आलम्भन (मारना) किया गयातो आलब्ध ऋषभकी वह वाक् (जो कि असुरों को दुःख दिया करती थी) उत्क्रान्त होगई॥ १५॥

वह उत्क्रान्ता वाक् मनावी नामसे प्रसिद्ध मनुपत्नी में प्रविष्ट होगई। तब जिस प्रदेशमें असुर राक्षस बोलती हुई मनुपत्नी के शब्द सुनते थे उस स्थानमें वे भाग खड़े होतेथे। जो हालत इनकी ऋषभ वाक्की थी वही मनु-पत्नीकी वाक् से हुई। उससे भी असुर राक्षस मृतकतुल्यही होगए। फिर असुर उदास हुए और विचार कियाकि (बड़ा अनर्थ हुआ-अपन नें तो सोचा था कि ऋषभ के न रहने से सारी आपत्ति दूर हो जायगी परन्तु आपत्ति दूर होनातो अलगरहा) अपितु यह पत्नी वाक् तो ऋषभ वाक् से भी अधिक दुःख पहुंचाने लगी। (क्योंकि ऋषभ तो पशु होने से कभी कभी बोलता था परं वह केवल ध्वनि वाक् ही थी परन्तु) मानुषी वाक् तो बहुत बोलती है। पशु की अपेक्षा मानुषी वाक् अधिक एवं शब्द रूपसे प्रयुक्त होती है। (इस प्रकार इन्हें दुःखी देखकर) किलाताकुली फिर बोले कि भाइयो! हम मनु को खूब अच्छी तरह जानते हैं। (इसलिये हमें फिर उसके पास जाना पड़ेगा यह निश्चय कर) किलात और आकुली मनुके पास पहुंचे—और कहा कि हे मनु! हम आपको यज्ञ करवाना चाहते हैं।

मनुने पूछा किससे? असुरोनें उत्तर दिया गायासे, मनुनें स्वीकार करलिया। '(किलात और आकुली को विश्वास था कि मनुपत्नी की आहुति देदी जायगी तो फिर कोई आपत्ति न रहेगी-यह सोचकर उन्होने उसका आलम्भन करडाला)। आलब्ध मनुपत्नी की वाक् उत्क्रान्त होगई ॥१६॥

वह उत्क्रान्ता वाक् यज्ञमें आश्रय लेतीहुई यज्ञपात्रोंमें ही प्रविष्ट होगई। बस पात्रोंमें प्रविष्ट उस असुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक्को नष्ट करनेमें, निकालनेमें असुर समर्थ न होसके। बस यहां जो आग्नीध्र शम्यासे ध्वनि करताहै वह असुरघ्नी और सपत्नघ्नी वाक्का ही उच्चारण करताहै। इस प्रकार इस असुरघ्नी सपत्नघ्नी वाग् विज्ञानको जानने वाले विद्वान यजमानके यज्ञमें पूर्वोक्त विधिसे ऋत्विक् लोग ध्वनि करतेहैं—उस यजमानके शत्रु नष्ट भ्रष्ट होजातेहैं। हतप्रभ होतेहुए पाप्मा भावसे आक्रान्त होजातेहैं। (हविः संपादन कालमें क्यों ध्वनि की जातीहै? इसकी यही उपपत्तिहै) ॥१७॥

ब्राह्मण (विज्ञान) बतलादिया गया—अब पद्धति बतलातेहैं—

वह आग्नीध्र—'कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म' (यजुः १।१६) यह मन्त्र बोलताहुआ शम्यासे दृषदुपलपर चोट करताहै। यह कुक्कुट देवताओंके लिए मधुजिह्व (मीठा बोलने वाला) था—असुरोंकेलिए विषजिह्व (कटु बोलने वाला) था। सो जो देवताओंकेलिए जैसा वहथा वही हमारेलिएहो—यही तात्पर्यहै। अन्न और ऊर्क् हमारेलिए बोलो। हम अपने शत्रुओंके समूहके समूहको जीतनेमें समर्थ बनें, यही तात्पर्यहै। मन्त्रार्थमें कोई बात छिपी हुई नहीहै। १८॥

पूर्वके अङ्कोंमें हमनें आख्यानोंके १ आध्यात्मिक, २ आधिदैविक, ३ आधिभौतिक, ४ आध्यात्मिक आधिभौतिक, ५ आध्यात्मिक आधि-

दैविक, ६ आधिदैविक आधिभौतिक, ७ आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक, ८ भगवदाख्यान भेदसे आठ भेद बनजाते हैं-(देखो २४० पृ० सं०) हमारा प्रकृतका यह आख्यान उन आठों आख्यानोंमेंसे सर्वात्मना ५ वें आध्यात्मिक आधिदैविक आख्यानसे सम्बन्ध रखता है। एवं आंशिक रूपसे आधिभौतिक (ऐतिहासिक) भावसे भी इसका सम्बन्ध है। पूर्वोक्त आख्यानमें मनु-मनावी-असुर-किलात-आकुली-इनके पदार्थोंका वैज्ञानिक स्वरूप जानना आवश्यक है। बिना इनके स्वरूप ज्ञानके इस कथाका समन्वय कथमपि नहीं होसकता। इन सबमें से प्रथम मनु स्वरूपकी ओरही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

श्रद्धादेव मनु

> मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
> मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गीता ७।७)
> गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
> प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ (गीता ९।१८)

इस स्मार्त सिद्धान्तके अनुसार आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् भेदभिन्न पञ्चकोशात्मक अव्यय पुरुषही सारे विश्वका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता है। यही अपने अपरप्रकृतिरूप आत्मक्षर भागसे विश्वका उपादान बनता है। पराप्रकृतिरूप अक्षरद्वारा यही सृष्टि कर्त्ता बनता है। एवं अपने शुद्ध अव्यय रूपसे यही जगदालम्बन बनता है। यही विश्वातीत है, यही विश्वस्रष्टा है, यही विश्व है। परात्पर विशिष्ट यही पुरुष 'षोडशी प्रजापति' नामसे प्रसिद्ध है। इस प्रजापतिके-अव्यय भागसे भावसृष्टि होती है, अक्षरभागसे गुणसृष्टि होती है, एवं क्षरभागसे विकार सृष्टि होती है। प्रकृतकी मनुसृष्टिका इन तीनों सृष्टियों में से भावसृष्टिसे ही सम्बन्ध है।

> महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
> मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः (गी० १०।६)

के अनुसार सप्तविभाग, एवं अण्डज-उद्भिज, पिण्डज-स्वेदज भेद-भिन्ना चतुर्द्धा विभक्ता सृष्टिके मूलभूत चारमनु अस्मत्पदसे व्यवहृत अव्ययसेही उत्पन्न होतेहैं। यही अव्यय की भावसृष्टिहै। यही मानसीसृष्टि नामसे पुराणोंमें प्रसिद्धहै। आगेकी सारी प्रजाएं, एवं सारे लोक इन्हीं सातऋषियों, एवं चार मनुओंके आधारपर प्रतिष्ठितहैं। 'एकोऽहं बहुस्याम' इस निश्च कामनासे अव्यय पुरुषका मनही मनुरूपमें परिणत होताहै। जबतक शरीरमें मनोऽवच्छिन्न मनुतत्व प्रतिष्ठित रहताहै तभीतक आयु सत्ता रहतीहै। मनुही आयुका सम्पादकहै। इसी आधारपर—'आयुर्वै मनुः' (कौ० ब्रा० २६।१७) यह कहा जाताहै। पूर्वमें बतलाया जाचुकाहै कि अव्ययही अपने मनकी कामनासे अक्षरद्वारा क्षरसे सम्पूर्ण विश्वका निर्म्माण करताहै। इस अव्यय पुरुषकी अपरा प्रकृतिरूप क्षरभागकी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम यह पांच कलाएंहैं। इन पांचों मर्यकलाओंसे क्रमशः प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न यह पांच विकार उत्पन्न होतेहैं। प्राणकला स्वयम्भू पुरकी जननीहै। आप कला परमेष्ठीकी जननीहै। वाक्कला सूर्य्यकी जननीहै। अन्नाद कला पृथिवीकी जननीहै, एवं अन्न कला चन्द्रमाकी जननीहै।

स्वयम्भू प्राणमयहै, परमेष्ठी आपोमयहै, सूर्य वाङ्मयहै, पृथिवी अन्नादमयीहै, चन्द्रमा अन्नमयहै। इन पांचोंकी समष्टि ही विश्वहै। सर्वथा विभक्त इन पांचों में वह षोडशी आत्मा प्रविष्ट होरहा है। इस षोडशी प्रजापति की व्याप्ति यद्यपि सम्पूर्ण विश्वमें ही रहती है, परन्तु अमृत मर्त्य, अमृतमर्त्य, इन तीन भेदोंके कारण षोडशीकी तीनों कलाओंके (अव्यय-अक्षर क्षर कलाओंके) संनिवेश क्रममें तारतम्य होजाताहै। 'तस्माद्यत् किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' के अनुसार सूर्यके नीचेके पृथिवी और चन्द्रमा मर्त्यभावापन्नहैं। सूर्य्यके ऊपरके स्वयम्भु और परमेष्ठी अमृत भावापन्नहैं।

मध्यपतित सूर्य 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' के अनुसार अमृत मृत्युमय है। उधर अव्यय अमृतमूर्ति है, क्षर मृत्युमूर्ति है, मध्यपतित अक्षर अमृतमृत्यु स्वरूप है। इसी क्रमसे पञ्चकल विश्व में इन तीनों का संनिवेश होता है। सूर्यसे ऊपर के अमृत लोकों में अव्यय की प्रधानता है, नीचे के लोकों में क्षरकी प्रधानता है, एवं मध्यमें अक्षर की प्रधानता है। अव्यय अक्षर-क्षर तीनों क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ शक्तियों के अधिष्ठाता हैं। अव्यय ज्ञानप्रधान है। अक्षर क्रियाप्रधान है। क्षर अर्थप्रधान है। अव्यय ज्ञान क्रिया अर्थका खजाना है। आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण वाक् भेदसे वह पञ्चकल है। इन पांचोंमें-आनन्द विज्ञान मन भाग मुक्तिसाक्षी है। मन-प्राण-वाक् सृष्टि साक्षी है। सृष्टि में इसी भाग की प्रधानता रहती है। सृष्टिसाक्षी अव्यय पुरुष का मन ज्ञानमूर्त्ति है, प्राणक्रिया मूर्त्ति है, वाक् अर्थमूर्त्ति है। इन मे से अव्यय में ज्ञानघन मन प्रधान है, अक्षर में क्रियाघन प्राण प्रधान है, एवं क्षरमें अर्थघना वाक् ही प्रधान रहती है। दूसरे शब्दोंमें अव्यय ज्ञान मूर्त्ति है अतएव वह निष्क्रिय है। क्षर अर्थमूर्ति है- अतएव यह भी जड होता हुआ निष्क्रिय है। सक्रिय है मध्यपतित प्राणमय अक्षर। अव्ययके ज्ञानसे सर्वज्ञ, एवं क्षरके अर्थसे सर्ववित बनता हुआ प्राणमय अक्षर अपने ज्ञानमय तपसे संसार का निर्माण किया करता है। इस सम्बन्धसे यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि अक्षर में अव्यय का भी समावेश है, एवं क्षरका भी समावेश है। इसमें अमृत भी है, मृत्यु भी है। मध्यमें प्रतिष्ठित होकर यह दोनों को अपने अधिकार में किए हुए है। इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर कठश्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्' (कठ २।१६)

आनन्द विज्ञान मन भाग को हमने मुक्तिसाक्षी बतलाया है, अतः

उसका इस सृष्टिमूलभूत यज्ञकाण्ड में प्रधान सम्बन्ध नहीं है । प्रधानता यहां केवल मन–प्राण–वाङ्मय सृष्टि साक्षी अव्यय की ही है। स्वयम्भूमें अव्ययके वाक् भाग की प्रधानता है। परमेष्ठी में अव्ययके वाक् प्राण भाग की प्रधानता है। सूर्य्य में मन प्राण वाक् तीनों की प्रधानता है । चन्द्रमा में वाक् प्राण की प्रधानता है। पृथिवी में वाक् की प्रधानता है। अव्यय रूपहै। प्राण आप वागादि प्रकृतिहै। बहिरंग प्रकृतिहै। स्वयम्भू प्रकृत्यपेक्षया प्राणमयहै। पुरुषापेक्षया वाङ्मयहै। परमेष्ठी प्रकृत्यपेक्षया आपोमयहै। पुरुषापेक्षया वाक्प्राणमयहै। सूर्य प्रकृत्यपेक्षया वाङ्मयहै, पुरुषापेक्षया मनप्राण वाङ्मयहै। चन्द्रमा प्रकृत्यपेक्षया अन्नमयहै पुरुषापेक्षया वाक्प्राण-मयहै। पृथिवी प्रकृत्यपेक्षया अन्नादमयी है। पुरुषापेक्षया वाङ्मयी है। भूतापेक्षया स्वयम्भू आकाशहै । परमेष्ठी वायुहै । सूर्यअग्निहै। चन्द्रमा जलहै। पृथिवी पृथिवी (मृत्तिका) है। पुरापेक्षया यही स्व०-पर०-सू०-च०-पृ० इन नामो से व्यवहृत होते है। देवापेक्षया स्वयम्भू ब्रह्मा है। परमेष्ठी विष्णु है। सूर्य इन्द्र है। चन्द्रमा सोमहै। पृथिवी अग्निहै। इस प्रकार भूत–देव–पुर–प्रकृति–पुरुष भेदसे पांचो के अनेक नाम होजातेहै, जैसा कि निम्न तालिकासे स्पष्ट होजाता है—

	पुरापेक्षया	देवापेक्षया	प्रकृत्यपेक्षया	पुरुषापेक्षया	भूतापेक्षया	
१	स्वयम्भूः	ब्रह्मा	प्राणः	वाक्	आकाशः	
२	परमेष्ठी	विष्णुः	आपः	वाक्प्राणौ	वायुः	तदिदंविश्वम्
३	सूर्य्यः	इन्द्रः	वाक्	वाक्प्राणमनांसि	अग्निः	
४	चन्द्रमाः	सोमः	अन्नम्	वाक्प्राणौ	जलम्	
५	पृथिवी	अग्निः	अन्नादः	वाक्	पृथिवी	

१ स्वयम्भूः २ परमेष्ठी	अमृतमण्डलम्=परब्रह्म=अव्ययप्रधानम्=ज्ञानमयम्	ईश्वरप्रजापति
३ सूर्यः	अमृतमृत्युमण्डम्=परावरब्रह्म=अक्षरप्रधानम्=क्रियामयम्	
४ चन्द्रमाः ५ पृथिवी	मृत्युमण्डलम्=अवरब्रह्म=क्षरप्रधानम्=अर्थमयम्	

पूर्वकी तालिकामे यह भलीभांति स्पष्ट होजाताहै कि, सूर्य विश्व के केन्द्रमें प्रतिष्ठितहै, एवं उसका सम्बन्ध अवरब्रह्मात्मक मृत्युमय चन्द्र पृथिवी लोकसे भी है, एवं परब्रह्मात्मक अमृतमय स्वयम्भु परमेष्ठी से भी है। वह दोनों का यथास्थान संनिवेश कररहा है अतएव हिरण्यगर्भमूला सृष्टिमें सम्पूर्ण विश्वका अधिष्ठाता केन्द्रस्थ सूर्य ही माना जाता है। सत्ताधारण ही वस्तु का जन्म कहलाता है। सर्वथा असत्घट-मिट्टी की मन प्राणवाङ्मयी सत्ता को लेकर 'अस्तिमान्' बनजाता है। यही घटका जन्म है। वस्तु की सत्ताकेलिए दूसरे शब्दोंमें उसके जन्मके लिए 'मन-प्राण-वाक् तीनों का समुच्चय अपेक्षित है। बिना तीनों के वस्तु के लिए 'अस्ति'-प्रयोग नहीं हो सकता। क्योंकि सत्ताका 'मनः प्राण वाचां संघातः सत्त' यही लक्षण है। पांचों विश्वपर्वोमें मध्यपतित सूर्यही मन प्राण वाङ्मयहै। अस्तिमन् पदार्थों में रहने वाले भातिका (मन प्राण वाक्का) उदय मध्यस्थ सूर्यमें ही होता है। आगे होने वाली सृष्टियों में इसी सूर्य सत्ताका सम्बन्ध होता है। अतएव हम कहसकते हैं कि, उत्पन्न होनेवालों में पहिला स्थान सूर्य का ही है। इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर मन्त्र श्रुति कहती है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(यजुः संहिता)

अण्डज–पिण्डज–उद्भिज्ज स्वेदज इन चारों सृष्टियों का मूल यही हिरण्यगर्भ सूर्य प्रजापति है। इसी आधार पर 'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः अयन्नर्थः कृण्वन्नपांसि' 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः संहिता) इत्यादि कहाजाताहै। बस अक्षरावच्छिन्न मन प्राणवाङ्मय सर्वसृष्टि प्रवर्त्तक उस मनोमय अव्यय तत्त्वकाही नाम 'मनु' है पुराणशास्त्रनें इसी को 'कालाग्नि' कहा है। यही काल पुरुष नाम से प्रसिद्ध है। यह काल पुरुष ही महामाया से अवच्छिन्न होकर अशनायारूप पाप्मासे आक्रान्त होता हुआ सृष्टि कामनासे प्रकृतिद्वारा सर्वहुत यज्ञका अधिष्ठाता बनताहुआ 'यज्ञपुरुष' नामसे प्रसिद्ध होजाताहै। इस यज्ञपुरुष प्रजापतिका पूर्ण विकास सूर्यमें ही होताहै जैसाकि पूर्वमें बतलाया जाचुकाहै।

कालपुरुष कालाग्नि स्वरूपहै। मातरिश्वा वायु द्वारा आहुत होनेवाले षड्ब्रह्म (३ भृगु–३ अंगिरा) स्वरूप आपतत्त्व (अथर्व वेद) के समन्वयसे यही कालाग्नि पूर्व कथनानुसार यज्ञस्वरूपमें परिणत होताहुआ सम्पूर्ण विश्वका प्रभाव बनताहै। यह कालाग्नितत्त्व भिन्न भिन्न प्रकरणों में ब्रह्माग्नि, वेदाग्नि, सार्वयाजुषाग्नि, यजुरग्नि, प्रथमजब्रह्म, प्रतिष्ठाब्रह्म, स्वायम्भुवब्रह्म, प्राणब्रह्म, ऋषि, आदि अनेक नामों से व्यवहृत हुआ है। इसी सर्वमूल भूत अग्नितत्त्व का नाम 'मनु' है। सृष्टिविद्या के अनुसार क्षरब्रह्म मरण धर्म्मा है। क्योंकि 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इस गीता सिद्धान्त के अनुसार भौतिक प्रपञ्च ही क्षरहै। एवं सारा भौतिक प्रपञ्च मर्त्यहै। क्षरका अधिष्ठाता अक्षर शाश्वत ब्रह्म है, नित्य तत्त्वहै। श्वोवसीयस मनोमय अतएव मनु स्वरूप अव्ययानुगृहीत अक्षरतत्त्व का विकास हमने सूर्यमें बतलाया है। यही अक्षर मनुरूपमें परिणत होकर, दूसरे शब्दों में अव्यय तत्त्वसे अभिन्न बनकर सर्वज्ञ एवं सर्ववित् बनता हुआ अपने ज्ञानमय तपसे विश्वका निर्म्माण करता है। अतएव इस मनुतत्त्वको हम अवश्य ही शाश्वत ब्रह्म

माननेके लिए तय्यारहैं। वस्तुतस्तु शाश्वतब्रह्म 'परात्पर' का नामहै। अव्ययभी मायाच्छन्द के कारण शाश्वत नहीं माना जासकता। 'संयोगा विप्रयोगान्ताः, के अनुसार मायाके संयोगसे अपना अव्ययपना सुरक्षित रखने वाला अव्यय कदापि शाश्वत तत्व नहीं होसकता। वैज्ञानिकी परिभाषामें क्षरतत्व 'ब्रह्म' नामसे प्रसिद्धहै, अक्षर अमृतनामसे व्यवहृत होताहै, अव्यय प्रसिद्धही हैं। रस बल की समष्टि रूप परात्पर 'शाश्वतधर्म्म' नामसे व्यवहृत होताहै, एवं शुद्ध रस स्वरूप अतएव आनन्दघन निर्विशेष 'ऐकान्तिक सुख' नामसे प्रसिद्धहै। रस बलात्मक ब्रह्मके इन्हीं पांचों विवर्त्तोंका निरूपण करतेहुए भगवान् कहतेहैं—

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गी। ..)

ईश्वर संस्थाके पांचों, जीवसंस्थाके पांचोंकी प्रतिष्ठाहैं, यही तात्पर्य्य है।

उपरोक्त स्मृतिनें रसबलात्मक परात्परके लिएही 'शाश्वतधर्म्म' शब्दका प्रयोग कियाहै। एवं यह यथार्थभी है। ऐसी अवस्थामें शाश्वतब्रह्मही मनुतत्वहै, एवं वह मनु अव्ययानुगृहीत अक्षरही है, इस वाक्यमें विरोध आता है। इसके परिहारके लिए संचरक्रमको प्रधान मानना पड़ेगा। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' के अनुसार रसबलात्मक वही शाश्वतब्रह्म (परात्पर) मायाके उदयसे ससीम बनताहुआ हृदयबल (केन्द्रबल) से युक्त होजाताहै। इसी हृदयावच्छिन्न मन नामसे प्रसिद्ध शाश्वतब्रह्मका नाम 'मनु' है। हृदयभावके कारण वही परात्पर अव्यय बनजाताहै। अतः अव्ययको भी मनु कहा जासकताहै। एवं इसी हृ-द-य-का नाम अक्षर तत्वहै, अतएव अव्ययानुगृहीत अक्षरको भी मनु कहा जासकताहै। ऐसी अवस्थामें अव्ययानुगृहीत

मनोमय अक्षररूप मनुको 'शाश्वतब्रह्म' माननेमें कोई आपत्ति नहीं रहजाती। मनुतत्व अवश्यही इवाश्वत ब्रह है। परन्तु प्रधानदृष्टि अणोरणीयान् महतो महीयान् से परात्परकी ही ओरहै, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा—

पूर्व कथनानुसार सूर्य्यमें इसका विकास होताहै। सूर्य्य गायत्री मात्रिक वेदाग्नि स्वरूपहै। अतएव इस मनुको 'अग्नि' भी कहा जासकताहै। 'यथाग्नि गर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' (शत० १४।८।४।२४) के अनुसार सूर्य्योपलक्षित द्युलोक मघवा नामसे प्रसिद्ध इन्द्रप्राणमयहै। इसलिए मनु को इन्द्रभी कहा जासकताहै। रोदसी त्रैलोक्य, एवं उसमें होनें वाले १४ प्रकारके भूतसर्गोंका अधिष्ठाता भी यही मनुहै। दूसरे शब्दोंमें यही सारी प्रजाका प्रभव प्रतिष्ठा परायणहै। इसलिए इसे 'प्रजापति' भी कहा जासकताहै। यह मनु प्राणाग्नि स्वरूपहै। अतएव इसे प्राणभी कहा जासकताहै।

स्वयम्भू परमेष्ठी में हमने षोडशी प्रजापतिके अव्यय भागकी प्रधानता बतलाईथी, चन्द्रमा पृथिवीमें क्षरभागको प्रधान बतलायाथा, एवं मध्यस्थ अमृतमृत्युमय इन्द्रप्राणमय सूर्यमें अक्षरका विकास बतलायाथा। एवं साथही में यहभी कहाथा कि मध्यस्थ क्रियामय अक्षर अव्यय और क्षर दोनों का संचालन करने से अव्यय संपत्तिसे भी युक्तहै, एवं क्षर संपत्तिसे भी युक्तहै। अतएव इस अक्षर तत्वको ब्रह्म (क्षर) भी कहाजाताहै, एवं पर (अव्यय) भी कहाजाताहै। इस प्रकार इस इन्द्र प्राणमें षोडशी प्रजापति (परा पर—पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर प्रजापति) की सत्ता सिद्ध होजाती है। इसी विज्ञानके आधारपर 'इन्द्रो ह वै षोडशी' यह निगम प्रतिष्ठितहै। अतएव ग्रहयागमे इन्द्रके लिए षोडशी ग्रहका ही ग्रहण किया जाताहै। इसी इन्द्र प्राणमय सौर तत्वका नाम मनुहै, दूसरे शब्दोंमें मनुमय इन्द्र प्राण है। 'सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च—'तं मां आयुरमृतमित्यु-

शास्त्र' (कौ० उ० ३ २) के अनुसार यही इन्द्रप्राणमय मनु आयुका अधिष्ठाताहै, अतएव पूर्वमें इसके लिए 'आयुर्वै मनुः' कहाहै। अक्षर प्रशास्ता कहलाताहै। विष्णु ह अक्षरहै, इन्द्र द अक्षरहै। ब्रह्मा यम् अक्षरहै। तीनोंकी समष्टि 'हृदयम्' है। यही हृदयस्थ अन्तर्यामी है। प्रत्येक वस्तुके केन्द्रमें प्रतिष्ठित होकर यह उसका अपने नियति दण्डसे संचालन कररहा है। अक्षररूप मनुही कालका अधिष्ठाता बनताहै, अतएव इस अक्षरदण्डको 'कालदण्ड' भी कहा जाताहै। 'तस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधतः' (बृह० उ०) 'भीषास्माद् वातोदेति, भीषोदेतिसूर्यः' (तै० उ०) इत्यादि के अनुसार यही अक्षर सबका प्रशास्ताहै। मनु रूपसे यही सूर्य्यमें विकसित होताहै। बस अक्षर दृष्टिसे इस मनुको हम अवश्यही सबका प्रशास्ता कहनेके लिए तय्यारहैं।

परात्पर व्यापक तत्वहै। शाश्वत धर्म्महै। अणुसे अणु और महान्से महान् सबमें इन्हीं दो रूपोंसे व्याप्तहै। षोडशीरूप मनुमें इसकी भी सत्ता है। अतएव परात्परापेक्षया हम इस मनुको अणोरणीयान् भी कहसकते हैं। 'हिरण्मयेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्' (यजुः सं०) के अनुसार यह मनु हिरण्मय (अग्निमय) है। अतएव इसे 'रुक्माभ' भी कहा जासकताहै। सूर्य्यका दृश्य रुक्मभाग भौतिकहै। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि के अनुसार यह भाग क्षरप्रधानहै। सूर्य्यात्मक मनुमें इस क्षर भाग की भी सत्ताहै, इसी रहस्य को बतलानेके लिए इसे 'रुक्माभ' भी कहा जाताहै। परात्पर केवल स्वप्नधीगम्यहै। स्वप्नमें इन्द्रिय व्यापार बंद होजाताहै। केवल मनव्यापार होताहै। यही मन मनुका परिचायक है। अतएव इसे स्वप्नधीगम्यही कहा जासकताहै। इसमें अव्ययका भी विकासहै, अतएव इसे परपुरुष (अव्यय) भी कहा जासकताहै।

इसप्रकार "अक्षर समन्वयसे प्रशास्ता, परात्परके समन्वयसे अणोरणीयान्, क्षरके समन्वयसे रुक्माभ, मनोमय होनेसे स्वप्नधीगम्य, अव्यय युक्त होनेसे परपुरुष, वेदाग्निरूप होनेसे अग्नि, सर्वसृष्टि प्रवर्तक होनेसे प्रजापति, सौरप्राणमय होनेसे इन्द्र, ऋषि प्राणघन होनेसे प्राण, परात्पर युक्त होनेसे शाश्वतब्रह्म इत्यादि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होने वाला, अव्यय-मनोऽवच्छिन्न अक्षररूपसे सौरमण्डल में प्रतिष्ठित होनेवाला संसार चक्र-का प्रवर्त्तक तत्वही 'मनु' है" यह उपरोक्त प्रकरणसे भलीभांति सिद्ध हो-जाताहै। इसी मनुस्वरूपको लक्ष्यमें रखकर भगवान् मनु कहतेहैं—

प्रशासितारं सर्वेषां—मणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥
(मनुः १२।१२२)

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥
(मनुः १२।१२३)

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥
(मनुः १२।१२४)

यही कालाग्नि स्वरूप मनु, रूप विभेदसे-संवत्सर, अयन, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त्त, घटिका, होरा, आदि अनेक रूपोंमें परिणत होता हुआ संसार चक्रका प्रेरक बनरहाहै। पुराण परिभाषाके अनुसार मुहूर्त्तको ही मनु कहाजाताहै। मनु ही मन्वन्तरहै। मनुको हमने आयु स्वरूप बतलायाहै। 'आयुर्मर्म्माणि रक्षति, आयुरन्नं प्रयच्छति' के अनुसार आयु सूत्र ही मुहुर्मुहु आत्मा का

त्राण किया करताहै, अतएव प्राणरूप मनुको 'मुहुस्त्रायते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अवश्य ही 'मुहूर्त्त' कहसकते हैं। अहरागम सृष्टिकाल कहलाताहै, राज्यागम प्रलयकाल कहलाताहै। 'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमांगतिम' (भगवद्गीता) के अनुसार अव्यक्त नामसे प्रसिद्ध अक्षरही अहरागममें व्यक्त होकर सृष्टि का अधिष्ठाता बनजाता है, एवं राज्यागम में वही मनुरूप अक्षर पुनः अपने अव्यक्त भाव को प्राप्त होता हुआ प्रलयका अधिष्ठाता बनजाता है।

'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥'

यह इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। सृष्टि ब्रह्माका दिन है, प्रलय रात्रि है। मनुप्रजापति के इस अहः कालके भी उपाधिभेद से १५ विभाग हो जातेहैं, एवं रात्रिकालके भी १५ विभाग होजाते हैं। पञ्चदश भागों में विभक्त दिन, एवं पञ्चदश भागोंमें विभक्त रात्रि दोनों में आत्मरक्षा करना इसी मनुका काम है। दिन रात सुखपूर्वक इसी प्राणरूप मनु की कृपा से व्यतीत होते हैं। अतएव अहोरात्र के यह ३० विभाग 'मुहूर्त्त' नामसे प्रसिद्ध होजाते हैं। इन का स्वरूप लोकम्पृणा नामकी इष्टकाओं से सम्पन्न होता है। यह मुहूर्त कालके अवान्तर क्षुद्रखण्ड हैं। इन्हीसे लोकच्छिद्र पूर्ण होते हैं। अतएव मुहूर्तों को अवश्य ही लोकम्पृणा इष्टका कहा जासकता है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"लोकम्पृणाभि (इष्टकाभिः) मुहूर्त्तान्-आप्नोति" (शत०१०।४।३।१२)

'अथ यत् क्षुद्राःसन्त इमाँल्लोकानापूरयन्ति तस्मात (मुहूर्ताः) लोकम्पृणाः" (शत० १०।४।३।१८)

मानुष अहोरात्र में ६० घड़िएं होती हैं। 'एवं मूहूर्त्तो घटिकाद्वयम्' के अनुसार दो घडी का एक मुहूर्त होताहै। हमारे अहोरात्रके सम्बन्ध में जो कालाग्निखण्ड ' मुहूर्त्त ' नाम से प्रसिद्ध है, ब्राह्म अहोरात्र के सम्बन्ध में वही मुहूर्त्त 'मनु' किंवा मन्वन्तर नामसे प्रसिद्धहै एवं जिसे हम तिथि कहते हैं, वही ब्राह्म पक्षमें कल्प कहलाता है। १५ मन्वन्तर अहःकालहै १५ मन्वन्तर रात्रिकालहै। एक मन्वन्तर प्रातः संध्यामें चलाजाताहै। एवं एक मन्वन्तर सायं सन्ध्यामें भुक्त होजाताहै। इसप्रकार १४ मन्वन्तर अहःकाल में शेष रहजातेहैं, एवं १४ मन्वन्तर रात्रि कालमें बचरहते हैं। एक सृष्टि-कालकी सत्ता १४ मन्वन्तरों तक अपनी व्याप्ति रखती है। अस्तु यह विषय अप्राकृत है। इससे प्रकृतमें केवल यही दिखलाना है कि पूर्वोक्त मनुतत्त्व ही उपाधिभेद से मन्वन्तर स्वरुपमें परिणत होता हुआ सृष्टि-प्रलय समष्टिरुप संसार चक्रका प्रवर्त्तक बनता है। मन्वन्तरों के इन्हीं ३० खण्डों का स्वरूप बतलाती हुई वाजिश्रुति कहती है—

'स (मनुप्रजापतिः) पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यत्—आत्मनस्तन्वो मुहूर्त्ता लोकम्पृणाः। पञ्चदश वै रात्रेः। तद् यन्मुहुस्त्रायन्ते—तस्मान् मुहूर्त्ताः' (शत० १०।४।२।१८)

यह तो हुआ सर्वव्यापक विश्वकेन्द्रस्थ आधिदैविक सर्वाग्निप्राता. संसार चक्र प्रवर्त्तक मनु का संक्षिप्त निरूपण। अब मनुपत्नी 'मनावी' की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाताहै—

---

१ इस विषयका विशद विवेचन हमारे लिखेहुए—'मनन्तर रहस्य' नामके निबन्धमें देखना चाहिए। यह अभी मुद्रणसापेक्षहै।

मनुपत्नी मनावी'

सर्वव्यापक पूर्वोक्त मनु पुरुष है। इस पुरुषकी सोममयी शक्ति का ही नाम 'मनवी' है। मनुका हमने मनसे सम्बन्ध बतलाया है। श्रद्धातत्त्व ही इस मनुरूप मन की शक्ति है। श्रद्धाके समन्वयसे ही मनु द्वारा सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दोंमें मनु वृषा (पुरुष भाग) है श्रद्धा योषा (स्त्री भाग) है। इन्हीं दोनों के मिथुन से सारी सृष्टियें होती है। छान्दोग्य उपनिषदोक्त पञ्चाग्निविद्याके अनुसार यही श्रद्धातत्त्व क्रमशः सोम–पर्जन्य–वृष्टि–ओषधि–रेत–इन रूपोंमें परिणत होता हुआ पुरुष सृष्टि का कारण बनता है। इसी आधार पर 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति' (छां० उपनिषत्) यह कहाजाता है। सारे देवता, सारे भूत–स्थावर जंगमात्मक सारा विश्व इसी श्रद्धारूपिणी मनुशक्ति अतएव मनावी नामसे प्रसिद्ध मनुपत्नी के समन्वयसे ही होता है। इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

> श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया विन्दते हविः।
> श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा ऽऽवेदयामसि ॥
>
> तै० ब्रा० २।८।८।६

> श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
> श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या श्रद्धया हूयते हविः ॥
>
> तै० ब्रा० २।८।८।७

> श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
> श्रद्धां सूर्य्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह मा ॥
>
> तै० ब्रा० २।८।८।८

श्रद्धा देवानधिवस्ते "श्रद्धा विश्वमिदंजगत्" ।
श्रद्धा कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि ॥
तै०ब्रा० २।८।८।८

'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक् संहिता) के अनुसार काम मनसे उत्पन्न होता है। मन ही मनु है। श्रद्धा के मिथुन से ही मनरूप मनुसे कामतत्व उत्पन्न होता है। इसी आधार पर मनुको कामनाओं का पिता कहा जासकता है। एवं श्रद्धाको कामनाओं की जननी माना जासकता हैं। अपनी इसी श्रद्धापत्नी के समन्वयसे यज्ञ करते हुए मनु विश्व का संचालन कर रहे हैं। यह मनु श्रद्धाके अधिष्ठाता हैं। श्रद्धा के देवता हैं। उसके पति हैं। अतएव इन्हें 'श्रद्धादेव' नामसे व्यवहृत किया जाता है। इस श्रद्धातत्व का तेजरुप से विकास सूर्य्य मण्डल में ही होताहै। श्रद्धा सौम्यतत्व है। इसका प्रभवस्थान परमेष्ठि है। यही सूर्य्यमें आहुत हाकर 'तेजोरुप' में परिणत होती हुई विश्वकी जननी बनती है। अतएव इसके लिए 'तेज एव श्रद्धा' (शत० ११।३।१।१) यह कहाजाता है। पुरुष ही प्रकृति की आधार भूमि है। प्रकृतिरूपा शक्ति का विकास पुरुष के आधार से ही होता है। दूसरे शब्दों में शक्ति का उत्पत्तिस्थान पुरुष ही है। अतएव विज्ञान कोटिमें इसे उस पुरुष की दुहिता भी बतलाया जासकताहै। 'अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः' के अनुसार वह सौर मनु पुरुष अपने ही भागसे श्रद्धा का विकास करता हुआ, उसीके साथ मिथुन भाव को प्राप्त होता हुआ विराड्यज्ञ को प्रवृत्त करताहै। ऐसी अवस्था में हम इस श्रद्धातत्व को सौर मनुकी लडकी भी बतलासकतहै, एवं पत्नी भी बतला सकतेहै। इसी आधार पर 'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता' (यजुः १९।४=शत० १२।७।३।११) यह निगम प्रचलित है। पदार्थविधामें पति-पत्नी-दुहिता पुत्र-पिता-सब व्यवहारो में सांकर्य्य है। कहीं अग्नि पुत्रहै-प्रजापति पिता

है। कहीं प्रजापति अग्नि का पुत्र है, अग्नि प्रजापति का पिता है। कहीं देवता प्रजापति के पुत्र हैं, तो कहीं प्रजापति देवताओं के पुत्र हैं। 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' के अनुसार पदार्थ विद्यामें सारे संकर व्यवहारों का समन्वय होजाता है। इसी व्यवहार का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

'स एष पिता पुत्रः। यदेषो ऽग्निमसृजत—तेनैषोऽग्नेः पिता। यदेतमग्नि समदधात तेनैतस्य अग्निः पिता। यदेष देवानसृजत, तेनैष देवानां पिता। यदेतं देवाः समदधुस्तेनैतस्य देवाःपिता, उभयं हैतद् भवति—पिताच पुत्रश्च (पि०)प्रजापतिश्च (पु०) अग्निश्च। (पि०) अग्निश्च (पु०) प्रजापतिश्च। (पि०) प्रजापतिश्च (पु०) देवाश्च। (पि०) देवाश्च (पु०) प्रजापतिश्च। (शत० ६।१।२।२६—२७) इति।

ऐसी अवस्था में सौर पुरुष के अंग से विकसित होने के कारण हम श्रद्धाको सूर्य्य की दुहिता भी मान सकते हैं, एवं मनु के साथ मिथुन भावको प्राप्त होकर सृष्टि करने के कारण इसे मनुपत्नी भी माना जासकता है। पदार्थविद्या सम्बन्धी विज्ञान काण्डमें ऐसा माननेमें पर भी कोई आपत्ति नहीं होती। निःकर्ष यही हुआ कि सौरमण्डल में तेजरूपसे उद्भूत होनेवाला पारमेष्ठ्य सोममय सर्वजगत प्रवर्तक श्रद्धातत्व ही मनुपत्नी 'मनावी' है। इसके समन्वयसे सर्व प्रथम भगवान् मनु 'ऋषभ' नामसे प्रसिद्ध विराट् यज्ञ को ही उत्पन्न करते हैं।

ऋषभ—

गौतत्व का ही नाम 'ऋषभ' है। यह गोतत्व—

"वाग विराड् गौरिडा भोगा गावःपञ्चविधाः स्मृताः"

(ब्रह्मविज्ञानचय ज्ञर काण्ड)

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार वाक्, विराट्, गौ, इडा, भोग, भेदसे पांच भागों में विभक्त है। वषट्कार मण्डल वाङ्मयी गौ है। दर्शपिप्राण समष्टि विराड् गौ है। सूर्य्य गौरूप गौ है। पृथिवी इडा गौ है, एवं चन्द्रमा भोगरुपा गौ है। आनन्दविज्ञानघन मनप्राणगर्भिता अव्यय वाक् ही सम्पूर्ण विश्व का आलम्बन है। इस वाक् का विकास वेदरूप से सर्वप्रथम स्वयम्भूमें ही होताहै जैसा कि प्रकरणके प्रारम्भ मे ही बतलाया जाचुका है। यही स्वायम्भुवी आकाशनाम्नी वेदमयी वाक्–क्रमशः वायु–तेज–जल पृथिवी–रूपोमें परिणत होती हुई सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होजाती है। अतएव इसके लिए 'अथो वागवेदं सर्वम्' यह कहा जाता है। यही वाक्तत्त्व गौ नामसे भी व्यवहृत होता है, अतएव 'गौर्वा इदं सर्वम्' यह भी कहा जासकता है। जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा—

पूर्वप्रकरणमें स्वयम्भूको हमने पुरुषापेक्षया वाङ्मय बतलाया था, प्रकरण संगति के लिए आज पुनः उस प्रकरण की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाताहै। स्वयम्भू प्राणमय ब्रह्माहै। यह प्राणमय ब्रह्मा किंवा वेदमूर्त्ति ब्रह्मा उस आनन्दविज्ञानघनमनप्राणगर्भिता अव्यय वाक् का विकास मात्रहै। वही पुरुष वाक् (जिसकाकि आलम्बन हृदयस्थ अव्यय का श्वोवसीयस मनहै) प्रकृतिरूप प्राणमय ब्रह्माकी अधिष्ठात्री बनती है। इसी वाङ्मय प्राणतत्त्वसे, दूसरे शब्दोंमें प्राणमय वाक्तत्त्वसे 'विराट्' का जन्म होता है। यही आपोमय विष्णु है। १० अक्षर के छंद का ही नाम विराट् है। जैसाकि प्रथम वर्षके अंकमें 'विराड् वै यज्ञः' 'इसका निरूपण करते समय विस्तारसे-बतलाया जाचुका है। स्वयम्भू की वाक् वेदमयी है। वेदतत्व ऋक–यजुः–सामभेदसे तीन भागो में विभक्त है। त्रिधाविभक्त वेदका यजु भाग यत्– जू रूप स्थितिगत्यात्मक प्राण वाक् संपत्ति से युक्तहै। यत् गतिप्रकृतिक प्राणतत्वहै, जू स्थिति प्रकृतिक

वाङ्मय है। भाग से व्यापार से यही वाङ्मय अग्नरूपसे हुत होता हुआ आपोरूपमें परिणत होजाता है। इसी आपतत्त्व का नाम परमेष्ठी है। इसमें तेज और स्नेह दोनों तत्वों का समन्वय है। तेज तत्त्व अंगिरा है। स्नेहतत्त्व भृगु है। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्' के अनुसार दोनों की समष्टि 'आप' है। मातरिश्वा द्वारा इस आप तत्त्वका उसी ब्रह्माग्निरूप यजुरग्निमें आहुति होती है। इसी आहुति से दशाक्षर विराट् का जन्म हो जाता है। ऋक्–सोम, यत्–जू–आप–वायु–सोम–अग्नि–यम–आदित्य–ही दशाक्षर हैं। ऋक्साम प्रसिद्ध हैं। यत् जू यजू है। यही परोक्ष भाषाके अनुसार यजुर्वेद है। आप–वायु–सोम भृगु हैं। अग्नि–यम–आदित्य अंगिरा है। दोनों की समष्टि आप है। यही अथर्वा है। 'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः, शान्तया विश्रया महापः माश्रित–तत आपोऽनिरवर्तत' के अनुसार स्वायम्भुव त्रयीवेद उस परमेष्ठी आपमें अन्तर्लीन होजाता है। सुतरां परमेष्ठी का विराट्पना सिद्ध होजाता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं– वाक् से विराट गौ उत्पन्न होती है। यही आपोमय विष्णु है। इस विराट् से गौरूपधरा गौ उत्पन्न होती है। और गोही गौ है। इसकी उत्पत्ति पारमेष्ठ्य विराट् से ही होती है। इस गौसे (जो कि गौ पशु रूपा है) इडा गौ उत्पन्न होती है। इडा से भोग गौ उत्पन्न होती है। गौ व्रणग भागतत्त्व का नाम है। स्वयम्भू में इसका विकास वाक्रूपसे होता है। परमेष्ठी म विराड्रूपसे होता है। सूर्यमें गौ (रश्मि) रूपसे होता है। पृथिवी में इडारूप से होता है। एवं चन्द्रमा में भोगरूप से होता है। स्वयम्भूरूपा स्वयम्भू भूमा सृष्टि प्रक्रमके अनुसार स्वयम्भू से परमेष्ठी उत्पन्न होताहै। परमेष्ठी से सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ है। सूर्य से तदुपग्रह भूता पृथिवी उत्पन्न हुई है। पृथिवी से तदुपग्रहभूत चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है। यही क्रम गौ की उत्पत्ति का है। स्वयम्भू की गौतत्त्व की सर्व व्याप्ति का वाक् पहली गौ है।

इससे पारमेष्ठिनी विराट् गौ उत्पन्न होती है। इससे सूर्य्य मण्डलास्था गौ उत्पन्न हुई है। इससे पृथिव्युपादानभूता इडा गौ उत्पन्न हुई है। इससे चान्द्रमसी भागरूपा गौ उत्पन्न हुई है।

इस प्रकार त्तराक्षरविशिष्ट अव्ययप्रजापतिके श्वोवसीयस मनसे प्रादुर्भूत वाक्गौही क्रमशः विराट्–गौ–इडा–भोग– इनरूपोंमें परिणत हो जाती है। दुसरे शब्दो में एकही गौतत्व पाचस्थानों में विभक्त होकर भिन्न भिन्न नाम रूप कर्म्मोंसे सम्बन्ध करलेता है। ईसी गौविज्ञान को लक्ष्यमें रखकर कृष्णश्रुति कहती है—

'प्रजापतिर्वा एकएवासीत। सोऽ कामयत वहुमनुस्या प्रजायेयेति। स आत्मानमैद्द। समनोऽसृजत। तन्मन एकधासीत्। तदात्मानमैद्द–तद्वाचमसृजत। सावागेकधासीत। तदात्मानमैद्द–साविराजमसृजत। साविराडेकधासीत। सात्मानमैद्द–सागामसृजत सा गौरेकधासीत्। सात्मानमैद्द–सेडामसृजत। सेडैकधासीत। सात्मानमैद्द–सेमान भोगानसृजत यदस्यां इदं मनुष्या भुञ्जन्ते। एषेवास्य भोगाः। गौ वैं वाक्, गौर्विराट्, गौगौः, गौरिडा, गौर्भोगाः। गौरिद सर्वम्।' (तै० सं० गौनामिकाध्याय २ पु० । ३।३।३)

१–वाक् गौ

वाक्, गौ, इडा, भोग, पशु इन पांचो गोतत्वोका निरूपण यद्यपि प्रकृत तथापि प्रकरण संगति के लिए इनका संक्षिप्त स्वरुप बतलादेना अनुचित न होगा। देवपात्र स्वरूप सुप्रसिद्ध वषट्कार मण्डल ही वाक् गौ है। वषट्कार मण्डल वाङ्मय है मनप्राणगर्भित वाक्तत्व ही वाक् है। मन अकार है। प्राण उपकार है। वाक् मकार है। मन अर्थ सृष्टिमें असंसृष्ट है। निर्लेप है। सुसूक्ष्म है। वाक् तत्व संसृष्टहै, सलेप है। स्थूल है। मध्यपातत प्राणतत्व

संसृष्टासंसृष्ट है। सलेप निर्लेप है। सूक्ष्म है। इसी रहस्यको बतलाने के लिए इन तीनों को अ—उ—म—इनसे व्यवहृत किया जाता है। शब्द सृष्टि में अ असंसृष्ट है। इसमें कण्ठताल्वादिका मेल नहीं होता। जो स्थिति अर्थ सृष्टि में मनकी है, अर्थ सृष्टिमें वही स्थिति अकारकी है। म स्पृष्ट वर्ण है। 'कादयो मावसाना स्पर्शा' के अनुसार मकार अन्तिम स्पृष्ट वर्ण है। अर्थसृष्टि में अन्तिम विकारभूत जो स्थिति वाक् तत्वकी है, शब्द सृष्टि में वही स्थिति मकार की है। मध्यपतित उ में ओष्ठ सिकुड जाते हैं। परन्तु संसृष्ट नहीं होते। यही स्थिति मध्यपतित प्राणकी है। अतएव इसे उकार कहा जाता है। मन विष्णु है, इसी आधार पर 'अकारो वासुदेवः स्यात्' कहाजाता है। उ शिव है—अतएव 'उकारस्तु महेश्वरः' कहा जाता है। वाक् ब्रह्म ब्रह्मा है। स्वयम्भू वाङ्मय है। यही ब्रह्मा है। जैसे वैष्णवी सृष्टि में विष्णु की प्रधानता है, इसी प्रकार शैवसृष्टि में उकार रूप प्राणात्मक शिवतत्व प्रधान है। इसी रहस्य को बतलाने के लिए अ—उ—म—इस क्रमको उलटकर उकार रूप शिवतत्व की प्रधानता के कारण उकार का प्रथम समावेश करदिया जाता है। उ—अ—म्—यह स्थिति हो जाती है। उकार को वकार होजाता है वकार का आकार के साथ सम्बन्ध हो जाता है। 'वम्' बनजाता है। शिव की आराधना में जो 'बम्शंकर' बोला जाता है इसका यही रहस्य है। बतलाना यही है कि अ- उ—म—की समष्टि ही मन प्राण वाक् की समष्टि है। यही आत्मा है। यही अ—उ—म—ओम् है। इसी अधारपर—

'तस्यवाचकः प्रणवः' 'ओमित्येवंध्यायथ आत्मानम्' यह कहा जाताहै। मकार वाक् तत्व है-यह पूर्वकथन से भली भांति सिद्ध हो जाता है मकाररूप वाक् तत्व बिना मन प्राण के सर्वथा अनुपपन्न है, अतएव यह मन प्राण गर्भिता वाक् वौक कहलाती है। अ—उ—मिलकर ओ है। यह ओ वाक् के मध्यमें है ऐसी स्थिति में वा ओ क्—से वौक् शब्द निष्पन्न होजाताहै।

स्वयं वाक् शब्द भी इसी रहस्य को प्रकट करता है जो तत्त्व मन प्राण की अपेक्षा रखता है—वही मतश्च प्राणश्च अग्निः' इस अनुशासनसे वाक् कहलाता है। उ-अ-से व वा—अक् के अकारके साथ सम्बन्ध होने से वाक् शब्द निष्पन्न हुआ। यह वाक् तत्त्व प्रत्येक वस्तुपिण्ड से निकल कर अपनी १००० किरणों को वितत करता हुआ एक महा मण्डल बनाता है। यही महामण्डल पुनःपद विश्वरूप, साहस्र, महिमा आदि अनेक नामो से व्यवहृत होता है। यही मण्डल 'वषट्कार' नामसे प्रसिद्ध है। १००० वाक्गौ है। इनमें ३०—३० गौ की एक एक राशि का नाम एक एक अहर्गण है। इस प्रकार ९९९ में ३३ अहर्गण होजाते हैं। १० शेष बचजाते हैं। यही चौंतीसवा न्यून अहर्गण शेष रहजाता है। इसी के लिए 'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः' यह कहा जाता है। ३३ अहर्गणों में ३ को सूत्राधार मानकर उसमें ६ अहर्गण और मिलादेने से त्रिवृत्स्तोम (९) का स्वरूप बनता है। और ६ अहर्गणों के मिलादेने से पञ्चदशस्तोम (१५) का स्वरूप बनता है। इसमें और ६ अहर्गणों के समावेश करने से एकविंशस्तोम (२१) की स्वरूप संपत्ति होती है। इसमें और ६ अहर्गण मिलादिए जाते हैं तो त्रिणवस्तोम (२७) की स्वरूप निष्पत्ति होता है। एवं और ६ अहर्गणों के सम्बन्ध से त्रयस्त्रिंशस्तोम (३३) का स्वरूप निष्पन्न होता है। इस प्रकार त्रिवृत्, पञ्चदश एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश भेद से ५ स्तोम होजाते हैं। ३३ अहर्गण रूप पूर्णमण्डल का केन्द्र १७ वां स्थान है। यही उद्गीथ प्रजापति है। इसी के लिए 'सप्तदशो वै प्रजापतिः' यह कहा जाता है। यही ६ ठा स्तोम है। इस प्रकार १ त्रिवृत्, २ पञ्चदश, ३ सप्तदश, ४ एकविंश, ५ त्रिणव, ६ त्रयस्त्रिंश भेदसे एकही मण्डलगोलरूप वाक्तत्त्व ६ भागों में विभक्त होजाता है। वाक के षड्भागका नाम वषट्कार है। वाक इन्द्रप्रधान है। इन्द्र ही के द्वारा वाक् का व्याकरण होता है। एकही वाक् तत्त्व वायुरूप इन्द्र के सम्बन्ध से खण्ड—खण्ड में परिणत होताहुआ व्याकरण का अधिष्ठाता बनता है।

एकका विविधाकारकरण ही व्याकरण है। यह वाक्तत्व इन्द्रमय है, यज्ञ परिभाषा के अनुसार 'एन्द्रवायवग्रह' मय है। अतएव इन्द्रके लिए 'वौषट्' बोलते हुए ही आहुति दी जाती है। बस यही हमारे प्रकरण की पहली वाक् गौ है।

२ गौगौ

'आयङ्गौपृश्निरक्रमीत०' (यजुः सं० ३।६) के अनुसार सूर्य्य गो मय है। ज्योति गौ—आयु—भेदसे सूर्य्यमें तीन मनोता माने जाते है। ज्योति से चतुष्टोमापरपर्य्यायक ज्योतिष्टोम का स्वरूप बनता है। ज्योतितत्व सात भागों में विभक्त है, इसी आधार पर 'सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः' यह कहा जाता है। वेसातों ज्योतिसंस्थाए १ अग्निष्टोम २ अत्यग्निष्टोम ३ उक्थ्यस्तोम ४ षोडशीस्तोम, ५ अतिरात्रस्तोम, ६ वाजपेयस्तोम, ७ आप्तोर्य्यामस्तोम, इन नामोंसे प्रसिद्ध है। दूसरा गौतत्व है। इसीसे गोष्टोम का स्वरूप निष्पन्न होता है। तीसरा आयुतत्व है। इसीसे आयुष्टोम का सम्बन्ध है। आयु अंगिरारूप अग्नितत्व है। जब तक शरीर में गर्मी है, तभी तक आयु है। इसी आयुरूप अङ्गिरा पर 'अङ्गिरसामयन' नाम का सत्रयज्ञ प्रतिष्ठित है। गोतत्वपर (जो कि वायुप्रधान है) गवामयन नाम का सत्र प्रतिष्ठित है, एवं ज्योतिस्वरूप आदित्य 'आदित्यानामयन' नामके सत्र की प्रतिष्ठा है। इन तीनों में गोतत्व सहस्र है। इनमें से ३३३ गोका भोग तो सूर्य्यमें होता है, ३३३ गोका भोग अन्तरिक्ष में होता है, ३३३ गोका भोग पृथिवी में होता है। पृथिवी में वसुदेवता की प्रधानता है, अन्तरिक्षमें रुद्र देवता की प्रधानता है, एवं सूर्य्य आदित्यमय है। वसु—रुद्र—आदित्य तीनों में क्रमश ३३३, ३३३, ३३३, गोतत्व विभक्त है। परमेष्ठीमें भृगु और अङ्गिरा है। यहीं गोसव नामसे प्रसिद्ध पञ्चदशाह यज्ञ होता है। गोतत्व की उत्पत्ति

इसी सोममय परमेष्ठी में होती है। गो का पिता परमेष्ठी है। इधर सूर्य्य रूप आदित्य अंगिरा है। अग्नि–यम–आदित्य तीनों अंगिरा है। 'आपो वै सत्यमसृज्यन्त। कंस्विद् गर्भं दध्रआपः, इत्यादि श्रुतिएं आपोमय परमेष्ठीको ही सूर्य्यका प्रभवस्थान मानती हैं। इस प्रकार गोवत् सूर्य्यरूप आदित्य भी उसी परमेष्ठी प्रजापति का पुत्र है। गो और आदित्य बहन भाई हैं। रुद्र अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता है। अन्तरिक्ष में वायु का साम्राज्य है। यही वायु रुद्र का आत्माहै। यहां का वायुतत्व गोमयहै। ३३३ गो इसमें प्रतिष्ठितहै। यह गोमय वायु ही रूद्र का प्रभव है। अतएव इस आन्तरिक्ष्य गोतत्व को हम रुद्रमाता मानने के लिए तय्यार हैं। पृथिवी में वसुकी सत्ता है। अग्नि की आठ अवस्था ही आठ वसु हैं। यहां भी ३३३ गो का सम्बन्ध है। इन गोओं का प्रभव प्रतिष्ठा परायण यह वसुरुप अग्नितत्व ही है। अतएव पार्थिव गोतत्व को हम अवश्य ही वसुकी लडकी मानसकते हैं। इस प्रकार एकही पारमेष्ठ्य गोतत्व स्थानभेदसे आदित्य–रुद्र–वसु देवताओं से सम्बन्ध करता हुआ तीन स्वरूपोंमें परिणत होजाता है। परमेष्ठी सोममय है। सोम ही अमृत है। गोतत्व ही सोमरस का प्रवर्त्तक है। अतएव हम इसे अवश्य ही अमृत की नाभि कहसकते है। पृथिवी और सूर्य्य के मध्य का स्थान सौरतत्व के अविच्छिन्नरूपसे आने से 'अदिति' नाम से प्रसिद्ध है। इसी त्रैलोक्यमें गोतत्व व्याप्तहै अतएव हम इसे भी अवश्य ही 'अदिति' कह सकते हैं। इसी त्रैलोक्य व्यापक अमृतापरपर्य्यायिक सोम प्रवर्तक अतएव अमृतनाभिस्वरुप वसु रूद्र–आदित्यमय अदिति नामसे प्रसिद्ध गोतत्व से गोपशु का आत्मा बना है। उस गोकी यह उसी प्रकार प्रतिमूर्ति है, जैसा कि संवत्सर यज्ञपुरुप की प्रतिकृति मनुष्य है। गो पशुमें सारे प्राणदेवता विकासित है। उसके दुग्धमें सोमरस भरा है।

स्वादु पाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्द्धनम् ।
माघ: पयः—

"तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्" (वाग्भट अष्टा०) के अनुसार गोदुग्ध साक्षात् रसायन है। गोवल ही देशका प्राण है। यह अदिति मूर्ति है। जिसदेश का गोधन नरराक्षसोंके अत्याचारसे नष्ट होजाताहै, उस देश की श्री का नाश अवश्यंभावी है। इसी पूर्वोक्त गोतत्व का प्राणगो के साथ अभेद बतलाते हुए, साथहीमें गोवलको सुरक्षित रखने का आदेश करते हुए वेद भगवान कहते हैं—

माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानां, अमृतस्यनाभिः ।
प्रनुवोचं चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट" ॥
(ऋग सं० ८।७८)

वसुप्राण प्रधान गोतत्व पार्थिव होने से कृष्णा है। जिस गोपशुमें इस प्राण की प्रधानता होती है, वह गो कृष्णा होती है। रुद्रप्राण प्रधान गोतत्व आन्तरिक्ष्य होने से शुक्ल है। आदित्य प्रधान गोतत्व हिरण्मय वर्ण से युक्त है। दर्शन में यही गो श्रेष्ठ है। दानमें शुक्ल गो उत्तम है। दुग्ध में कृष्णा गो श्रेष्ठ मानी जाती है। पूर्वमें बतलाया गया है कि गोतत्व ९९९ में है। हजारवीं गो कामधेनु—कामगवी—आदि नामों से प्रसिद्ध है। इन सबकी पतिष्ठा सौररश्मियां है। अतएव रश्मि को भी गौ कहा जाता है। यही हमारे प्रकरण का दूसरा गो तत्व है—

२—इड़ा गौः

पार्थिवरसका ही नाम इड़ाहै। यह रस कुल सहस्र प्रकारकेहैं। यह रस साहस्री इड़ा गौ है। इसी इड़ाको इरा कहा जाताहै। इरा रसही पृथिवी

पिण्डका उपादान कारणहै । इरा रसमय होनेंसे ही पार्थिव प्रज्ञानात्मा हिरण्मय कहलाताहै । अध्यात्ममें प्रवर्ग्य सम्बन्धमे प्रविष्ट सौर हिरण्मय दिव्यतेज विज्ञानात्मा नामसे व्यवहृत होताहै, एव प्रवर्ग्य सम्बन्धसे प्रपद्-द्वारा प्रविष्ट इरारसमय पार्थिवतत्त्व 'प्रज्ञानात्मा' नामसे व्यवहृत होताहै । सौर तेज अग्निमय होनेंसे हिरण्मयहै, इधर पार्थिव रस इरामय होनेंसे हिरण्मयहै । परोक्षप्रिय देवताओंकी परोक्ष भाषामें पार्थिव इरामय भागभी हिरण्मय नामसे व्यवहृत होताहै । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर महर्षि ऐतरेय कहतेहै—

"स इरामयः । यद्धीरामयस्तस्माद्धिरण्मयः । हिरण्मयो ह वा अमुष्मिँ ल्लोके संभवति । हिरण्मयः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददृशे—य एवं वेद"—(ऐ० आ० १ अ० ३ ख० इति ॥

इसी इरा रसको 'इला' भी कहा जाताहै । उपग्रहोत्पत्ति क्रमके अनु सार इलारसमयी पृथिवी सूर्य्यपुत्री है । पूर्वोक्त मनुविज्ञानके अनुसार सूर्य्य मनुहै । इसीसे इलारूपधरा पृथिवी उत्पन्न हुई है । अतएव इसे मनु पुत्री कहाजाताहै । जैसाकि आगे आनेवाले 'इडाप्राशन' प्रकरणमें स्पष्ट होनेंवालाहै । यहां केवल यही बतलानाहै कि इलारसमयी पृथिवी साक्षात गौ है । इरारससाहस्री के कारण यह पार्थिव गोतत्व भी सहस्र भागोमें ही विभक्तहै । सृष्टिकर्त्ता प्रजापति इसी गोके सम्बन्धसे अपना सृष्ट्युपादा-नभूत यज्ञ करनेमें समर्थ होरहे हैं । पुराणों मे एतद्विषयक एक वैज्ञानिक आख्यान प्रसिद्धहै । प्रसंगागत उसेभी जानलेना उचितहोगा ।

प्रजापतिनें अपनी पत्नी सावित्रीको साथ लेकर यज्ञकरना चाहा । परन्तु किसी कारणवश सावित्री प्रजापतिसे रूठगई । रूठकर वह प्रजापतिको छोडकर उनसे बहुत दूर चलीगई । यज्ञ बिना पत्नीके होनही सकता । ऐसी

अवस्थामें प्रजापतिने यज्ञसिद्ध्यर्थ एक ग्वालेकी लड़कीको गौके मुखमें डालकर उसे पुच्छद्वारा निकालकर उसके साथ विवाह किया। वही द्वितीया पत्नी गायत्री नामसे प्रसिद्ध हुई। इसीके सहयोगसे प्रजापतिका यज्ञ संपन्न हुआ। एवं इसी यज्ञसे सारी प्रजा उत्पन्न हुई। "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" "सूर्यआत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इत्यादिके अनुसार सूर्यही स्थावर जंगमात्मक विश्वके उपादानहैं। सारी प्रजाके प्रभव–प्रतिष्ठा परायण सूर्यही हैं। यह पञ्चपुण्डीरात्मक महाविश्वके केन्द्रमें प्रतिनिष्ठितहैं। यही हमारे प्रकरण के प्रजापतिहैं। अग्नीषोमात्मक यज्ञद्वाराही इस सूर्यप्रजापतिसे सब कुछ उत्पन्न हुआहै।

इस सूर्यप्रजापतिसे चारों ओर निकल कर बड़ी दूर तक व्याप्त होने वाली सौर रश्मियां ही 'सावित्री' नामसे प्रसिद्ध हैं। ऋजुमार्गसे आनेवाला तेज ही सावित्री कहलाताहै। सावित्री तेजका प्रवर्त्तक सविता है। आजकल सविता शब्द 'सूर्य' का पर्याय माना जाता है। तत्तद्वेद भाष्यकारोंकी दृष्टि में सूर्य ही सविताहै। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सूर्य–चन्द्र–बृहस्पति–पृथिवी–शनि-मङ्गल इत्यादि पिण्डोंकी तरह सविता एक स्वतन्त्र पिण्ड है। सूर्यसे ऊपर वाजपेययज्ञ का अधिष्ठाता बृहस्पति है। उस से ऊपर पवित्र सोम की निधिभूत ब्रह्मणस्पतिहैं। इनसे ऊपर 'सविता' है। इसी से प्रेरणाभाव निकलताहै। प्रत्येक वस्तु में जो एक केन्द्र में से प्रेरणाभाव निकलताहै, वह इसी सविताकी ही महिमाहै। 'सविता वै देवानां प्रसविता' के अनुसार सविताही सबका प्रेरयिताहै। रोदसी त्रिलोकीमें रहने वाले अस्मदादि प्रजावर्गमें यह प्रेरणा सविता से सीधी न आकर सूर्य के द्वारा आती है। अतएव सूर्य को सविता मानलिया जाता है। वस्तुतः जिसमें प्रेरणावृत्ति है वह सब सविताहै। दीपक सविताहै, दीपप्रभा सावित्री है। चन्द्रमा सविताहै, चन्द्रिका सावित्री है। गुरु सविता

है, गुरुवाणी सावित्री है। सविता से निकलनेवाला तेज ही सावित्री है। यह सावित्रतेज उस सविता प्रजापतिसे निकलकर चलाजाताहै, उसके साथ प्रजापति का मेल होही नही सकता। जो सौरतेज सूर्य्य से निकलकर हमारी ओर आरहाहै, उसके साथ सूर्य प्रजापतिका मिथुनभाव कैसे संभव होसकताहै। महिमा पृथिवी (वषट्कारात्मिका पृथिवी) के रथन्तर सामकी सत्ता २२ वें अहर्गण पर मानी जाती है। पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर सूर्य है। यही स्थान पृथिवीका पुष्कर द्वीप है। यही सूर्य्यप्रजापति यज्ञार्थ प्रतिष्ठित होरहे हैं। इनसे निकलकर पृथिवीकी ओर जाती हुई रश्मिएं इन से सम्बन्ध नही करती। यही सावित्रीका रूठकर अलग दूर चलाजाना है। गो चरानेवाला ही ग्वालाहै। सूर्य्य गो को प्रेरित करताहै। गोचारण वृत्तित्व सूर्य्यका स्वाभाविक धर्म्म है। सौर रश्मिएं इस ग्वाल सूर्य्य की दुहिताहै। गोरूपधरा पृथिवीके साथ इसका सम्बन्ध होताहै। आती हुई सौर रश्मिएं भूमण्डलसे सम्बन्ध कर प्रतिफलित होती है। उस प्रतिफलित यह सौरतेजही गोरूपधरा पृथिवी के सम्बन्धसे 'गायत्री' नामसे प्रसिद्ध होताहै। पृथिवी से प्रतिफलित होकर ऊपर द्युलोककी ओर जाताहुआ पार्थिवतेज ही 'गायत्री' है। इसीके समन्वय से सूर्य्य प्रजापति सपत्नीक बनते हुए अपना यज्ञ करने में समर्थ होते है। यह गायत्री ज्योति, छाया भेदसे दो प्रकारकी है। सौरतेज ऊपरसे आया। पृथिवीसे टकरा कर उसी मार्गसे वापस चलागया। यह ज्योतिर्म्मयी गायत्री है। एवं धूप नही है, किन्तु प्रकाश होरहाहै। इसका कारण यही है कि जाती हुई सौर रश्मिएं इधर उधर प्रतिफलित होती है। इसीसे प्रकाश होजाताहै। यही छायामयी गायत्री है। धूपमें देवता रहते है। अन्धकारमे असुर रहते है, एवं सन्धि-स्थानीय छायाभागमें पितर रहते है। पितरप्राणकी प्रतिष्ठा छायामयी गायत्री है। यही कारण है कि पितृकर्म्ममें दोनें ओंधे करदिये जाते है।

एवं पितृकर्म छायाके स्थानमें ही कियाजाताहै। अस्तु इस अप्राकृत प्रकरण को अधिक न बढ़ा कर केवल यही बतलादेना चाहते है कि सहस्रस प्रतिष्ठारूपा इलारूपणी पृथिवी ही इस प्रकरणकी इडा गौ है।

४ भोग गौः

'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' के अनुसार चन्द्रमा देवताओंका अन्नहै। भोक्ता अन्नाद कहलाताहै, भोज्य अन्न कहलाताहै। भोग्यही भोगहै। यही भोग गौ है। पशुतत्वही 'भोग' है। संसारमें जितनेभी पशुहै सब भोगहै। एवं सब गौरूपहै। पारमेष्ठ्य सोमरसही गौ है। यही अन्नाद अग्निका अन्नहै। ऐसी अवस्थामें हम अवश्यही इस भोगतत्वको गौ कहनेके लिए तय्यारहैं। सोमप्रधान होनेसेही इस गो पशुमें इतर सारे पशुओंका अन्तर्भावहै। इसी सारे विज्ञानके आधारपर निम्नलिखित निगम वचन प्रतिष्ठितहै—

१—"स हैष सोमोऽजस्रो यद्गौः" शत० ७।५।२।१९

२—"गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति" शत० ३।१।२।१४

३—"नैते सर्वे पशवो यद्ग्राम्यश्चारण्याश्च एते वै सर्वे पशवो यद्गव्याः"
शत० २।३।२।३

४—"अन्नं हि गौः" शत० ४।३।४।२५

५—"यज्ञो वै गौः" तै० ब्रा० ३।९।८।३

गौरूप सोमकी आहुतिसे ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ संपन्न होताहै। अतएव गौ को यज्ञ कहागयाहै। यही हमारे प्रकरणकी चौथी भोग गौ है।

विराड् गौः

छन्दोविज्ञानके अनुसार दस अक्षरकी समष्टीका ही नाम 'विराट्' है। जैसाकि पूर्वके अंकोंमें 'विराड् वै यज्ञः' इसका निरूपण करते समय विशदरूपसे बतलादिया गयाहै (देखो शत० १ वर्ष ७ अंक)। प्रकृतमें विराट् से सौर मनुसे प्रादुर्भूत होनेवाला दशपिप्राण ही अभिप्रेतहै इसी दशपिप्राण समष्टिरूप विराट्से सारे प्राणियोंका आयुनिष्पन्न होताहै। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार आयु स्वरूप रक्षक आत्माका अधिष्ठाता एकमात्र सूर्य्यही है। 'सूर्यो बृहती मध्यूढस्तपति' के अनुसार आत्माधिष्ठाता सूर्य्य मध्यस्थ बृहतीछन्द (विषुवद्वृत्त) पर स्थिर रूपसे तप रहेहै। विषुर्वत्से उत्तर भागमें ३ अहोरात्रवृत्तहै, एवं तीन अहोरात्रवृत्तही दक्षिणमें है। इनमें जो दक्षिणभागका सबसे अन्तका अहोरात्रवृत्तहै वही गायत्री छन्द कहलाताहै। उसमें ८ अक्षरहै। आगेका सप्ताक्षर उष्णिक छन्दहै। उसके आगेका अष्टाक्षर अनुष्टप छन्द है। मध्यका बृहतीछन्द नवाक्षरहै। इस प्रकार पूरे बृहतीछन्दमें ४ चरणोंके हिसाबसे ३६ अक्षर होजाते है। पूरे बृहतीछन्दमें ३६० अंशहै। इनमें ९०–९० अंशके ४ खण्डहै। प्रत्येक खण्डमें १०–संख्याके हिसाबसे ९–९–विराट् होजाते है। इस प्रकार पूरे वृत्तमें ३६ विराट् संपत्ति प्राप्त होजाती है। प्रत्येक विराट् के साथ गोसाहस्रीका सम्बन्धहै। एसी अवस्थामें ३६ बृहतीकी ३६००० (छत्तीसहजार) बृहती होजाती है। यही हमारी आयुका प्रमाणहै। हम प्रकृतिके नियमानुसार ३६००० दिन ही जीवित रहसकते हैं। ३६००० दिनके कुल १०० वर्ष होते है। इसी विज्ञानके आधार पर 'शतायुर्वै पुरुषः' यह कहा जाताहै। प्रकृतमें इस प्रपञ्चसे केवल यही बतलानाहै कि दशपिप्राणसमष्टिरूप विराट् तत्वही विराट् गौ है। इसका उक्थस्थान (प्रभवस्थान) मनुही है। एक प्रकारसे मनु उक्थहै, तो विराट् गौ उसके अर्कहै। अर्क अपने उक्थके

अवस्थामें प्रजापतिने यज्ञसिद्ध्यर्थ एक ग्वालेकी लड़कीको गौके मुखमें डालकर उसे पुच्छद्वारा निकालकर उसके साथ विवाह किया। यही द्वितीया पत्नी गायत्री नामसे प्रसिद्ध हुई। इसीके सहयोगसे प्रजापतिका यज्ञ संपन्न हुआ। एवं इसी यज्ञसे सारी प्रजा उत्पन्न हुई। "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" "सूर्य्यआत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इत्यादिके अनुसार सूर्य्यही स्थावर जंगमात्मक विश्वके उपादानहैं। सारी प्रजाके प्रभव–प्रतिष्ठा परायणा सूर्य्यही है। यह पञ्चपुण्डीरात्मक महाविश्वके केन्द्रमें प्रतितिष्ठितहैं। यही हमारे प्रकरण के प्रजापतिहैं। अग्नीषोमात्मक यज्ञद्वाराही इस सूर्य्यप्रजापतिसे सब कुछ उत्पन्न हुआहै।

इस सूर्य्यप्रजापतिसे चारों ओर निकल कर बड़ी दूर तक व्याप्त होने वाली प्राण रश्मिएं ही 'सावित्री' नामसे प्रसिद्ध हैं। ऋजुमार्गसे आनेवाला तेज ही सावित्री कहलाताहै। सावित्री तेजका प्रवर्त्तक सविता है। आजदिन सविता शब्द 'सूर्य्य' का पर्य्याय माना जाता है। तत्तद्वेद भाष्यकारोंकी दृष्टि में सूर्य्य ही सविताहै। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सूर्य्य–चन्द्र–बृहस्पति–पृथिवी–शनि-मङ्गल इत्यादि पिण्डोंकी तरह सविता एक स्वतन्त्र पिण्ड है। सूर्य्यसे ऊपर वाजपेययज्ञ का अधिष्ठाता बृहस्पति है। उस से ऊपर पवित्र सोम की निधिभूत ब्रह्मणस्पतिहै। इससे ऊपर 'सविता' है। इसमें से प्रेरणाभाव निकलताहै। प्रत्येक वस्तु में जो एक केन्द्र में से प्रेरणाभाव निकलताहै, वह इसी सविताकी ही महिमाहै। 'सविता वै देवानां प्रसविता' के अनुसार सविताही सबका प्रेरयिताहै। रोदसी त्रिलोकीमें रहने वाले अस्मदादि प्रजावर्गमें यह प्रेरणा सविता से सीधी न आकर सूर्य्य के द्वारा आती है। अतएव सूर्य्य को सविता मानलिया जाता है। वस्तुतः जिसमें प्रेरणावृत्ति है वह सब सविताहै। दीपक सविताहै, दीपप्रभा सावित्री है। चन्द्रमा सविताहै, चन्द्रिका सावित्री है। गुरु सविता

है, गुरूवाणी सावित्रीहै । सवितासे निकलनेवाला तेज ही सावित्री है । यह सावित्रतेज उस सविता प्रजापतिसे निकलकर चलाजाताहै, उसके साथ प्रजापति का मेल होही नहीं सकता । जो सौरतेज सूर्य्य से निकलकर हमारी ओर आरहाहै, उसके साथ सूर्य्य प्रजापतिका मिथुनभाव कैसे संभव होसकताहै । महिमा पृथिवी (वषट्कारात्मिका पृथिवी) के रथन्तर सामकी सत्ता २२ वें अहर्गण पर मानी जाती है । पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर सूर्य है । यही स्थान पृथिवीका पुष्कर द्वीप है । यहीं सूर्य्यप्रजापति यज्ञार्थ प्रतिष्ठित होरहे हैं । इनसे निकलकर पृथिवीकी ओर जाती हुई रश्मिएं इन से सम्बन्ध नहीं करती । यही सावित्रीका रूठकर अलग दूर चलाजाना है । गो चरानेवाला ही ग्वालाहै । सूर्य्य गो को प्रेरित करताहै । गोचारण वृत्तित्वं सूर्य्यका स्वाभाविक धर्म्म है । सौर रश्मिएं इस ग्वाल सूर्य्य की दुहिताहै । गोरूपधरा पृथिवीके साथ इसका सम्बन्ध होताहै । आती हुई सौर रश्मिएं भूमण्डलसे सम्बन्ध कर प्रतिफलित होती है । बस प्रतिफलित यह सौरतेजही गोरूपधरा पृथिवी के सम्बन्धसे 'गायत्री' नामसे प्रसिद्ध होताहै । पृथिवी से प्रतिफलित होकर ऊपर द्युलोककी ओर जाताहुआ पार्थिवतेज ही 'गायत्री' है । इसीके समन्वय से सूर्य्य प्रजापति सपत्नीक बनते हुए अपना यज्ञ करने में समर्थ होते है । यह गायत्री ज्योति, छाया भेदसे दो प्रकारकी है । सौरतेज ऊपरसे आया । पृथिवीसे टकरा कर उसी मार्गसे वापस चलागया । यह ज्योतिर्म्मयी गायत्री है । एवं धूप नहीं है, किन्तु प्रकाश होरहाहै । इसका कारण यही है कि जाती हुई सौर रश्मिएं इधर उधर प्रतिफलित होतीं है । इसीसे प्रकाश होजाताहै । यही छायामयी गायत्री है । धूपमें देवता रहते है । अन्धकारमें असुर रहते है, एवं सन्धि-स्थानीय छायाभागमें पितर रहते है । पितरप्राणकी प्रतिष्ठा छायामयी गायत्री है । यही कारण है कि पितृकर्म्ममें दोनें आँधे करदिये जाते है ।

एवं पितृकर्म्म छायाके स्थानमें ही कियाजाताहै। अस्तु इस अप्राकृत प्रकरण को अधिक न बढ़ा कर केवल यही बतलादेना चाहते हैं कि सहस्ररस समष्टिरूपा इलारसमयी पृथिवी ही इस प्रकरणकी इडा गौ है।

४ भोग गौः

'एष वै सोमोराजादेवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' के अनुसार चन्द्रमा देवताओंका अन्नहै। भोक्ता अन्नाद कहलाताहै, भोग्य अन्न कहलाताहै। भोग्यही भोगहै। यही भोग गौ है। पशुतत्त्वही 'भोग' है। संसारमें जितनेभी पशुहै सब भोगहैं। एवं सब गोरूपहै। पारमेष्ठ्य सोमरसही गौ है। यही अन्नाद अग्निका अन्नहै। ऐसी अवस्थामें हम अवश्यही इस भोगतत्वको गौ* कहनेके लिए तय्यारहैं। सोमप्रधान होनेसेही इस गौ पशुमें इतर सारे पशुओंका अन्तर्भावहै। इसी सारे विज्ञानके आधारपर निम्नलिखित निगम वचन प्रतिष्ठितहैं—

१—"स एष गोसोऽजस्रो यद्गोः" शत० ७।५।२।१९

२—"गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति" शत० ३।१।२।१४

३—"तेने सर्वे पशवो यद्ग्राम्याश्चारण्याश्च एते वै सर्वे पशवो यद्गव्याः" शत० १३।२।२।३

४—"अन्नं हि गौः" शत० ४।३।४।२५

५—"यज्ञो वै गौः" तै० ब्रा० ३।९।८।३

गोरूप सोमकी आहुतिसे ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ संपन्न होताहै। अतएव गौ को यज्ञ कहागयाहै। यही हमारे प्रकरणकी चौथी भोग गौ है।

विराड् गौः

छन्दोविज्ञानके अनुसार दस अक्षरकी समष्टीका ही नाम 'विराट्' है। जैसाकि पूर्वके अङ्कोंमें 'विराड् वै यज्ञः' इसका निरूपण करते समय विशदरूपसे बतलादिया गयाहै (देखो शत० १ वर्ष ७ अंक)। प्रकृतमें विराट् से सौर मनुसे प्रादुर्भूत होनेवाला दशर्षिमाण ही अभिप्रेतहै। इसी दशर्षिमाण समष्टिरूप विराट्से सारे प्राणियोंका आयुनिष्पन्न होताहै। 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार आयु स्वरूप रक्षक आत्माका अधिष्ठाता एकमात्र सूर्य्यही है। 'सूर्यो बृहती मध्यूढस्तपति' के अनुसार आत्माधिष्ठाता सूर्य्य मध्यस्थ बृहतीछन्द (विषुवद्वृत्त) पर स्थिर रूपसे तप रहेहैं। विषुवत्से उत्तर भागमें ३ अहोरात्रवृत्तहै, एवं तीन अहोरात्रवृत्तही दक्षिणमें हैं। इनमें जो दक्षिणभागका सबसे अन्तका अहोरात्रवृत्तहै वही गायत्री छन्द कहलाताहै। उसमें ६ अक्षरहैं। आगेका सप्ताक्षर उष्णिक छन्दहै। उसके आगेका अष्टाक्षर अनुष्टप छन्द है। मध्यका बृहतीछन्द नवाक्षरहै। इस प्रकार पूरे बृहतीछन्दमें ४ चरणोंके हिसाबसे ३६ अक्षर होजाते हैं। पूरे बृहतीछन्दमें ३६० अंशहैं। इनमें ९०-९० अंशके ४ खण्डहैं। प्रत्येक खण्डमें १०-संख्याके हिसाबसे ९-९-विराट् होजाते हैं। इस प्रकार पूरे वृत्तमें ३६ विराट् संपत्ति प्राप्त होजाती है। प्रत्येक विराट् के साथ गोसाहस्रीका सम्बन्धहै। इसी अवस्थामें ३६ बृहतीकी ३६००० (छत्तीसहजार) बृहती होजाती है। यही हमारी आयुका प्रमाणहै। हम प्रकृतिके नियमानुसार ३६००० दिन ही जीवित रहसकते हैं। ३६००० दिनके कुल १०० वर्ष होते हैं। इसी विज्ञानके आधार पर 'शतायुर्वै पुरुषः' यह कहा जाताहै। प्रकृतमें इस प्रपञ्चसे केवल यही बतलानाहै कि दशर्षिमाणसमष्टिरूप विराट् तत्वही विराट् गौ है। इसका उक्थस्थान (प्रभवस्थान) मनुही है। एक प्रकारसे मनु उक्थहै, तो विराट् गौ उसके अर्कहैं। अर्क अपने उक्थके

साथ नित्य सम्बन्धहै। इसी विराट् गौ के साथ दूसरे शब्दोंमें विराट् ऋषभ (महा वृषभ) के साथ युक्त होकर भगवान् मनु यज्ञ कररहेहैं। यही हमारे प्रकृत प्रकरणका ऋषभहै। इस ऋषभकी जहांतक व्याप्तिहै, वहांतक आसुर प्राण कदापि प्रविष्ट नहीं होसकता।

आधिदैविक मनु—मनावी—ऋषभ, आदिका संक्षिप्त स्वरूप बतलादिया गया। अब आध्यात्मिक जगतकी ओर आपका ध्यान आकर्षित कियाजाताहै—

हृदयमें रहनेवाला विज्ञानज्योतिर्म्मय अन्तर्यामी तत्वही आध्यात्मिक मनुहै। यही सारे आध्यात्मिक प्रपञ्चका मूलाधारहै। 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' (यजुर्सं०) के अनुसार मन हृदयमें प्रतिष्ठितहै। यह मनही मनुहै। विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा, इन पांचों में सर्वप्रथम विषयहै। इन्द्रियोंका सम्बन्ध विषयों के साथ होताहै, दूसरे शब्दोंमें अप्राप्यकारित्व सिद्धान्तके अनुसार विषय इन्द्रियोंपर आतेहैं। इन्द्रियोंपर आए हुए विषयोंका सम्बन्ध प्रज्ञान नामसे प्रसिद्ध सर्वेन्द्रिय मन से होताहै। मनके द्वारा उन विषयोंका विज्ञानात्मा नामसे प्रसिद्ध बुद्धिसे सम्बन्ध होताहै। बुद्धिके द्वारा उस विषयका महदक्षरूप आत्माके साथ सम्बन्ध होताहै। आत्मा आनन्दघनहै। उसके प्रतिबिम्बसे विज्ञान (बुद्धि) चमक रहाहै, विज्ञानगत आत्मानन्दसे प्रज्ञानमन आनन्दमय बनरहाहै। प्रज्ञान मनका आनन्द—रश्मिरूपसे परिणत होकर इन्द्रियो द्वारा विषयोंपर जाके उन्हें आनन्दघन बनाडालताहै। इस क्रमिक भावसे यह भलीभांति सिद्ध होजाताहै कि, जितनी आनन्दकी मात्रा स्वयं मनमें है, विषयजातमें मनकी अपेक्षा आनन्दकी मात्रा बहुत थोड़ीहै। मनके आनन्दसे ही विषय प्रिय लगते हैं। यदि किसी कारणवश मन अशान्त एवं क्षुब्ध होता हुआ

दुःखी होजाताहै तो, कोई विषय अच्छा नहीं लगता। ऐसी अवस्थामें हम यह अवश्यही माननेंकेलिए तय्यारहैं कि, विषयोंमें जो समृद्धानन्द आताहै वह इस मनका ही आनन्दहै। जो जिस वस्तुको लेकर उत्पन्न होताहै वह उसीको लेकर संतुष्ट रहताहै। मनकी स्वरूपसत्ता पूर्वोक्त क्रमके अनुसार हृदयस्थ सच्चिदानन्दघन आत्माके आनन्दपर निर्भरहै। अतएव स्वस्वरूप रक्षाके लिए मन निरन्तर आनन्दकी इच्छा किया करताहै। नास्तिक दर्शनके अनुसार यदि आत्मा दुःखमय होता तो मनको दुःखकी भी इच्छा होती। परन्तु हम देखतेहैं कि पिपीलिकासे लेकर महायोगीश्वर तक आनन्दकी ही कामना किया करतेहै। दुःख से सब प्राणी मुख मोड़तेहैं। इससे यहभी भलीभांति सिद्ध होजाताहै कि आत्मा आनन्दमयही है। दुःख आगन्तुकहै। मनकी वृत्तिहै। मन सुखी होताहै, मनही दुःखी होताहै। आत्मातो एकान्ततः नित्यानन्दघनही है। अस्तु कहना यही है कि मन सदा आनन्दकी कामना किया करताहै। इसी आनन्दकी खोजके लिए वह इन्द्रियोद्वारा विषयोपर जाताहै। परन्तु वहा उसे वास्तविक शान्ति नहीं मिलती। कारण इसका यहीहै कि स्वयं मनके पास (आत्माके सन्निकट होनेंसे) जितनी आनन्दकी मात्राहै, आत्मासे विप्रकृष्ट रहनेंवाले विषयोंमें वह आनन्दकी मात्रा मनकी अपेक्षा अल्पमात्रामेंहै। अतएव मन किसी विषयपरं देरतक नही ठहरता। एक विषयको आनन्दकी लालसासे मन पकड़ताहै, परन्तु वहां उसे आनन्दकी अल्पताके कारण संतोष नहीं होता। थोड़े समयके अनन्तर मन उसे छोड़देताहै, और अन्यविषयपर जा वैठताहै। इसप्रकार एक विषयके अनन्तर दूसरे विषयपर, दूसरेसे तीसरेपर, तीसरेसे चौथेपर, इसप्रकार मन निरन्तर आनन्दकी लालसासे इधर उधर भटका करताहै। यही वृत्ति चञ्चलताहै। चाञ्चल्यही क्षोभहै। क्षोभही अशान्तिका मूलकारणहै। 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। बस विषयजातमें लीन रहनेवाले जितनेंभो मनुष्यहै

सब इसी दुःखसागरमें निमग्नहैं। दुःखसे छुटकारा पानेका एकमात्र मार्गहै, मनको विषयोंसे पराङ्मुखकर उसे आत्मानुयोगी बनाना। आत्मप्रतियोगिक, एवं विषयानुयोगिक मन कभी शान्ति प्राप्त नहीं करसकता। उसकेलिए इसे विषयप्रतियोगिक आत्मानुयोगिक ही होना पड़ैगा। इसी रहस्य का निरूपण करतीहुई उपनिषत् श्रुति कहती है—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" (कठ०२अ०१व०१मं०)

पूर्वके प्रकरणमें यह भलीभांति सिद्ध होजाताहै कि आत्मप्रतियोगिक, विषयानुयोगिक मन नाना विषयोंके कारण अनेक वृत्तियोंसे युक्त होजाताहै। इन्द्रियोंद्वारा मनपर वासना भावना रूपसे आई हुई ज्ञान कर्म्मात्मिका विषयमात्रा मनसे संपरिष्वक्त विज्ञान (बुद्धि) पर जाती है। 'स वा एष विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः' (बृहदारण्यक) के अनुसार विज्ञान प्रज्ञानसे अभिन्नहै। प्रज्ञान विज्ञानज्योतिमें प्रकाशित होरहाहै। विज्ञान प्रज्ञानपर प्रतिष्ठितहै। विज्ञानद्वारा वह विषय महदत्तर (सत्वात्मा) से युक्त आत्मापर जाताहै। बस जिस प्राणसूत्रके आधारपर एकही विषय इन्द्रिय-मन-विज्ञान-महदत्तरसे सम्बन्ध करताहै वही प्राणसूत्र मनुतत्वहै। यही अन्तर्य्यामी सत्यहै। विज्ञानेन्द्र, प्रज्ञानसोम, भोक्ताग्नि, के समन्वयमें वह अन्तर्यामी सत्य रुक्माभ, प्रशासिता, परपुरुष, अग्नि, शाश्वतब्रह्म, इत्यादि अनेक नामोंसे व्यवहृत होने लगताहै, जैसाकि प्रकरणके प्रारम्भमें ही बतलाया जाचुकाहै। श्रद्धातत्व ही इस अन्तर्य्यामी मनुकी पत्नीहै। इसीके समन्वयमें मनु सबल बनरहाहै। श्रद्धायुक्त मनुका संकल्प सर्वथा सत्यही होताहै। यदि हमारा मन इस श्रद्धायुक्त मनुरूप अन्तर्य्यामी सत्यके आधारपर चलताहै तो. कभी वह कुपथगामी नहीं बनता। 'स्वस्य च प्रियमा-

त्मनः' के अनुसार आत्माकी आवाज सच्चा धर्म्महै। वह आत्मा यही हृद-यस्थ विज्ञानघन मनुहै। मनुष्य जब किसी बुरेकाममें प्रवृत्त होताहै तो भीतरसे आवाज निकलतीहै कि, देखो यह कार्य बुराहै। इसे मत करो। बस उस ओर प्रवृत्त होनेवाला मनहै। इस बुरीप्रवृत्तिको रोकनेवाला विज्ञान घन मनुहै। मनु जो कुछ कहताहै उसीमें हमारा हितहै। इसी आध्यात्मिक मनु विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर महर्षि ताण्ड्य कहतेहै—

"मनुर्वै यत् किञ्चावदत्तद् भेषज भेषजतायै" (ताण्ड्य ब्रा० २३।१६।७)

हृदयस्थ इसी मनुतत्वसे ३३ यज्ञिय देवताओंका विकास होताहै। इसीपर ३३ यज्ञियदेवता (८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ अश्विनी-कुमार) प्रतिष्ठितहैं। इसी अभिप्रायसे ऋषि कहतेहै—

इति स्तुतासो असथा रिपादशो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियासः (ऋक् सं० ८।३०।२)

विज्ञानात्माकाही नाम बुद्धिहै। इससे मिलनें वाली जो रश्मिए है वेही 'धी' नामसे व्यवहृत होती है। आजदिन धी और बुद्धिको पर्य्याय समझा जाताहै। परन्तु वास्तवमें ऐसा नही है। बुद्धि भिन्न वस्तुहै, धी पृथक् तत्व है। बुद्धि एकहै, धी अनन्तहै। बुद्धि उक्थहै, धी अर्कहै। बुद्धिके अर्करूप इन धी भागोंको लेकर ही मन तत्तद् विषयोंके साथ युक्त होताहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहतीहै—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि माम्॥
(यजुः सं० १९।३९)

प्रकरणके प्रारम्भमेंही हम यह बतलाचुकेहैं कि मन और मनु का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धहै। मनुही मनरूपमें परिणत होकर अध्यात्म चक्रका

संचालन करताहै । मन और मनुके इसी अभिन्न भावका प्रतिपादन करती हुई अथर्व श्रुति कहती है—

> पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
> पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥
> (अथर्व० ३ अ० २ मं० १६ सू० १)

जो अर्थ यजुः श्रुतिकाहै, वही अथर्व श्रुतिकाहै । मनसा धियः—मनवो धिया—दोनो वाक्य अभिन्नार्थकहै ।

पूर्वमें बतलाया गयाहै कि इडागौ मनुपुत्री है, एवं वही मानवी इडा इरा—इला इन नामोंसे भी प्रसिद्धहै । सिंहावलोकन न्यायसे आज फिर हम उसीकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करतेहैं । 'इरा भूवाक् सुराप्सुस्यात' (अमर नानार्थवर्ग) 'गो भूवाचस्त्विडा इला' (अमर नानार्थवर्ग) के अनुसार पार्थिव वागरस (गोरस) का ही नाम इराहै। निगूढ वैज्ञानिक भावमें यह तत्व इरा कहलाताहै, स्थूलवैज्ञानिक भावमें यही तत्व इडा कहलाताहै । दूसरे शब्दोंमें याज्ञिक परिभाषामें यह इडा नामसे व्यवहृत होताहै, एवं ऐतिहासिक दृष्ट्या यही इला नामसे प्रसिद्धहै । पूर्वमें हमनें ऋक्तत्वको मनु कहाहै । उपक्रम—प्रस्ताव—प्रगति—बिन्दुही ऋक्है । जिस बिन्दुसे सारे भाव प्रस्तुत होतेहैं, अर्करूपसे उठतेहैं वह मध्य बिन्दुही ऋक्है । जिससे सारे पदार्थ उठतेहैं वही उक्थ कहलाताहै । ऐसा ऋक तत्वहै, अतएव ऋक्को महोक्थ कहाजाताहै । यही महोक्थ हमारा मनुहै । हृदयसे उठनेवाले भाव जिस स्थानपर समाप्त होतेहैं, वही इस मनुरूपा ऋक्का अवसानहै । अवसानही उस ऋक्का अवसानहै । अवसामही अवसानहै । अवसानही सामहै । इसप्रकार ऋक्साम दोनों अविनाभूतहै । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'ऋच्यधूढं साम गीयते' (शत० ८।१।३।३ यह कहा जाताहै । प्रस्ताव बिन्दुका नाम ऋक्है,

निधन बिन्दुका नाम उद्गच सामहै। इन दोनों के मध्यमें प्रतिष्ठित स्थिति गति तत्वही यजुहै। ऋक्ही मनुहैं। इधर ऋक्ही अवसान कोटिमें प्रविष्ट होताहुआ साम स्वरूपमें परिणत होताहै, ऐसी अवस्थामें हम ऋक्को ही साम माननेंके लिए तय्यारहै। यजु इस ऋकके मध्यमेंहैं। अतएव 'नन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इस न्यायके अनुसार ऋक्से यजुका भी ग्रहण होजाताहै। इसी आधारपर ऋक्रूप मनुको हम 'वेदमूर्त्ति' (त्रयीमूर्त्ति) माननेंके लिए तय्यारहैं। परन्तु प्रधानता ऋक्की ही समझनी चाहिए। क्योंकि पूर्वमें हमने हृदयावच्छिन्न मनको ही मनु कहाहै। यही उक्थस्थान है। प्रत्येक वस्तुके हृदयसे ही सारी वृत्तियोंका निर्गम होताहै। संसारमें वेद्यपदार्थ अग्नि–वायु–आदित्य भेदसे तीनही भागोंमें विभक्तहै। पार्थिव अग्नि पहिला वेद्यहै। आन्तरिक्ष्य वायु दूसरा वेद्यहै। दिव्य आदित्य तीसरा वेद्यहै। तीनों वेद्य क्रमशः ऋङ्मय–यजुर्मय–साममयहै। इस वेद्यत्रयी का निरूपण करनेंवाला शास्त्रही 'वेदत्रयी' नामसे व्यवहृत होताहै। ऋक साम से भिन्न जो यजुर्वेदहै, वह शुक्ल कृष्ण भेदसे दो भागोंमे विभक्तहै। कारण इसका यही है कि अन्तरिक्षमें पञ्चदशस्तोम, सप्तदशस्तोम दोनोंका अन्तर्भावहै। त्रिवृत्स्तोम (९) पर्य्यन्त पार्थिव अग्निकी सत्ताहै। यहीं ऋग्वेद प्रतिष्ठितहै। पञ्चदशस्तोम (१५) पर्य्यन्त वायुका साम्राज्यहै। वायु नीरूपहै। अतएव इसके आधारपर प्रतिष्ठित रहनेवाला यजुभी कृष्ण ही है। एव आन्तरिक्ष्य सप्तदशस्थान दिव्य सौर अग्निमय होनेंसे आहवनीय कहलाताहै। इसी आहवनीयमे सोमकी आहुति होती है। 'त्त्र ज्योतिषा वितमो ववर्थ' के अनुसार सोमाहुतिसे सप्तदशस्तोमात्मक आवहनीयान्तरिक्ष ज्योतिर्म्मय होजाताहै। अन्तरिक्षमें यजु प्रतिष्ठितहै। यह अन्तरिक्ष ज्योतिर्म्मयहै। अश्वस्वरूपहै, अतएव तत्सम्बन्धी यजुको 'शुक्लयजुर्वेद' कहाजाताहै। भगवान् याज्ञवल्क्यनें इसीसे वेदतत्त्व पहिचानाहै। शुक्लाग्नि

यजुर्वेदहै । यह सौर अग्निहै । इसीसे बुद्धिका विकासहै । सौराग्नि प्रधान शुक्ल यजुर्वेदमें इस बुद्धिकी ही प्रधानताहै । सौम्यमन यहां गौणहै । अतएव 'मनसा धियः' यह कहाहै । यहां मन विशेषणहै, धी विशेष्यहै । अग्नितत्वसे बुद्धिका विकास होताहै । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर धी प्रधान पूर्वोक्त यजुर्मन्त्रके उपसंहार में 'जातवेदः पुनीहिमाम्' यह कहाहै । पदार्थ स्वरूपज्ञान कराने वाले वेदमूर्त्ति सौर अग्निही 'जातवेदा' नामसे व्यवहृत होताहै । अथर्ववेद सोममयहै । इधर हमारा मन सौम्यहै । अतएव सोम प्रधान अथर्व वेदनें–'पुनन्तु मनवो धिया' इत्यादि रूपसे मनको प्रधान मानाहै, एवं धी को गौण मानाहै । यहां का मनवः–'मनांसि' अर्थमेंही प्रयुक्त हुआहै । इसी आधारपर हमनें मन और मनुको अभिन्न तत्व मानाहै । अपिच मन सौम्य है । सोम पवित्र होनेसे, एवं पदार्थोंके पवित्र करनेके कारण पवमान नामसे प्रसिद्धहै । अथर्वमें इसीकी प्रधानताहै । अतएव पूर्वोक्त अथर्व मन्त्रके उपसंहार में जातवेदः पुनीहिमाम् कहकर 'पवमानः पुनातुमाम्' यह कहाहै ।

मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्ययका हृदय भावही मनहै । यही मनुहै । यही सारे विश्वका उक्थहै । इसीको 'श्वोवसीयसब्रह्म' कहा जाता है । 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक् १०।१२९।४)के अनुसार अपने काम रेतसे (इच्छाशक्तिसे) यही मनोब्रह्म सबका प्रवर्तक बनताहै । ईश्वराव्यय रसबलात्मकहै । विश्वापेक्षया सर्वव्यापक है । यह अव्ययेश्वर सहस्रवल्शायुक्त अश्वत्थमूर्तिहै । इसका ब्रह्माग्निमय रस बलात्मक मनोवच्छिन्न केन्द्रस्थ अन्तर्यामी सत्तही 'मनु' तत्वहै । इसी मनोवच्छिन्न मनुसे सृष्टि होतीहै, एवं यही प्रलयका अधिष्ठाताहै । यह केन्द्रभाव (इच्छाबिन्दु) स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी भेदसे पांचस्थानोंमें विचलित होताहै । सूर्य्यमूला रोदसी सृष्टिके सम्बन्धमें अहोरात्र विभागसे यह केन्द्र बिन्दु ३० भागों में विभक्त होजातीहै । १५ बिन्दु अहः कल्पहै,

१५ विन्दु रात्रिकल्पहै। १ विन्दुका प्रातः संध्यामें भोगहै, एकका सायं सन्ध्यामें अन्तर्भावहै। इसप्रकार अहःकाल और रात्रिकालमें १४-१४ हृदय भाव शेष बचजातेहैं। यही हृदय भाव उस अन्तर्य्यामी मनुके कारण 'मन्वन्तर' नामसे व्यवहृत होतेहैं। इसप्रकार सृष्टिप्रवर्त्तक वेदमूर्त्ति प्रजापति ब्रह्माग्निरूप सारेप्राणोंका उक्थ, सबका प्रशास्ता, सबका प्रस्तावरूप, सृष्टि-भेदसे विचारी, मनोवच्छिन्न हृदयस्थ अन्तर्यामी तत्त्वही मनुहै। सृष्टिविद्या-सूचक इसके अवान्तर भावही मन्वन्तरहै। ईश्वराव्यरूप मनही मनुरूपमें परिणतहोकर (वेदाग्निमय बनकर) सृष्टि करताहै। इस मनुकी जो पहली सृष्टिहै वह इडा, ऊर्क्, गौ, इन तीन भागोंमे विभक्तहै। इडा अन्नरसहै। गौ रस प्रवर्त्तक प्राणहै। इसी गौके आधारपर प्राकृतिक नित्य अग्निहोत्रयज्ञ प्रतिष्ठितहै। जैसाकि द्वितीयकाण्डस्थ अग्निहोत्र ब्राह्मणमें स्पष्ट होजायगा।

सारे प्रपञ्चसे प्रकृतमें हमें केवल यही बतलानाहै कि विज्ञान (बुद्धि), प्रज्ञान (मन), सत्त्व (महानात्मा), अग्नि (भोक्तात्मा), इन सब आत्मखण्डों-पर व्याप्त रहनेवाला हृदयस्थ अन्तर्ज्योतिर्म्मय अन्तर्य्यामी स्वयन्तत्त्वही मनु है। प्राज्ञसोममयी ससत्त्व धारणमूला मनुसम्बन्धाधिष्ठात्री श्रद्धाही मनु-पत्नीहै। एव २ श्रोत्रप्राण, २ चक्षुप्राण, २ नासाप्राण, १ मुखप्राण, इस-प्रकार 'साकंज' नामसे प्रसिद्ध सात शीर्षण्य प्राण, १ उपस्थ प्राण, १ मूलाधार प्राण, इसप्रकार २ अवाञ्च प्राण, एवं एक नाभि प्राण, कुल १० अध्यात्मिक शारीरप्राणोंकी समष्टिही विराट गौ है। यही आध्या-त्मिक मनुका आध्यात्मिक ऋषभहै। यह १० प्राण अर्क (रश्मि) रूपहै। हृदस्थ ससज्योतिर्म्मय मनुप्राण इन अर्कोंका उक्थहै। यही मुख्य आत्माहै। यह आत्मतत्त्व ज्योतिर्म्मयहै। अतएव इससे सम्बन्ध रखने वाले १० सों प्राणभी ज्योतिर्म्मयही है। इन दसों प्राणोंसे अतिरिक्त आसुर प्राणभी इसी अध्यात्म संस्थामें प्रतिष्ठितहै। ३३ दिव्य प्राण, ९९ आसुर प्राण,

२७ गंधर्व प्राण, १० ऋषि प्राण, ५ पशु प्राण, सबकुछ इस पिण्ड ब्रह्माण्डमें अवस्थित हैं। इनमें से आसुर प्राण दिव्य प्राणके विरोधी हैं। वेतन, वृत्र, नमुचि, किलात, आकुली, आदि सारे (६६) आसुर प्राण इस अध्यात्म जगतमें प्रतिष्ठित हैं। इनमें जो प्राण तमोमय है, दूसरे शब्दों में अविद्यामय है, उन्हींका नाम किलात और आकुली है। मनु–मनावी–ऋषभ तीनों ज्योतिर्मय होनेसे असुरोघ्न हैं। किलात और आकुली दोनों किट (मल–पाप्मा) पैदा करते हुए सबसे पहिले दशविधप्राणरूप विराट् गौ पर प्रहार करते हैं। इस तमके आवरणसे इस मनु ऋषभका ज्योति भाग दबजाता है। यही इसका आलम्भन है। ऋषभ नाशसे श्रद्धातत्त्वका विनाश होजाता है। इसप्रकार प्राणज्योतिके मलिन होनेसे धर्मप्रतिष्ठारूप ऋषभ–और श्रद्धा दोनोंका स्वरूप नष्ट होजाता है। विद्वानभी इन प्राणोंकी प्रबलतासे अश्रद्धायुक्त, कल्मषप्राणयुक्त, एवं आत्म बलसे हीन होजाते हैं। श्रद्धाको हमने सौम्य प्राणमयी बतलाया है। ऐन्द्र–धौत्र, सौम्य भेदसे विद्युत् तीन प्रकारकी है। आत्मविद्युत् ही सौम्य विद्युत् कहलाती है। एवं विद्युत साक्षात् इन्द्र है। इन्द्रवाक् है। इधर दशप्राण समष्टिरूपा गौ प्राण विद्युत् (सौर विद्युत) है। किलाताकुलीसे रहित दिव्यतेजा ब्राह्मणके मुखसे निकली हुई एवं स्वयभी विद्यु-मूर्त्तिरूपा मन्त्रवाक् असुरोंका नाश करनेवाली है। इसके सम्बन्धसे यज्ञपात्र विद्युन्मय बनतेहुए असुरोघ्न बनजाते हैं। अन्तरिक्षमें यज्ञविनाशक पाप्माभाव सपादक आसुर प्राण व्याप्त रहते हैं। उन्हीके विनाशके लिए यहां ध्वनि कीजाती है। अपिच सिलाटी पाषाणमयी है। पाषाण अश्मा सोमसे बनता है। अतः इसमें स्वयंभी वह इन्द्र विद्युत प्रतिष्ठित है। किलाताकुलीके प्रत्याघातसे प्रकृति मण्डलमें जो श्रद्धामय अश्मासोम प्रवृत्त होता है वही यज्ञिय पदार्थोंका उपादान बनता है। जिनमें यह विद्युत रहती है उन्हींके यज्ञपात्र बनाए जाते हैं। ऐसी अवस्थामें इन

पाशोंसे निकलनेंवाली ध्वनि को हम अवश्यही असुरोंका नाश करनेवाली मानसकतेहैं ।

यहतो हुआ प्रकृत कथाका आधिदैविकपक्ष, और आध्यात्मिक पक्षके साथ समन्वय । अब संक्षेपसे आधिभौतिक चरित्रकी ओरभी आपका ध्यान आकर्षित कियाजाताहै । जोकुछ आधिदैविकमें है वही चरित्र अधिभूतमेंभी है । वैज्ञानिकोंनें उसी प्रकृतिके चरित्रके आधारपर सारी व्यवस्थाएं व्यवस्थित कीं हैं । भगवान् मनु भारतवर्षके सम्राट्थे । प्राकृतिक मनु प्राणकी आराधनाकर उसके द्वारा वही मनुशक्ति प्राप्तकर यह महापुरुष मनु नामसे प्रसिद्ध हुए । इनकी पत्नी श्रद्धादेवीथी । इनके पास बैलथा । ऋषभ गौर पशुहै । इसके आत्मामे ३३ देव प्राण प्रतिष्ठित रहते है । अतएव इसकी ध्वनि वास्तवमें असुरोंको दुःख पहुचातीहै । बात यथार्थहै । आसुर प्राण प्रधान नरराक्षस आजभी इस गो पशुसे विरोध कररहे हैं । इसीकी कमीसे हमारा दिव्यबल प्रतिक्षण क्षीण होता जारहाहै । वही हालत उस समयथी । मनुके ऋषभकी ध्वनि इन असुरोंको दुःख पहुंचाया करतीथी । फलतः किलाताकुलीके चक्रमें पडकर वृषभका आलम्बन होगया । आलब्ध ऋषभकी वाक् उत्क्रान्त होकर मनु पत्नीमें प्रविष्ट होगई । इसमें आश्चर्यकी कोई बात नही है । यदि हमारा कोई प्रिय व्यक्ति दुःखसे कातर होकर चीत्कार करने लगताहै तो, उसकी वह करुणाध्वनि हमारे अन्तःकरणमें प्रतिष्ठित होजाती है । एवं उस दुष्टके प्रति हमारे बुरे भाव होजातेहै । यही अवस्था मनु पत्नीकी हुई । उन्हें ऋषभसे बडा प्रेमथा । अतएव वह ध्वनितत्व उनके आत्मामें प्रतिष्ठित होगया । एवं असुरोंके प्रति मनुपत्नी नें बडा क्रोध प्रकट किया । असुर औरभी घबराए । विश्वास रहे यदि इस कथाका ऐतिहासिक मनुष्य मनुके साथ सम्बन्ध नही माना जाताहै तो 'भूयो हि मानुषी वाग् वदतीति' श्रुतिका यह वचन व्यर्थ चला जाताहै । अस्तु. आगे जाकर

इसकाभी आलम्भन करदिया गया। यही वाक्तत्व सजातीय सम्बन्धके कारण यज्ञपात्रोंमें प्रविष्ट होगई। आज निदानद्वारा उसी चरित्रका स्मरण करतेहुए समाहनन व्यापार किया जाताहै। वस्तुतस्तु यह आख्यान हमारे विचारसे केवल आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक चरित्रसेही सम्बन्ध रखताहै। 'ये ये अदन्तास्ते ते सान्ता' के अनुसार मन शब्द सकारान्तभीहै। मनस्ही मानुष्है। मनुही मानुषहै। इसकी शक्तिही मानुषी है। इसीके अभिप्रायमें 'भूयो हि मानुषी वाक् वदति' कहा प्रतीत होताहै। क्या कहैं वैदिक विज्ञान हमसे इतना तिरोहित होगयाहै कि उसके विषयमें 'इदमित्थमेव' कहना कठिनहै। 'विभाषा' की अनुवृत्तिके विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिनें कहाहै—'नदेतदवसन्तं संदिग्धमाचार्याणां विभाषानुवर्त्तते न वा'। इस मानुषी शब्दके विषयमें हमारीभी यही दशाहै। पुरुषादि पशुओंका आलम्भन होताथा यहतो ध्रुव सत्यहै। हमनें जो पूर्व कथाका केवल आध्यात्मिक और आधिदैविक चरित्रके साथ सम्बन्ध बतलायाहै उसका यह अर्थ नहीं है कि—पुरुषका आलम्भन सभव नहीं। परन्तु—मनुसम्राट्की पत्नीकी आहुति दी जाय—यह समझमें नहीं आता। अतः इस विवाद ग्रस्त विषयका निर्णयभार जिज्ञासा रूपसे विज्ञपाठकोंके ऊपर ही छोड़कर प्रकृतका अनुसरण करते हैं।

१४—१५—१६—१७

ब्राह्मण (विज्ञान) का निरूपण होचुका, अब आम्नाय बतलातेहैं। 'हे कुक्कुट आप मधु जिह्वहैं। आप हमारे लिए अन्न और रसकी वाणी बोलो। आपके सहारे हम अपने शत्रुओंके झुण्डके झुण्ड जीतनेमें समर्थ बनें' मन्त्र का यही अक्षरार्थहै, जैसाकि अनुवादमें बतलादिया गयाहै। तमोमय प्राण का नाम असुरहै। ज्योतिर्म्मय प्राण देवता कहलातेहैं। रात्रिमें आसुर प्राणोंका साम्राज्यहै, दिनमें ज्योतिर्म्मय प्राणका साम्राज्यहै। सौर रश्मिए

दिव्य प्राणमयीहैं । तमोमय रात्रिगत आसुर प्राणका विनाश करना इसका मुख्य कार्यहै । ब्राह्ममुहूर्त्तमें इस दिव्य सौर मधुप्राणका आगमन होताहै । सर्वत्र व्याप्त होताहुआ यह मधु प्राण सबसे पहिले कुक्कुट ग्रीवामें ही प्रविष्ट होताहै । इस प्राणके आघातसे कुक्कुट ग्रीवामें कण्ठ उत्पन्न होतीहै । इसीसे वह बोल पडताहै । इसी विज्ञानके आधारपर कुक्कुटको मधु जिह्व कहा जाताहै । अपि च दिव्य प्राणकी आराधना करनेवाले महर्षियोंके लिए इस गायत्रीछन्दा ब्राह्ममुहूर्त्तस्थ सौर दिव्य प्राणके अतिरिक्त और कोई अधिक प्रिय नहीं है । यह बात लोक प्रसिद्धहै कि यदि कोई मनुष्य हमें हमारे घनिष्ठ प्रेमी के आनेकी सूचना देताहै तो उसकेलिए हमारे मुखसे 'तुम्हारे मुंहमें घी शक्कर' यह अक्षर निकल पडतेहै । ब्राह्ममुहूर्तमें कुक्कुट हमारे इसी परम आराध्य दिव्य सौर प्राणके आनेकी सूचना देताहै । अत-एव उसकेलिए हम अवश्यही 'कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः'–यह कहसकतेहै यही सौर प्राण सारे अन्नोंका परिपाक करताहै । इसीसे बलप्रद ऊर्क्रस प्राप्त होताहै। इस बलप्रदरस, एवं अन्नके अधिष्ठाता सौर प्राणके आगमनकी सूचना कुक्कुटके द्वारा मिलतीहै । अतएव उसकेलिए 'इषमूर्जमावद' कहाहै। इसी प्राणके बलसे हम निद्रा–आलस्य–आदि पाप्मा असुरोंको जीतनेमें समर्थ होते हैं । इसी आधारपर 'त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म' यह कहाहै । दिव्यप्राणका आगमन काल यहीहै । अतः यही हमारा उत्थान कालहै यहभी उपदेशहै ।

अथ शूर्पमादत्ते । वर्षवृद्धमसीति वर्षवृद्धꣳ ह्येतद्यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणां वर्षमु ह्येवैतद् वर्द्धयति ॥ १९ ॥

अथ हविर्निर्वपति । प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्त्विति वर्षवृद्धा उ ह्येवैते यदि व्रीहयो यदि यवा वर्षमु ह्येवैतान् वर्द्धयति तत्सञ्ज्ञामेवैतच्छूर्पाय च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसातऽ इति ॥ २० ॥

अथ निष्पुनाति । परापूतꣳ रक्षः परापूताऽ अरातयऽ इत्यथ तुषान् प्रहन्त्यपहतꣳ रक्षऽ इति तन्नाष्ट्राऽ एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥ २१ ॥

अथापविनक्ति । वायुर्वो विविनक्त्वित्ययं वै वायुर्योऽयं पवतऽ एष वाऽ इदꣳ सर्वं विविनक्ति यदिदं किञ्च विविच्यते तदेनानेष एवैतद्विविनक्ति स यदेतऽ एतत् प्राप्नुवन्ति यत्रैनानभ्यपविनक्ति ॥ २२ ॥

अथानुमन्त्रयते—"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीताऽ असन्नित्यथ त्रिः फलीकरोति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥ २३ ॥

तदेके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमिति फलीकुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यादादिष्टं वाऽ एतद्देवतायै हविर्भ-

वत्यथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाह देवेभ्यः शुन्धध्वमिति तत्स-
र्वं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फली कुर्यात् ॥२४॥

इति प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये वा चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥ ४ ॥ प्रथमोऽध्यायश्च समाप्तः ॥१॥

अथ शूर्पमादत्ते—"वर्षवृद्धमसि"—(१ अ० १६ म०) इति । वर्षवृद्धं ह्येतत यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणाम् । वर्षमु ह्येवैना वर्द्धयति ॥ अथ हविर्निर्वपति—"प्रतित्वा वर्षवृद्धं वेत्तु"—(१ अ० १६ म०) इति । वर्षवृद्धा उ ह्येते यदि व्रीहयो यदि यवाः । वर्षमु ह्येवैतान् वर्द्धयति । तत्संज्ञामेवैतच्छूर्पाय च वदति—नेदन्योन्यं हिनसात इति ॥ अथ निष्पुनाति—"परापूतꣳ रक्षः परापूता अरातयः" (१ अ० १६ म०) इति । अथ तुषान् प्रहन्ति—"अपहतꣳ रक्षः"—(१ अ० १६ म०) इति । तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति । अथापविनक्ति—"वायुर्वो विविनक्तु"—(१ अ० १६ म०) इति । अयं वै वायुः—योऽयं पवते । एष वा इदं सर्वं विविनक्ति—यदिदं किञ्च विविच्यते । तदेनानेष एवैतद्विविनक्ति । न यदेन एतत्प्राप्नुवन्ति यत्रैनानभ्यपविनक्ति ॥ अथानुमन्त्रयते— "देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना"—(१ अ० १६ म०) । सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति । अथ त्रिः फलीकरोति—त्रिवृद्धि यज्ञः ॥ तद्वैके—"देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्व" मिति फलीकुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आदिष्टं वा एतद्देवतायै हविर्भवति । अथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाह—देवेभ्यः शुन्धध्वमिति । तत्सर्वं करोति । तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात् ॥

इस प्रकार हविष्कृदाह्वान कालमें दृषदुपलके सघातनके अनन्तर पत्नी अथवा आग्नीध्र दोनोंमें से कोई एक उलूखलस्थ हविर्द्रव्यका मूसल द्वारा कण्डन करताहै । इससे हविर्द्रव्यके तुष पृथक् होजाते हैं । इस प्रकार हवि-

द्रव्यके तुषसे पृथक् होजाने पर वही आग्नीध्र अथवा पत्नी 'वर्षवृद्धमसि' (१।१।६ म०) यह मन्त्र बोलतेहुए शूर्प (छाजला) ग्रहण करतेहैं। यह शूर्प नड़-वेणु-इषीक-से बनताहै। जंगलमें उत्पन्न होनेवाले बृहत् काय तृण (जिनसे छप्पर बांधाजाताहै-एवं जो राजपूतानेमें 'फडला' नामसे प्रसिद्धहै-वही यहां नड़ शब्दसे गृहीतहैं) ही नडहै। वंश (बांस) ह्रतही वेणुहै। एवं नडके भीतरसे निकलने वाली अति चिक्कण शलाकाएं ही इषीकहैं। शूर्प इन्ही तीनो से बनाया जाताहै। जहां जलकी अधिकता होतीहै वहीं यह तीनों द्रव्य बहुतायतसे उत्पन्न होतेहैं। नड़हो, वेणुहो, या इषीक हो तीनोंका वर्द्धन वर्षाद्वाराही होताहै। वर्षाका पानीही इनको बढ़ाताहै। अतः हम इन्हें आराग्रही वर्षवृद्ध कहनेके लिए तय्यारहै। शूर्प इसी वर्षवृद्धसे निष्पन्न होताहै अतएव वहभी इसी नामसे व्यवहृत किया जाताहै ॥ १६ ॥

शूर्प ग्रहणानन्तर 'प्रतिन्त्वेति हविरुद्वपति' (का० श्रौ० सू० १६ अ० २ कं० ४) के अनुसार 'प्रतित्वा वर्षवृद्धं वेत्तु' (१।१।६) यह मन्त्र बोलताहुआ आग्नीध्र उस शूर्पमें हविर्द्रव्यका निर्वाप करताहै। व्रीही, यव, आदि हविर्द्रव्य वर्षवृद्धही है। वर्षाही इनको सवृद्ध करतीहै। उधर शूर्पभी पूर्व कथनानुसार वर्षवृद्धहीहै। उस शूर्प-और हवि दोनोंमें विजातीय भावमूलक हिंसा भावका प्रवेश न होजाय, आपुसमें एक दूसरेका घात न करबैठें इसी आसुरी यज्ञविनाशिका वृत्तिको दूर करनेके लिए प्रतित्वा' इत्यादिसे आग्नीध्र शूर्पकेलिए संज्ञाही बोलताहै। संज्ञा शब्दका अर्थ है परिचय कराना। कैसा परिचय-सजातीय मूलक। यह आपहीकाहै, आप हमारेहीहैं यही संज्ञा सम्बन्धहै। लोकमें जिनका ऐसा सम्बन्ध होताहै वह परस्परमें 'सगा सम्बन्धी' कहलातेहै। वस्तुतः यह 'संज्ञा सम्बन्धी' का ही विकृतरूपहै। शूर्प और व्रीहि हम स्थूल बुद्धियोंके लिए जड होतेहुएभी सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठाता क्षेत्रज्ञायस नामसे प्रसिद्ध अव्यय मनका वास्तविक स्वरूप समझने

वाले आप्त महर्षियोंकी दृष्टिमें सब चेतनहैं। अतः व्रीहिकेलिए 'प्रतितिष्ठ वर्षवृद्धं वेत्तु' कहना ठीक समन्वित होजाताहै ॥२०॥

हवि निवापानन्तर 'परापूतमिति निष्पुनाति' (का० श्रौ० २ अ० २ कं० ४ के अनुसार वह आग्नीध्र 'परापूतं रक्षः परापूता अरातयः' (यजुः १।१६) यह मन्त्र बोलताहुआ हविर्द्रव्यसे तुषभागको पृथक् कर उसे स्वच्छ अतएव पवित्र बनाताहै। अनन्तर—'अपहतमिति तुषान्निरस्यति (का० श्रौ० २।८।२।४) के अनुसार 'अपहतं रक्षः' (१।१७) यहमन्त्र बोलताहुआ अध्वर्यु आग्नीध्रसे सोंपेगए तुषोंको उत्करमें डालताहै। तुष विजातीय द्रव्यहै। यह अन्नका मलभागहै। मलभागही पाप्माहै। पाप्माही यज्ञविघातक असुरहै। इनको पृथक करना अपने यज्ञमेंसे असुर राक्षसोंको ही निकालनाहै ॥ २१ ॥

वितुषी करणानन्तर 'वायुर्व' इति विविनक्ति' (का० श्रौ० २।१।२।४) के अनुसार आग्नीध्र वितुषीभूत तण्डुलोंको साफ करताहै। वितुषी करणके अनन्तर न कुटे हविर्द्रव्यको हटानेकेलिए जो व्यापार किया जाताहै उसीके लिए यहा 'विविनक्ति' कहाहै। यही व्यापार लोकभाषामें 'बीनन' नामसे प्रसिद्धहै। तात्पर्य यहीहै कि जिस समय हविको उलूखलमें कूटागयाथा उससमय कुछ हवि बिना कुटा रहगयाथा। वितुषी करणके अनन्तर उन न कुटेहुए तण्डुलोंको अलग छांटकर पुनः ऊखलमें डालकर उनका कण्डन किया जाताहै। इसप्रकार न कुटेहुए शूर्पस्थ हविर्भागको पुनः कण्डनके लिए पृथक करनाही यहा प्रकृतमें विविनक्तिसे अभिप्रेतहै। छांटकरना वायुका कार्यहै। न केवल अन्नही अपितु संसारमें जो कुछहै, सबका छांट वायुही करताहै। हम अपने हाथसे जो छांट करतेहैं वहभी वायुकाही काम है। वायुके संचारसे ही दूसरे शब्दोंमें वायुके प्रसारणसे ही रक्तका संचार होताहै। रक्त संचारसे ही हाथ इधर उधर होताहै। इसी सामान्य नियमके अनुसार यहांभी इन कुटेहुए और न कुटेहुए तण्डुलोंकी छांट यह वायुही करताहै। बस आग्नीध्रद्वारा जिससमय यह तण्डुल इस विविक्त भावको प्राप्त होते हैं उससमय जिस दृढ़ पात्रीमें इन तण्डुलोंको प्रस्तुत डालदेताहै ॥ २२ ॥

उस पात्रीगत हवि का 'देवो व इति पाण्यामोप्याभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० २।२।१४) के अनुसार 'देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णातु–अच्छिद्रेण पवित्रेण' (यजुः १।१६) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु अनामिकाग्र से स्पर्श करता हुआ उसे मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करता है। प्रेरयिता प्राण का ही नाम सविता है। परमेष्ठी के उपग्रहभूत इस सविताग्रह की प्रेरणाका त्रैलोक्य में सर्व प्रथम सूर्य्य के ही साथ सम्बन्ध होताहै। अतः सूर्य्यको ही सविता मानलिया जाताहै। इस सविता सूर्य्यकी रश्मिएं ही इसके हाथ हैं। कर्म्म प्रवर्त्तक अङ्ग ही हस्त कहलाताहै। सारे त्रैलोक्य कर्म्मका संचालन सवितामाणात्मक सूर्य्य अपनी रश्मियोंसे ही करते हैं। अतः इन सौर रश्मियों को हम अवश्यही सविताके हाथ मानने के लिए तय्यार हैं। सौर रश्मिएं सावित्राग्निमयी हैं। अग्नि हिरण्यरेताहै। अतएव इन हाथों को हम सुवर्ण के कह सकते हैं। सत्यतत्व अच्छिद्र कहलाताहै। और अग्नि सत्य है। अतः उसे हम अच्छिद्र मानने के लिए तय्यार हैं। दूषित वारुण आसुरभावको अपनी शक्तिसे नष्ट कर पदार्थोंको पवित्र बनाना इन्हीं सौर रश्मियोंका कार्य है। यदि आपके वस्त्रों में दुर्गन्धहै—यदि कोई वस्तु भीतर बन्द कमरे में रक्खी हुई सड़ रही है तो आप उसे धूपमें रख-दीजिए। उसी हिरण्यपाणिसविताके सम्बन्धसे सारा दोष हटजायगा। ऐसी अवस्था में हम अवश्यही हिरण्यपाणि सविता के रश्मिमय आग्नेय तेजको 'अच्छिद्र पवित्र' कह सकते हैं। संसारके प्राणिमात्रमें इसी प्रेरणाका समावेशहै। जिसमें इस प्रेरणाका विकास होताहै, वही उस कार्यको यथावत् संपन्न करने में समर्थ होताहै। उसका रश्मिरूप पाणि अवश्यही हिरण्मय है। अतएव वह अच्छिद्रपाणिहै। ऐसे हाथसे जो वस्तु उठाई जाय वही सुप्रतिगृहीतहै। तात्पर्य यही है कि इडा पात्री में हवि रखते समय यदि हविका कुछ अंशभी भूमि पर गिरजाताहै, तो यज्ञ नष्ट होजानेकी सम्भा-

वनाहै । अतः उसे सुप्रतिष्ठित करने के लिएही मन्त्र द्वारा हविमें देवभाग का समावेश कराया जाताहै । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'सुप्रतिगृहीता असन्' यह कहाहै ।

विंतुषीकरणार्थ शूर्पको हाथमें लेकर जो व्यापार कियाजाताहै, वही 'फलीकरण' (फटकना) नामसे प्रसिद्ध है । एकवारके फटकनेसे ही सारे तुप पृथक् नहीं होते । बार बार फटकना पड़ताहै । जिनका कन्डन नहीं होना, उन्हें फिर उलूखलमें डाला जाता है । यह फलीकरण व्यापार यज्ञकर्म्ममें तीन बारही कियाजाताहै । इनमेंसे पहिली बार तो सारा कर्म्म पूर्वोक्त मन्त्रसे कियाजाताहै । दूसरी बार एवं तीसरी बार सारा कर्म्म तूष्णीं ही कियाजाताहै । अन्न–ऊर्क्–प्राणभेदसे भी यज्ञ त्रिवृत् है । गार्हपत्य, आहवनीय–दक्षिणाग्नि भेदसे भी यज्ञ त्रिवृत्है । यज्ञमूर्ति ऋक्–यजुःसाम भेदसे भी यज्ञ त्रिवृत्है । त्रिवृत–पंचदश–एकविंशस्तोम भेदसे भी वितान यज्ञ त्रिवृत् है । अग्नि–वायु–आदित्यभेदसे भी यज्ञ त्रिवृत् है । गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती भेदसे भी यज्ञ त्रिवृत् है । प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन भेदसे भी यज्ञ त्रिवृत् है । स्तोत्र–शस्त्र–ग्रहभेदसे भी यज्ञ त्रिवृत्है । पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–भेदसे भी यज्ञ त्रिवृत् है । लोक–वेद–वाक् भेदसे भी यज्ञ त्रिवृत् है । इष्टि–पशु–सोम भेदसे भी यज्ञ त्रिवृत् है । ज्योति–गो–आयु भेद से भी यज्ञ त्रिवृत् है । चूंकि यज्ञसीमा तीन पर समाप्त होजाती है । अतः 'त्रिवृद्धि यज्ञः' इस अनुगम श्रुति के अनुसार तीनवार ही फलीकरण करना उचितहै । २३ ।

हविको शुद्ध करनेवाला यह फलीकरण व्यापार, तूष्णीं ही किया जाताहै । केवल प्रथम बार पूर्वोक्त मन्त्रोंका प्रयोग कियाजाताहै । इस पर कितने ही याज्ञिकोंका कहनाहै कि प्रथम बार तो पूर्वोक्त मन्त्रोंसे ही फली-

करण करना चाहिए। परन्तु द्वितीय और तृतीय बार—तूष्णीं न कर—'देवेभ्यः शुन्धध्वं—देवेभ्यः शुन्धध्वम्' यह मन्त्र बोलते हुए फलीकरण करना चाहिए। इस पर भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। यह हविर्द्रव्य शकटसे ग्रहणकाल में ही तत्तद्देवताओं के लिए नाम पूर्वक नियत होगया है। ऐसी अवस्थामें यहां देवेभ्य कहना इस हविको वैश्वदेव (सम्पूर्णदेवताओं की संपत्ति) बनाना है। ऐसा करना जिन देवताओं के लिए यह हवि नियत हो चुका है उनके साथ अन्य देवताओं का कलह पैदा करना है। इस लिए तूष्णी ही फलीकरण करना चाहिए। २४।

॥ इति हविर्ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

इति प्रथम काण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये वा चतुर्थ ब्राह्मणम्।

प्रथमोऽध्यायश्च समाप्तः

१

अथ प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

स वै कपालान्येवान्यतर ऽउपदधाति । दृषदुपले ऽअन्यतरस्तद्वा ऽएतदुभयꣳ सह क्रियते तद्यदेतदुभयꣳ सह क्रियते ॥ १ ॥

शिरो ह वा ऽएतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाशः । स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालान्येतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क ऽएव पिष्टानि तद्वा ऽएतदेकमङ्गमेकꣳ सह करवाव समानं करवावेति तम्माद्वा ऽतदुभयꣳ सह क्रियते ॥ २ ॥

स यः कपालान्युपदधाति । स ऽउपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति स यदेनेनाग्निं धृष्णिवद्वोपचरति तेन धृष्टिरथ यदेनेन यज्ञ ऽउपालभत ऽउपेव वा ऽएनेनैतद्वेवेष्टि तस्मादुपवेषो नाम ॥ ३ ॥

तेन प्राचो ऽङ्गारानुदूहति । अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादꣳ सेधेत्ययं वा ऽआमाद्येनेदं मनुष्याः पक्त्वा श्नन्त्यथ येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यादेतावेवैतदुभावतो ऽपहन्ति ॥ ४ ॥

अथाङ्गारमास्कौति । आ देवयजं वहेति यो देवयाड् तस्मिन् हवींष्यपि श्रपयाम तस्मिन् यज्ञं तनवामहा ऽइति तस्माद्वा ऽअङ्गारमास्कौति ॥ ५ ॥

तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति । देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्ते ऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयांचक्रुर्नेन्नो ऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवमुपदधाति तद्यदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्मान् मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति ॥६॥

स उपदधाति । ध्रुवमसि पृथिवीं दृंहेति पृथिव्या ऽएव रूपेणैतदेव दृंहत्येतेनैव क्षिपन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त ऽउभे वीर्ये सजातवनीति भूमा वै सजातास्तद्भूमानमाशास्त ऽउपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति यदि नाभिचरेद् यद्यु अभिचरेदमुष्य वधायेति ब्रूयादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥७॥

अथाङ्गारमास्कौति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥८॥

अथाङ्गारमध्यूहति । अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्वेति नेदह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवमध्यूहति ॥९॥

अथ यत्पश्चात् तदुपदधाति । धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳहेत्यन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव दृꣳहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति ॥१०॥

अथ यत्पुरस्तात् तदुपदधाति । धर्त्रमसि दिवं दृꣳहेति दिव एव रूपेणैतदेव दृꣳहत्येतेनैव [द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य] वधायेति ॥११॥

अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति । विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति स यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद् द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ऽनद्धा वै तद् यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वानद्धो तद्या विश्वा आशास्तस्मादाह विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति तूष्णीं वै वेतराणि कपालान्युपदधाति चितस्थोर्ध्वचित इति वा ॥१२॥

अथाङ्गारैरभ्यूहति । भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमि-

त्येतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद्भृग्वङ्गिरसा ॐ सुतप्तान्यसन्निति तस्मादेवमभ्यूहति ॥१३॥

अथ यो दृषदुपले उपदधाति । स कृष्णाजिनमादत्ते शर्म्मासीति तदवधूनोत्यवधूत ॐ रक्षोऽवधूता अरातय इति सोऽसावेव बन्धुस्तत् प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणात्यदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्त्विति सोऽसावेव बन्धुः ॥१४॥

अथ दृषदमुपदधाति । धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति धिषणा हि पर्वती हि प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत् सञ्ज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदाति नेदन्योऽन्य ॐ हिनसातऽइतीयमेवैषा पृथिवी रूपेण ॥१५॥

अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति । दिवस्कम्भनीरसीत्यन्तरिक्षमेव रूपेणान्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे तस्मादाह दिवस्कम्भनीरसीति ॥१६॥

अथोपलामुपदधाति । धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति तस्मादाह पार्वतेयीति प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति प्रति हि स्वः सञ्जानीते तत् सञ्ज्ञामेवैतद्दृषदुपलाभ्यां वदाति नेदन्योऽन्य ॐ हिनसात इति शौरेवैषा रूपेण हनूऽ एवं दृषदुपले जिह्वेव शम्या तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि वदति ॥१७॥

अथ हविर्धिवपति । धान्यमसि धिनुहि देवानिति धान्यꣳ हि देवान् धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥ १८ ॥

अथ पिनष्टि । प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति प्रोहति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वेति ॥ १९ ॥ (शतम् । १००) ॥

तद्यदेवं पिनष्टि । जीवं वै देवानाꣳ हविरमृतममृतानामथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृशदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥ २० ॥

स यदाह । प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत्प्राणोदानौ दधाति व्यानाय त्वेति तद् व्यानं दधाति दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति चक्षुषे त्वेति तच्चक्षुर्दधात्येतानि वै जीवतो भवन्त्येवमु हैतज्जीवमेव देवानाꣳ हविर्भवत्यमृतममृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पिꣳषन्ति पिष्टान्यभीन्धते कपालानि ॥ २१ ॥

अथैक आज्यं निर्वपति । यद्वा ऽआदिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते यावद्देवत्यं तद्भवति तदितरेण यजुषा गृह्णाति न

नऽएतत् कस्मै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यं तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति महीनां पयोऽसीति मह्य इति ह वा एतासामेकं नाम यद् गवां तासां वा ऽएतत् पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीत्येवमु हास्यैतत् खलु यजुषैव गृहीतं भवति तस्माद्वेवाह महीनां पयोऽसीति ॥ २२ ॥ ५ ॥

इति प्रथमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥२—१॥

सर्वे कपालान्येवान्यतर उपदधाति, दृषदुपले अन्यतरः । तद्वा एतदुभयं सह-क्रियते । तद्यदेतदुभयं सह क्रियते ॥ शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य—यत्पुरोडाशः । स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि—एतान्येवास्य कपालानि, मस्तिष्क एव पिष्टानि । तद्वा एतदेकमङ्गम् । एकं सह करवाव, समानं करवावेति । तस्माद्वा एतदुभयं सह क्रियते ॥ स यः कपालान्युपदधाति, स उपवेषमादत्ते—धृष्टिरसि (१अ० १७मं०) इति । स यदेनेनाग्निं धृष्णुरिवोपचरति, तेन धृष्टिः । अथ यदेनेन यज्ञ उपेव वा एनेनैतद्वेवेष्टि । तस्मादुपवेषो नाम ॥ तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति—अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादᳪसेध (१ अ० १७ म०) इति । अयं वा आमाद् येनेदं मनुष्याः प—क्त्वा अश्नन्ति । अथ येन पुरुषं दहन्ति, स क्रव्यात् । एतावेवैतदुभावतोऽपहन्ति ॥ अथाङ्गारमास्कौति—आ देवयजं वह—(१अ० १७म०) इति । यो देवयाट्, तस्मिन् हवींषि श्रपयाम; तस्मिन् यज्ञं तनवामहा—इति । तस्माद्वा आस्कौति ॥ तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति । देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्ते; असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः, नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्युपोत्तिष्ठानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता । तस्मादेवमुपदधाति । तद्यदेष एव भवति, नान्यः । एष हि यजुष्कृतो मेध्यः । तस्मा-

न्मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति ॥ स उपदधाति "ध्रुवमसि पृथिवीं दृᳬह—" (१ अ० १७ म०) इति । पृथिव्या एव रूपेणैतदेव दृहति । एतेनैव द्विषन्त भ्रातृव्य-मवबाधते—ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय" (१ अ० १७ म०) इति । वह्वीर्वै यजुःष्वाशी, तद् ब्रह्म च क्षत्र चाशास्ते । उभे वीर्ये । सजातवनीति । भूमा वै सजाता', तद् भूमानमाशास्ते । उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति—यदि नाभिचरेत् । यद्यु अभिचरेद्—अमुष्य वधायेति ब्रूयात् । अभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥ अथाङ्गारमास्कौति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति । ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता । तस्मादभिनिहितमेव सव्य-स्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥ अथाङ्गारमभ्यूहति—"अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व"—(१ अ० १८ म०) इति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षास्याविशानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता । तस्मादेवमभ्यूहति ॥ अथ यत्पश्चात्तदुपदधाति—"धरुणमस्यन्तरिक्षं दृᳬह"—(१ अ० १८ म०) इति । अन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव दृंहति । एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृ-व्यमवबाधते—"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय" (१ अ० १८ म०) इति । अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति—"धर्त्रमसि दिवं दृᳬह" (१ अ० १८ म०) इति । दिव एव रूपेणैतदेव दृंहति । एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृ-व्यमवबाधते—"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय" (१ अ० १८ म०) इति । अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति—"विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि"—(१ अ० १८ म०) इति । स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा । तेनैवैतद् द्विषन्त भ्रातृव्यमवबाधते । अनद्धा वै तद्—यदिमाँल्लोकानति चतु-र्थमस्ति वा न वा । अनद्धो तद्—यद् विश्वा आशा' । तस्मादाह—'विश्वाभ्यस्त्वा-शाभ्य उपदधामि'—इति । तूष्णीं वैवेतराणि कपालान्युपदधाति । "चितस्थोर्द्ध्व-चितः"—(१ अ० १८ म०) इति वा । अथाङ्गारैरभ्यूहति— 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्व "—(१ अ० १८ म०) इति । एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद् भृग्वङ्गिर साम् । सुतप्तान्यसन्निति—तस्मादेवमभ्यूहति ॥ अथ यो दृषदुपले उपदधाति—स

कृष्णाजिनमादत्ते—"शर्म्मासि"—(१ अ० १९ मं०) इति। तदवधूनोति—"अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः"—(१ अ० १९ मं०) इति। सोऽसावेव बन्धुः। तत् प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति—"अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु"—(१ अ० १९ मं०) इति। सोऽसावेव बन्धुः। अथ दृषदमुपदधाति—"धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्तु"—(१ अ० १९ मं०) इति। धिषणा हि, पर्वती हि, प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्त्विति। तत्संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति—नेदन्योन्यं हिनसात इति। इयमेवैषा पृथिवी रूपेण। अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति-"दिवस्कम्भनीरसि"—(१ अ० १९ मं०) इति। अन्तरिक्षमेव रूपेण। अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे। तस्मादाह—दिवस्कम्भनीरसीति। अथोपलामुपदधाति—"धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु"—(१ अ० १९ मं०) इति। कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति। तस्मादाह पार्वतेयीति। प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति। प्रति हि स्वः संजानीते। तत् संज्ञामेवैतद् दृषदुपलाभ्यां वदति नेदन्योन्यं हिनसात इति शिरेवैषा रूपेण। हनू एव दृषदुपले। जिह्वैव शम्या। तस्माच्छम्यया समाहन्ति। जिह्वया हि वदति॥ अथ हविरधिवपति—"धान्यमसि धिनुहि देवान्"—(१ अ० २० मं०) इति। धान्यं हि देवान् धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते॥ अथ पिनष्टि—"प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धाम्"—(१ अ० २ मं०) इति। प्रोहति—"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा"—(१ अ० २० मं०) इति॥ तद्यदेवं पिनष्टि। जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्। अथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञं घ्नन्ति॥ स यदाह—प्राणाय त्वोदानाय त्वेति, तत्प्राणोदानौ दधाति। व्यानाय त्वेति, तद् व्यानं दधाति। दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति, तदायुर्दधाति। देवो वः सविताहिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना, सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति। चक्षुषे त्वेति, तच्चक्षुर्दधाति। एतानि वै जीवतो भवन्ति। एवमु हैतज्जीवमेव देवानां हविर्भवत्यमृतममृतानाम्। तस्मादेवं पिनष्टि। पिषन्ति पिष्टानि, अथान्यत्र कपालानि॥ अथैकं आज्यं निर्व-

पति । यद्वा आदिष्ट देवतायै हविर्गृह्यते—यावद्दैवत्य तद् भवति । तदितरेण यजुषा गृह्णाति । न वा एतत्कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति—यदाज्यम् । तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति—"महीनां पयोऽसि"—(१ अ० २० मं०) इति । मह्य इति ह वा एतासामेक नाम—यद् गवाम् । तासा वा एतद् पयो भवति । तस्मादाह—महीना पयोसीति । एवमु हास्यैतत् खलु यजुषैव गृहीतं भवति । तस्माद्वेवाह—महीना पयोऽसीति ॥

पुरोडाशब्राह्मणम्

अथ प्रथम काण्डे प्रथम प्रपाठके द्वितीयाध्याये

प्रथमं ब्राह्मणम्

७—उपवेषसम्पादनम्—अग्नौकपालोवधानेन हविःपाकम्

(हविर्द्रव्यका परिपाक कपालों में होताहै । एतदर्थ कपालका उपधान होताहै । यह उपधान गार्हपत्यखरके अपरार्द्ध में होताहै । इसमें पिष्ट हविर्द्रव्य रक्खा जाताहै । एवं अंगारोंसे इसका यथाविधि परिपाक कियाजाताहै । यज्ञिय असम्पन्न (अपरिपक्व) अन्न 'हवि' कहलाताहै । एवं वही सम्पन्न (परिपक्व) होकर पुरोडाश नामसे व्यवहृत होने लगताहै । इस इष्टिमें आग्नेयपुरोडाश, अग्निषोमीय पुरोडाशभेदसे पुरोडाशद्रव्य दो भागों में विभक्त है । इसी भाग क्रमके अनुसार कपाल भी दो भागों में विभक्त है । आग्नेय कपाल आठहै, अग्नीषोमीय कपाल एकादशहै । आग्नीध्र नामसे प्रसिद्ध अध्वर्युका सहकारी ऋत्विक् जलसे प्रक्षालित कपालोंको लेकर गार्हपत्यखरके पश्चिमभागमें पूर्वपश्चिम क्रमसे क्रमशः आग्नेयपुरोडाश सम्बन्धि आठ आग्नेय कपालों को रखताहै, एवं गार्हपत्यके उत्तरभागमें पूर्वपश्चिम क्रमसे क्रमशः

अग्निषोमीय पुरोडाश सम्बन्धी ग्यारह अग्नीषोमीय कपालोंका उपधान करताहै। इन कपालोंका उपधान निम्नलिखित क्रमसे होताहै। मध्यमें मुख्य प्रथम कपाल रहताहै। इसके पश्चिममें दूसरा, पूर्वमें तीसरा, दक्षिणमें चौथा, चतुर्थके पूर्व-एक कपालका व्यवधान छोड़कर पांचवां, चतुर्थ पंचमके मध्य में छठा, चतुर्थके पश्चिम में सातवां, सातवेंके पश्चिममें आठवां। सबके उत्तर में-नवम, दशम, एकादश कपालोंका पूर्वक्रमसे उपधान करना चाहिए। अग्नीषोमीय एकादश कपालोंका यही उपधान क्रमहै।

अग्नीषोमीय एकादश कपालोपधान परिलेख--.

पूर्वा.

उदीची.

<table>
<tr><td rowspan="2">११</td><td rowspan="2">३</td><td>५</td></tr>
<tr><td>६</td></tr>
<tr><td>१०</td><td>१</td><td>४</td></tr>
<tr><td rowspan="2">९</td><td rowspan="2">२</td><td>७</td></tr>
<tr><td>८</td></tr>
</table>

दक्षिणा.

पश्चिमा.

एवं निम्नलिखित रूप आग्नेय अष्ट कपालोंका समझना चाहिए। अपरस्थानस्थित मध्यअगारमें मध्यकपाल (मुख्यकपाल-प्रथमकपाल) रक्खा जाताहै। मध्यम कपालके पश्चिमभागमें द्वितीय कपाल, मध्यमकपाल के पूर्वभागमें तृतीय कपाल, मध्यम कपालके दक्षिणभागमें चतुर्थकपाल,

चतुर्थकपालके पूर्वमें पूर्वभागमें पञ्चम कपाल, चतुर्थकपालके पश्चिम भागमें षष्ठ-कपाल, मध्यम कपालके पश्चिम भागमें स्थापित द्वितीय कपालके उत्तरमें सप्तमकपाल, सप्तकपालके पूर्वमें अष्टम कपालका उपधान होताहै। जैसाकि अनुपदमेंही पद्धति क्रमनिरूपणमें स्पष्ट होजायगा।

आग्नेय अष्टाकपालोपधान सम्बन्धी परिलेख—

पूर्वा

उदीची			दक्षिणा
	३	५	
	१	४	
७ ८	२	६	

पश्चिमा

प्रकृतमें इस से हमें केवल यही बतलाना है कि कपालोपधान करना आग्नीध्र का कर्म्म है, दृषदुपलसे हविर्द्रव्य का पेषण करना अध्वर्यु का काम है। तात्पर्य यही है कि हविः पेषण और कपालोपधान दोनों सहकारी कर्म्म हैं। दोनों एकसाथ होतेहैं। ऐसी अवस्थामें एकही ऋत्विक् तो एक-साथ दोनों कर्म्म करनहीं सकता। अतः अध्वर्यु पेषणार्थ उसी कालमें दृष-दुपल का (हविःपेषणार्थ) उपधान करताहै, एवं आग्नीध्र उसी कालमें कपालों का उपाधान करताहै। कपालोपधान बहिरंग कर्म्महै। अतः अध्वर्यु

की अपेक्षा बहिरंग आग्नीध्र—यह कर्म्म करताहै। एवं पेषणकर्म्म आहुति-स्वरूप संपादक होताहुआ अन्तरंग कर्म्म है। अतः आग्नीध्र की अपेक्षा अन्तरंग अध्वर्यु पेषण कर्म्म करताहै। बस इस प्रथम ब्राह्मणमें प्रधानरूपसे इन्हीं दोनों कर्म्मोंकी आवृत् (पद्धति) बतलाई गईहै—

ऋत्विजोंके मध्यमें आग्नीध्र नामका एक ऋत्विक् कपालोंका उपधान करताहै। एवं अन्यतर (अध्वर्यु) ऋत्विक् (हविः पेषणार्थ) दृषदुपलका उपधान करताहै। इस प्रकार 'पेषणोपधाने युगपत्' (का० श्रौ० सू० २।४।२४ के अनुसार यह दोनों कर्म्म एकसाथ किएजाते हैं। सो जोकि यह दोनों कर्म्म एकसाथ किए जातेहैं (उसकी उपपत्ति बतलाते हैं) ॥१॥

यह यज्ञका मस्तकहै, जोकि पुरोडाशहै। इस मस्तक सम्बन्धी जो कपाल (खोपडी) है, वेही इस यज्ञके कपालहैं। मस्तिष्कही पिष्टद्रव्य (पिसाहुआ पुरोडाश) है। इसप्रकार (मनुष्यमें) कपाल स्थानीय कपाल, एवं पुरोडाश स्थानीय मस्तिष्क दोनों मिलकर 'शिर' 'मस्तक' आदि नामसे व्यवहृत एुए अंगहैं। (हमभी अपने यज्ञमें) दोनोंको एकसाथ बनावें—समान बनावें इसीलिए उपरोक्त दोनोंकर्म्म एकसाथ किए जाते हैं ॥२॥

जिन अंगारोंसे हविद्रव्यका परिपाक किया जाताहै उन्हें हस्ताकृतियुक्त जिस काष्ठदण्डसे इतस्ततः किया जाताहै—'अङ्गारविभजनार्थं काष्ठमुपवेशः' (सा० भा०) के अनुसार वही काष्ठ 'उपवेष' नामसे प्रसिद्धहै) सो जो ऋत्विक् (आग्नीध्र) कपालोंका उपधान करताहै, वही 'धृष्टिरसी' त्युपवेषमादाय (का० श्रौ० २।२।४।२५) के अनुसार धृष्टिरसि (यजुः १।१७)

१—जलत् अतएव तीव्र अंगारों को यह उपवेष इतस्ततः करनेंमें समर्थहै—इसीलिए कहतेहैं—हे उपवेष आप धृष्टिहैं। अर्थात् प्रगल्भहैं। एकबात और ध्यानमें रखनी चाहिए। यदि यज्ञकर्त्ता ब्राह्मणहै तो उसका उपवेष पलाश शाखाका होताहै। क्योंकि 'पालाशो बैल्वस' के अनुसार पलाश ब्रह्मवीर्य्य युक्तहै। इसी आधारपर—'मूलतः शाखां परिवास्य—उपवेषं करोति' (सा० भा० १।१७) यह कहा जाताहै।

यह मन्त्र बोलता हुआ उपवेष उठाताहै। वह आग्नीध्र इस हस्ताकृतियुक्त काष्ठसे अङ्गाराग्निका धर्षण करताहै। अर्थात् जिस प्रगल्भताके साथ साकर्य्यके साथ काष्ठसे अग्निको इधर उधर किया जासकताहै उसप्रकार हाथसे (जलनेके भयसे) वैसा नहीं किया जासकता। अतः प्रगल्भार्थक ञिधृषा (स्वा० प० २३) धातुसे 'धृष्णोति अनेन' इस करण व्युत्पत्तिसे इस काष्ठ खण्डको 'धृष्टि' कहा जाताहै। इस काष्ठ खण्डसे अंगारादि को यथावत् प्राप्त करनेमें समर्थ होताहै। इस उपवेषसे अंगारोंद्वारा यज्ञका परिवेष्टन करताहै। उसका स्वरूप संपादन करताहै अतः व्याप्त्यर्थक विष्लृ धातुसे (जु० उ० १३) वेवेष्टीव अनेन इस व्युत्पत्ति से इस काष्ठको 'उपवेष' नामसे भी व्यवहृत किया जाताहै ॥३॥

इस उपवेषसे (वह अग्नीध्र) 'अपाग्न' इत्यङ्गारान् प्राचः करोति' (का० श्रौ० २।२।४।२५) के अनुसार 'अपाग्ने[२] अग्निमामदं जहि निष्क्रव्यादं सेध' (यजुः १।१७) यह मन्त्र बोलताहुआ गार्हपत्य खरस्थ अपर भागीय अंगारोंको पूर्वभागमें लेजाताहै। कारण इसका यही है कि खरके अपरार्द्ध भागमें कपालोपधानका विधान है, अतः इस स्थानको रिक्त करनेके लिए यहांसे अंगारोद्वहन आवश्यकहै। यह अग्नि आमादहै जिससे कि मनुष्य अन्नको पकाकर खाया करतेहै। एवं जिससे पुरुषको जलातेहैं वह अग्नि क्रव्यादहै। इन्ही दोनों भावोंको इस (देवप्राणमय) यज्ञसे (उपरोक्त मन्त्र द्वारा) हटाते है ॥४॥

अंगारोद्वहनानन्तर—'आदेवयजनमित्यङ्गारमाहृत्य' (का० श्रौ० २।२।४।२६) के अनुसार 'आदेव यजं वह' (१।१७) यह मन्त्र बोलताहुआ

२—हे अग्ने आप अपने आमात्—क्रव्यात् स्वरूपका परित्याग कीजिए। शेष विवेचना में स्पष्ट होगा।

ऋत्विक् (पुरोडाश श्रपणार्थ) अंगारों का विभाग करताहै । जो अग्नि देवयाट् (देवताओंका यजन करनेवाला) है, उसी में हम हविर्द्रव्य का परिपाक करें, उसी में यज्ञको वितत करें—इसी (देवभाव माप्तिके) लिए अंगारोंको विभक्त करताहै ॥५॥

'आ देवयजनं वह' इस मन्त्रसे पूर्वदिशामें ले १ हुए अंगारोंमेंसे मध्य के एक अंगारको उपवेषद्वारा पुरोडाश श्रपणस्थानमें लाकर वहां उसे प्रतिष्ठितकर आग्नीध्र उस प्रतिष्ठित अंगार के ऊपर एक कपालको रखताहै । अंगारके ऊपर कपाल क्यों रक्खा जाताहै? इसकी उपपत्ति बतलाते हैं । यज्ञ वितान करते हुए देवता असुरों के आक्रमण से डरने लगे । 'असुर राक्षस हमारे इस हविके नीचेसे न निकल पड़ें' देवताओंके डरनेका यही कारणथा । अग्नि राक्षसों का नाशकहै । इसलिए इस प्रकार (अंगारके ऊपर) कपालोपधान करते हैं । अन्य कपालोंमें से यही एक मध्यकपाल असुरोंको नष्ट करनेमें समर्थ है । अन्य कपाल नहीं । क्योंकि यही यजुष्कृत (मन्त्र बलसे युक्त) होता हुआ मेध्यहै । इसलिए मध्यम कपाल से ही प्रथम उपधान करते हैं ॥६॥

कर्मका ब्राह्मण (उपपत्ति—विज्ञान) बतलादिया गया । अब पद्धति बतलातेहैं । वह आग्नीध्र—'ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह ब्रह्मवनित्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय' (१।१७) यह मन्त्र बोलताहुआ कपालको अंगारपर रखताहै । 'ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह' यह बोलता हुआ आग्नीध्र पृथिवीके स्थिर रूपद्वारा कपालको स्थिर बनाताहै । इसी स्थिर एवं दृढ भावसे ...करनेवाले भ्रातृव्यको नष्ट करताहै । यजुर्मन्त्रोंमें पुत्र—राजा—धन—आदि कई प्रकारकी आशा हैं । अर्थात् भिन्न भिन्न मन्त्रों से भिन्न भिन्न फल प्राप्त किए जाते हैं । उन सबमें से प्रकृतमें 'ब्रह्मवनित्वा—क्षत्रवनित्वा' इस मन्त्र

भागसे ब्रह्म-क्षत्रकी कामना कीजाती है। सम्पूर्ण विश्वमें यही दोनों वीर्य्य हैं। भाई-बन्धु (जातिबंधु) सजातहै। समान वंशजहै। सजात वर्ग ही मनुष्यकी भूमा (समृद्धि) है। सजातवनिसे इसी भूभा-भागकी याचना की जाती है। इन सारी भावनाओंको रखताहुआ आग्नीध्र अन्तमें 'उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय' यह बोलताहुआ कपाल रखताहै। ऐसा यह तभी बोलताहै जबकि किसी पर अभिचारकी आवश्यकता नहो। यदि सचमुचमें यजमानका कोई गसक्त प्रवल शत्रुहै एवं उसे नष्ट करनाहै तो आग्नीध्रको चाहिए कि (अमुष्येति द्विषन्छन्दे अभिचरन्) के अनुसार उपरोक्त वाक्यमें उस शत्रुका नाम और डालदे। 'उपदधामि पारतन्त्र्यस्य वधाय' इत्यादि रूपसे नामोल्लेख करदे यही तात्पर्यहै। कपोलोपधानानन्तर वह आग्नीध्र वाम हस्तसे कपालका स्पर्श किए रहताहै। स्पर्श किएहुएही ॥७॥

दक्षिण हाथसे अन्य अंगारका आहरणकरताहै। अन्य अंगारोपधान और कपालके व्यवच्छेदसे मध्यमें असुर राक्षस प्रविष्ट न होजाय इसीलिए ऐसा किया जाताहै। ब्राह्मण राक्षसोंका अपहन्ता है। इसलिए आग्नीध्र वामहाथकी अंगुलीसे कपालका स्पर्श किए रहताहै ॥८॥

अनन्तर—'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व' यह मन्त्र बोलताहुआ वामहस्तकी अनामिका अंगुलिसे स्पृष्ट कपालमें अंगार रखताहै। पुरोडाशश्रपणके पूर्वही कपालमें असुर राक्षस न घुसपड़ें-इसीलिए कपालमें अंगार रक्खा जाताहै। अग्नि राक्षसों का नाशकहै। इसलिए इसीसे कपालको युक्त करतेहैं ॥९॥

मध्यम कपालके उपधानानन्तर 'धरुणमिति पश्चात्' (का० श्रौ० ४।३०) के अनुसार मध्यम कपालके पश्चिम भागमें प्रथमोपहित कपालसे भिडाकर—'धरुणमस्यन्तरिक्षं दृंह ब्रह्मवनित्वा०' इत्यादि मन्त्र बोलता- आग्नीध्र द्वितीय कपालको रखताहै। अन्तरिक्ष में जो दृढताहै उसीसे दूसरे कपालको युक्त करतेहैं। शेष पूर्वसे गतार्थहै ॥१०॥

द्वितीय कपालोपधानानन्तर 'पुरस्ताद्धर्त्रमिति' (का० श्रौ० २।४।३१) के अनुसार—'धूर्त्रमसि दिवं दृंह' यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र मध्यम कपालके पूर्व भागमें प्रथमोपहित कपालसे भिडाकर उसके पूर्वभागमें तृतीय कपालका उपधान करताहै। द्युलोकमें जो दृढताहै, उसीसे इस तीसरे कपालको युक्त करते है। शेष भाग पूर्वसे गतार्थहै ॥११॥

तृतीय कपालोपधानानन्तर 'विश्वाभ्य इति दक्षिणतः' (का० श्रौ० २।४।३२) के अनुसार 'विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्य उपदधामि' यह मन्त्र बोलताहुआ आग्नीध्र प्रथम कपालके दक्षिण भागमें प्रथमोपहित कपालसे भिडाकर चतुर्थ कपालका उपधान करताहै। पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ—इन तीनों लोकोंसे अतिरिक्त चौथा लोकहै अथवा नहीं—यह संदिग्ध विषयहै। उसी मुग्धभावापन्न चौथे लोकसे यह अपने (यजमानके) शत्रुओंको निकालताहै। तीनों लोकोंका अतिक्रमण करनेवाला चौथा लोक अनद्धा (अप्रकट) है। वह है या नहीं—यह प्रत्यक्ष नहीं कहा जासकता। इधर यह विश्वा आशाएं (सारी दिशाएं—एवं आशाएं) अनद्धाहै। इसी सजातीय भावको लक्ष्यमें रखकर 'विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्यः' यह कहागयाहै। इसप्रकार प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ—(मध्यम—पूर्व—पश्चिम—दक्षिण) इन चारों कपालोंका उपधान तो समन्त्रक होताहै, एवं इतर बाकी बचेहुए कपालोंको वह आग्नीध्र तूष्णी ही रखदेताहै। अथवा शेष बचे चार आग्नेय कपालोंको 'सर्वं विभज्य दक्षिणत एवमुत्तरत 'श्चितस्थेति' (का० श्रौ० सू० २।४।३३) के अनुसार 'चितस्थोर्ध्वचितः' यह मन्त्र बोलताहुआ दो मध्यम कपालके उत्तरमें [illegible] मध्यम कपालके दक्षिणमें इस क्रमसे रखदे ॥१२॥

इसप्रकार आग्नेय अष्टाकपालोपधानानन्तर—'भृगूणामित्यङ्गारैरभ्यूहति' (का० श्रौ० २।४।३७) के अनुसार 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' यह

मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र अंगारोंसे कपालोंको आच्छादित करताहै। यह अतिप्रखर तेजहै, जोकि भृगु अंगिराका तेजहै। इसलिए कपाल श्रेष्ठ प्रखर तेजसे सुतप्त होजांय—इसीलिए उपरोक्त मन्त्रद्वारा अंगारोंसे कपालोंको आच्छादित किया जाताहै ॥१.३॥

इति कपालोपधानम् ।

ब्राह्मणके प्रारम्भमें ही बतलाया गयाहै कि कपालोपधान और दृषदुपलोपधान साथ साथ होताहै। कपालोपधान अग्नीध्र करताहै। हविःपेषणार्थ दृषदुपलोपधान अध्वर्युका कर्म्म है। बस ऋत्विक (अध्वर्यु) कपालोपधान के साथ दृषदुपलोपधान करताहै वह 'शर्म्मासीति' यह बोलता 'कृष्णाजिनमादत्ते—पूर्ववत् प्रतिकृष्णाजिनम्' (२।५।२) के अनुसार कृष्णमृग चर्म्म उठाताहै। अनन्तर—'अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः' यह बोलता हुआ मृगचर्म को झाड़ताहै। इसका वही पूर्वोक्त तात्पर्य्य है। अनन्तर—'अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्तु' यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु इसे प्रतीचीनग्रीव बिछाताहै। इसकी भी वही पूर्वोक्त उपपत्ति है। १.४।

कृष्णमृगचर्म्मास्तरणानन्तर—'तस्मिन् दृषदं धिषणासीति' (का० श्रौ० २।५।३) के अनुसार अध्वर्यु कृष्णमृगचर्म्म पर—'धिषणासि पर्वती प्रतित्वादित्यास्त्वग् वेत्तु' (१।१९) यह मन्त्र बोलता हुआ बिछे हुए कृष्णमृगचर्म्म पर दृषत् (सिल) रखताहै। पेषणीयतण्डुलों को अपने ऊपर धारण करने के कारण यह दृषत् 'धिषणा' (धारणशीला) है। पर्वतकी अवयवभूता होनेसे पर्वतीहै। मृगचर्म्मरूप अदिति पृथिवी के चर्म्मके साथ इसका सम्बन्ध प्रकट कराने के लिए इस सजातीय सम्बन्ध द्वारा दोनों को हिंसक भावको दूर करने के लिए ही 'प्रतित्वा०' इत्यादि कहाहै। पृथिवी—

अन्तरिक्ष—द्यौ—तीनों में निदानके अनुसार यह दृषद् पृथिवी रूपसे मृगचर्म्म पर प्रतिष्ठित समझनी चाहिए । १५ ।

दृषदुपधानानन्तर 'पश्चात्कृष्णाजिनस्योदीचीं' 'दिव' इति (का० श्रौ० २।५।४) के अनुसार 'दिवःस्कम्भनीरसि' यह मन्त्र बोलताहुआ अध्वर्यु दृषद् के पश्चिम भागमें शम्या को उत्तराग्र प्रतिष्ठित करताहै । तीनों लोकों में से यह शम्या अन्तरिक्षका रूपहै । मध्यस्थ अन्तरिक्षके सहारे से ही उपक्रमोपसंहारस्थानीय पृथिवी एवं द्युलोक स्वस्थानमें स्थितहै । इसी आधार पर शम्याके लिए 'दिवः स्कम्भनीरसि' यह कहाहै ॥१६॥

शम्याको प्रतिष्ठित करनेके अनन्तर—'दृषदुपलां धिषणासीति' (का० श्रौ० २।५।५) के अनुसार 'धिषणासि पार्वतेयी प्रतित्वा पर्वती वेत्तु' (१ १.६) यह मन्त्र बोलताहुआ अध्वर्यु दृषदके ऊपर उपल (लोढी) को प्रतिष्ठित करताहै । यह उपल दृषद्की अपेक्षा छोटीसी होती है । अतः निदान द्वारा यह उस दृषद्की लडकी है । दृषद् पर्वती है । उसकी कन्या होनेसे उपल 'पार्वतेयी' है । 'अपना अपनेको पहिचान लेताहै' यह एक साधारण नियमहै । इसी स्वाभाविक सम्बन्धको अभिव्यक्त करनेके लिए 'प्रतित्वा पर्वती०' इत्यादि कहाहै । स्व परिचय होजानेसे एक दूसरेपर हिंसा दृष्टि [illegible] यही तात्पर्यहै । निदानके अनुसार यह उपल द्यु रूपहै । चर्म्म—दृषद—उपल—शम्या आदिसे ही यज्ञरूपका स्वरूप निर्म्माण किया जाताहै। [illegible]—उपल यज्ञपुरुषके 'हनू' (दृषद पूर्व हनु—उपल पश्चिम हनु) है । [illegible]के मध्य में शम्या जिह्वाहै । हनूमध्यस्था जिह्वाही शब्द प्रयोग करनेमें समर्थ है । अतएव यहां इस वैध यज्ञमें भी ऋत्विक् लोग जिह्वा स्थानीया शम्यासे ही दृषदके आधारपर समाहनन करतेहैं ॥१७॥

अनन्तर—'धान्यमसीति तण्डुलानोप्य' (का० श्रौ० २।५।१६) के अनुसार—'धान्यमसि धिनुहिदेवान्' (१।२०) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु (पेषणार्थ) दृषत्पर हविका आवपन करताहै। यह हविर्द्रव्य तृप्तिका साधक होनेसे 'धिनोति (प्रीणयति) आत्मगत देवान्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार धान्यहै। यह याज्ञेय देवताओंको तृप्तकरे इसीलिएतो यहां इसका ग्रहण किया जाताहै। ऐसी अवस्थामें इसके लिए 'धान्यमसि०' इत्यादि कहना उचितही है ॥१८॥

हविरावपनानन्तर—'पिनष्टि प्राणायत्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २ ५।१६) के अनुसार—'प्राणायत्वा पिनष्मि,' उदानायत्वा पिनष्मि, व्यानायत्वा पिनष्मि' (१।२०) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु हविः पेषण करताहै। अनन्तर—'दीर्घा' मिति कृष्णाजिने मोहति' (२।५।१७) के अनुसार 'दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः' प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना' (१।२०) यह मन्त्र बोलता हुआ पिष्ट हविको दृषत्के नीचे बिछेहुए मृगचर्म्मपर डालदेताहै ॥१९॥

अध्वर्यु 'प्राणायत्वा०' इत्यादि रूपसे जिस प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर हविः पेषण करताहै—वह बतलातेहैं। अमृत भावापन्न देवताओंका हवि जीवलक्षणही होताहै। अमृतात्माओं के लिए अमृत अन्नही उपयुक्त होताहै। इधर उलूखल मुसलसे, एवं दृषद् उपलसे ऋत्विक लोग यज्ञमूर्त्ति हविको कूट पीसकर निर्जीव बनाडालतेहै। कुटा पिसा अन्न मर्त्यहै—जीवनहीं। अतः जबतक जीवस्वरूप सम्पादक प्राण—उदान (अपान), व्यानका पिष्ट हविके साथ सम्बन्ध नहीं करा दिया जाता तबतक यह हवि अजीवहै। मर्त्यहै। देवाश्च मर्य्यादासे, रहितहै। इस आपत्ति को दूर करनेके लिएही 'प्राणायत्वा०' इत्यादि बोलकर हविः पेषण किया जाताहै ॥२०॥

सो जोकि अध्वर्यु 'प्राणायत्वा उदानायत्वा बोलताहै' इससे इस पिष्ट अतएव निर्जीव हविमें प्राणोदान डालताहै। 'व्यानायत्वा' से व्यान डालताहै। 'दीर्घामनु०' इत्यादिसे दीर्घ आयुका सन्निवेश करताहै। हमारा यह हवि देवताके हाथमे गृहीत होताहुआ सुगृहीतवन इसलिए-'देवो वः' इत्यादि बोलाजाताहै। 'चक्षुषे त्वा' से चक्षुरिन्द्रियका समावेश किया जाताहै। जीवित व्यक्ति के यही लक्षणहै। इन सबसे इस प्रकार युक्त होताहुआ पिष्ट हवि देवताओंके लिए जीव बनजाताहै। अमृतात्माओंके लिए अमृतान्न बनजाताहै। बस इन्हीं सारे कारणोंको लक्ष्यमें रखकर इस उपरोक्त प्रकारसे हविः पेषण करतेहैं। ऋत्विक हवि पीसतेहैं। उधर कपालोंको तप्त करनेके लिए अन्य ऋत्विक अंगारोंको प्रज्वलित करतेहैं ॥२१॥

जिस समय अध्वर्यु हविः पेषण करता है उसी समय ब्रह्मा-'पिष्यमाणेषु निर्वपत्यन्यो महीनामित्याज्यम्' (का० श्रौ० २।५।६) के अनुसार पिष्ट हवि में आज्य (घृत) डालता है। तात्पर्य्य यही है कि सूत्रकार के मतानुसार पेषण और आज्य निर्वाप दोनों कर्म एक साथ होने चाहिये। इस यज्ञ में देवताओं के लिये जितना हविर्द्रव्य अपेक्षित होताहै तत्तद्देवताओं के लिए नाम ग्रोत्र बोलकर उतनाही हविर्द्रव्य लिया जाताहै। उससमय आज्यके लिए किसी देवताका नामोल्लेख नहीं होता। अतः-आज्यग्रहण-'महीनां पयोसि' इस अनिरुक्त मन्त्रसे ही होताहै। यही गो जातिका एकनामहै। उन्हींका यह पयहै। इसी मन्त्रद्वारा यह आज्य यजुगृहीत होजाताहै। इसी आधारपर-'महीनां पयोऽसि' यह कहा है ॥२२॥

पर निर्भरहै। जब स्नेह सूत्र विच्छिन्न होजाताहै तो पदार्थके परमाणु श्लथ होते हुए विखरजातेहैं। यही उस पदार्थ की विनष्टिहै। संभूति सोमाहुति पर निर्भरहै। विनाश शुद्ध अग्निकी कृपा है। जब तक संभूतिमूलक सोम अग्नि में आहुत होतारहताहै तबतक यज्ञ है। जबतक यज्ञ है तबतक पदार्थ जीवन है। जिस दिन सोमाहुति बन्द होजाती है, पदार्थस्वरूप नष्ट होजाता है। यज्ञही विश्वका जीवनहै। यज्ञ द्वाराही ईश्वर प्रजापतिने सबका निर्म्माण कियाहै।

'अग्निमें सोमका आहुत होना यज्ञ है' यह सिद्धान्त होचुका। यह यज्ञ प्राण—प्राणि—भूत भेदसे तीन भागों में विभक्त है। प्राणलक्षण यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है, प्राणिलक्षण यज्ञ आध्यात्मिक यज्ञ है, एवं भूतलक्षण यज्ञ आधिभौतिक यज्ञ है। यह तीनों ही प्राकृतिक यज्ञ हैं। इन तीनोंका प्रवर्तक ईश्वर प्रजापति है। उसका यह यज्ञ कभी बन्द नहीं होता। इस त्रिधा विभक्त नित्ययज्ञके आधार पर ऋषियोंने मनुष्ययज्ञ किंवा वैधयज्ञका वितान कियाहै, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। उपरोक्त तीनों यज्ञों में से भूतयज्ञ को छोड़ते हैं, एवं प्राणयज्ञ, प्राणियज्ञकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। प्राणियज्ञका मूलाधार प्राणयज्ञहै, अतः प्रधान होनेसे पहिले उसीका संक्षिप्त स्वरूप बतलाया जाताहै—

१—"प्राणलक्षण आधिदैविक यज्ञ"

जिस अग्निषोमात्मक यज्ञका पूर्वके संदर्भ में दिग्दर्शन कराया गया है वह यज्ञ 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इस निगमश्रुतिके अनुसार पांच भागों में विभक्त है। निगमश्रुतिएं अनेक अर्थोंका प्रतिपादन करती है। यज्ञ की पाङ्क्तता (पञ्चावयवता) अनेक भावोंसे सम्बन्ध रखती है। अतएव

'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इस रूपसे इसका उल्लेख कियागयाहै। उदाहरणार्थ विश्व-व्यापक महायज्ञको (जोकि महायज्ञ सर्वहुतयज्ञ नामसे प्रसिद्धहै) ही लीजिए। महायज्ञके—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, यह पांच अवयवहैं। संवत्सरयज्ञके—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध (अयन), सोम, भेदसे पांच अवयवहैं। प्रकारान्तरसे पाकयज्ञ (गृह्ययज्ञ—स्मार्तयज्ञ) हविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञभेदसे भी यज्ञ पाङ्क्त है। तीन लोक, दो सन्धिएं—इसप्रकारसे भी यज्ञमूलक अग्नि पञ्चचितिकहै।

प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, भेदसे अध्यात्म यज्ञभी पाङ्क्तहै। गुहा, आप, ज्योति, रस, अमृत भेदसे अधिभूत यज्ञभी पाङ्क्तही है। निदर्शनमात्रहै। यज्ञ जितनेभी हैं सब पाङ्क्त हैं। इन सबमेंसे प्रकृतमें संवत्सर यज्ञकी पाङ्क्तताही अभिमतहै। बृहतीछन्दके मध्यमें (त्रिष्वदवृत्तक मध्यमें) सूर्य स्थिर रूपसे तपरहाहै। इसको केन्द्र मानकर भूपिण्ड अपने अक्षपर घूमता हुआ सूर्यके चारोंओर नियत मार्गमें परिभ्रमण किया करताहै। जिस स्थिर वृत्तपर भूपिण्ड परिक्रमा करताहै वह वृत्त 'क्रान्तिवृत्त' नामसे प्रसिद्धहै। इस क्रान्तिवृत्तमें पार्थिव गायत्राग्नि, सौर सावित्राग्नि भराहुआहै। बस इसी स्थिर पारमेष्ठिक प्राणाग्निका नाम "संवत्सर प्रजापति" है। अग्नि अन्नाद (अन्न खानेवाला) है। जबतक इसमें अन्नकी आहुति होती रहतीहै, तभीतक यह अन्नाद स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहताहै। जिस अन्नकी इस संवत्सराग्निमें आहुति होती है, वह सोम नामसे प्रसिद्धहै। अग्नि दाहक तत्वहै, सोम दाह्यहै। दाह्य सोमकी आहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित होजाताहै। सोमकी आहुतिसे अहोरात्र, पक्ष, ऋतु, अयन, वर्षके भेदसे व्यापक अग्नितत्व पांचभागोंमें विभक्त होजाताहै। इसीलिए अग्नीषोमात्मक संवत्सर यज्ञभी पांच भागोंमें विभक्तहो जाताहै। अहोरात्र यज्ञ अग्निहोत्रहै। पाक्षिकयज्ञ दर्शपूर्ण मास

यज्ञहै। ऋतुयज्ञ चातुर्मास्य यज्ञहै। अयनयज्ञ पशुबंध यज्ञहै। संवत्सरयज्ञ सोमयज्ञहै। इसप्रकार एकही यज्ञ कालपर्व भेदसे पांच स्वरूप धारण कर-लेताहै। इस प्राकृतिक संवत्सर यज्ञके हविर्यज्ञ सोमयज्ञ भेदसे दो विभाग समझने चाहिए। प्रतिष्ठालक्षण पृथिवी (पिण्डपृथिवी) यज्ञ हविर्यज्ञहै। एवं स्तौम्यत्रिलोकीमें व्याप्त महायज्ञ किंवा वितानयज्ञ संवत्सर यज्ञहै। पृथिवी पिण्डका जो भाग सूर्य्यकी ओर रहताहै उसमें सौर दिव्य प्राणकी प्रधानता रहतीहै। सौर अग्नि आहवनीय कहलाताहै। ऐसी अवस्थामें सूर्यानुगत पार्थिव दिव्याग्नि को हम अवश्यही पृथिवीरूप हविर्यज्ञका आहवनीय मान-नेंके लिए तय्यारहैं। एवं सूर्य्यके प्रतिदिक्में रहनें वाला पार्थिवाग्नि पृथि-वीका प्रातिस्विक भागहै। यह पार्थिवाग्नि पृथिवीरूप गृहका पति होताहुआ गार्हपत्याग्निहै। एवं दक्षिण भागस्थ वायुरूप ऋताग्नि दक्षिणाग्नि किंवा अपराग्निहै। एवं ओषधि वनस्पति हविर्द्रव्यहै। उसी ऋताग्निरूप दक्षि-णाग्निसे इस हविका पर्याक होताहै। परिपक्व हविकी उस दिव्याग्नि किंवा आहवनीयाग्निमें आहुति होतीहै। यहहै प्रतिष्ठालक्षण पृथिवी पिण्ड-स्वरूप हविर्यज्ञका संक्षिप्त स्वरूप।

अब सम्पूर्ण पृथिवीपिण्डको गार्हपत्य समझिए। न केवल पृथिवी पिण्ड-काही अपितु त्रिवृत् स्तोम पर्य्यन्त गार्हपत्यकी सत्ता मानिए। क्योंकि पृथि-वीपृष्ठसे ऊपर त्रिवृत् स्तोम पर्य्यन्त पृथिवी लोक (स्तौम्य त्रिलोकीका पृथिवी लोक) की ही सत्ता रहती है। पञ्चदशस्तोमपर्य्यन्त नक्षत्रादि सम्बन्धसे 'धिष्ण्य' नामसे प्रसिद्ध दक्षिणाग्निहै। एकविंशस्तोम पर्य्यन्त दिव्य आहवनीयाग्निहै। आहवनीयकी सत्ता यद्यपि सप्तदश स्तोमपरही परन्तु सोमाहुतिसे वह अग्नि २१ स्तोम पर्य्यन्य व्याप्त होजाताहै, वहांतक आहवनीयकी सत्ता मानली जाती है। इसी आहवनीयमें सो आहुति होती है। इसी आहुतिसे संवत्सर यज्ञका स्वरूप निष्पन्न होताहै।

अग्नीषोमात्मक यज्ञसे सम्पूर्ण विश्वका संचालन होरहाहै। लोक-प्रजा-धर्म्म-वेद आदि सारी सृष्टियोंका प्रवर्त्तक यही अग्नीषोमात्मक संवत्सरयज्ञहै। उत्पन्न होनें वाली प्रजाका प्रभव प्रतिष्ठा परायण यही संवत्सरयज्ञहै। अतएव ब्राह्मणग्रन्थोंमें इसे प्रजापति शब्दसे व्यवहृत कियाहै। प्रजापतिनें यज्ञद्वारा सारीप्रजा (विश्वान्तर्गत स्थावर जंगम यच्चयावत् पदार्थ) उत्पन्न की है। इसी यज्ञसे प्रजापति अपना इष्ट साधनकर 'आप्त-काम' बनरहाहै। ऐसी अवस्थामें ईश्वर प्रजापति स्वरूप संवत्सरप्रजापति के अंशभूत पुरुषप्रजापति (मनुष्य) के इष्ट साधन के लिए आप्तकाम बननें के लिए यदि कोई सर्वोत्तम साधनहै तो यही यज्ञ। यज्ञद्वारा यह सबकुछ प्राप्तकरनें में समर्थहै। इसी प्राजापत्ययज्ञ विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर योगेश्वर मधुसूदन कहते है।

> सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्ट कामधुक ॥ (गीता)

यह है आधिदैविक प्राणलक्षण प्राकृतिक यज्ञका संक्षिप्तनिदर्शन। अब प्राणिलक्ष आध्यात्म यज्ञकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

प्राणिलक्षण अध्यात्मयज्ञ

शुक्रकी बिन्दुमात्रसे विचित्राकाराकारित मनुष्यका स्वरूप सपन्न होजा-यह महा आश्चर्यहै। स्त्रीके शोणितमें रेतोधा पुरुषके द्वारा आहुत होनें जरासी शुक्र बिन्दुका परस्परमें सर्वथा विभिन्न आंख-कान-नाक-ग्रीवा-पाद-हस्त-उर-उदर-मस्तक-आदि विविध भावोंमें परिणत होजाना कम आश्चर्य नहीं है। इस आश्चर्यकी निवृत्तिका उपायहै यज्ञ स्वरूप रहस्य

को यथावत् जानलेना । पुरुषके उत्पन्न होनेमें आश्चर्य । उत्पन्न हुएबाद उस में केश-दन्तआदिका जो विविध परिवर्त्तन होताहै वह आश्चर्य मय । इस प्रकार पुरुष स्वरूपस्थिति आश्चर्यमयीहै । इन सारे आश्चर्योंका मूलकारण यज्ञहै । यज्ञ अनेक प्रकारके हैं । विविधभावापन्न उन सब यज्ञोंका अध्यात्म संस्थाके साथ सम्बन्ध होताहै । प्राकृतिक अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास्य-चातुर्मास्य-अयन-सोम-गवामयन-अंगिरसामयन-आदित्यानामयन-चयन आदि सभी नित्य यज्ञोंका यहां भोग होताहै । यज्ञ भेदही सृष्टि भेदका कारण है । उन सब यज्ञों में से प्रकृतमें प्रधान रूपसे ज्योतिष्टोमापरपर्य्यायक संवत्सर यज्ञकाही ग्रहण समझना चाहिए ।

अग्निमें सोमका आहुत होनाही यज्ञहै, यह पूर्वमें कहा जाचुकाहै । अग्नि सात प्रकारकाहै । अतएव अग्नियज्ञ सातभागों में विभक्त होजाताहै । इसी आधारपर ज्योतिष्टोम नामसे प्रसिद्ध इस अग्नियज्ञके लिए 'सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः'-यह कहा जाताहै । वे सातो संस्थाएं यज्ञ संप्रदायमें-अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, अतिरात्रस्तोम, वाजपेयस्तोम इन नामोंसे प्रसिद्धहैं ।

अग्नि अन्नादहै । अग्नि सात प्रकारका है । अतएव उसमें आहुत होने वाला अन्न (सोम) भी सात भागों में विभक्त रहताहै । इसी अन्न विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'यत्सप्तान्नानि तपसाजनयत पिता' (.... .... यह कहाजाताहै । संवत्सराग्नि त्रैलोक्याग्निहै । त्रिवृत् स्तोम स्थाना[illegible] घनाग्नि पार्थिव अग्निहै । यह प्राणाग्नि-अपानहै । आन्तरिक्ष्य तरल[illegible] वायु है । यह व्यान है । दिव्य एक त्रिंशस्तोमस्थ विरलाग्नि [illegible] है । यह प्राण है । तीनो ही [illegible]ग्निएं प्राणरूप है । रूप-रस-गन्ध स्पर्श-शब्द-शून्य तत्व ही प्राणहै । अतएव प्राणलक्षण इन उपरोक्त तीनों

ही अग्नियोंमें न तापहै—न उष्माहै । इन तीनोंके समन्वय से नवीन तापधर्म्मा अग्नि उत्पन्न होताहै । यही पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ इन तीनों विश्वों के अग्नि—वायु—आदित्य इन तीनों नरोंके (नायक—अधिपतियों के) संयोगसे उत्पन्न होने के कारण 'वैश्वानर' नामसे प्रसिद्धहै। 'आयोद्यां भासापृथिवीम्— (......) 'वैश्वानरोयतते सूर्येण' (. .) के अनुसार यह वैश्वानर त्रैलोक्यमें व्याप्त है । इसी वैश्वानरमें सोमाहुति होतीहै । इसीसे पशुसृष्टि (पुरुष—अश्व—गो—अवि—अज भेदसे पशु पाच प्रकारके है) होती है। यही वैश्वानर यज्ञ साक्षात् संवत्सरयज्ञहै । हमारा प्रवर्त्तक यही यज्ञहै । यही संवत्सरयज्ञ—'गवामयन' नामसे प्रसिद्धहै । गवामयन नामसे प्रसिद्ध प्रसिद्ध वैश्वानराग्निमय संवत्सर यज्ञही पुरुष पशुका उपादानहै इसी आधारपर— 'पुरुषो वै संवत्सरः' (........) यह कहा जाताहै । संवत्सर यज्ञमें पृथिवी-पिण्ड हविर्वेदि है। इसी पर पूर्वकथनानुसार हविर्यज्ञ निष्पन्न होताहै । पृथिवीपिण्डसे ऊपर का त्रैलोक्य महावेदिहै । इसमें सोमरूप संवत्सर यज्ञ निष्पन्न होताहै । पुरुषका अपानाग्नि गार्हपत्याग्नि है । दक्षिणापार्श्वस्थ जाठराग्नि अपणाग्निहै । मुखाग्नि आहवनीयहै । शारीर प्राणदेवताओंको तृप्त करने के लिए इसीमें अन्नरूप हवि की आहुति दीजाती है । सोमयज्ञ संस्थामें पुरुषका शिरोऽग्नि गार्हपत्यहै । इससे प्रारम्भ कर २१ विंशस्तोम तक महावेदि है । इसमें वही व्यवस्था है जोकि प्राणलक्षण सोमयज्ञ में बतलादी गई है । ऊपर बतलाया गयाहै कि संवत्सर यज्ञ पर पर्य्यायक गवामयन यज्ञका ही प्रकृत में सम्बन्धहै । यद्यपि इस विषयका विषद विवेचन उसी प्रकरण में (शत० १२ कां० . .) किया जायगा । तथापि प्रकरण सगति के लिए उस विषयका संक्षिप्त निदर्शन यहां भी करादिया जाताहै । गवामयन यज्ञ संवत्सर यज्ञहै । संवत्सर यज्ञ के अधिष्ठाता भगवान् सविता (सविता प्राणात्मक सूर्य) है । 'सूर्य्योवृहती मध्युढस्तपति' इस श्रौत

सिद्धान्तके अनुसार सूर्य्य संवत्सर चक्रके मध्यस्थ विष्वद्वृत्त नामसे प्रसिद्ध बृहती छन्द पर प्रतिष्ठितहै। इस बृहती छन्द से दक्षिणकी ओर का २४ अंशात्मक सारा दक्षिणभाग 'दक्षिणगोल' कहलाताहै। एवं विष्वद्वृत्त से उत्तरकी ओर का २४ अंशात्मक सम्पूर्ण उत्तरभाग 'उत्तरगोल' नामसे प्रसिद्धहै। ४८ अंशात्मक उत्तरदक्षिण गोलात्मक इसी सारे प्रदेशका नाम 'संवत्सर' है। प्रदेश का नाम संवत्सर नहीं है अपितु इस प्रदेशमें रहनेवाले पार्थिवाग्नि मिश्रित सौर अग्निका नाम संवत्सरहै। पृथिवी के परिभ्रमण के कारण ही यह अग्नि संवत्सर नामसे प्रसिद्ध हुआहै। पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमतीहै, यह वेदाभिमत सिद्धान्तहै। इस परिभ्रमण शीला इस पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग सर्वथा निश्चितहै। क्रान्तिवृत्त को यह कभी नहीं छोड़ती। इसप्रकार एकमात्र क्रान्तिवृत्त को अचलभावसे पकड़ेहुए पृथिवी सूर्य्यके चारों ओर घूमती है। अतएव परिभ्रमणशील यह पार्थिवाग्नि 'एकत्रबिन्दी—एकीभावे ने वसन् सन् पार्थिवाग्निः त्सरति' इस व्युत्पत्ति से यह वर्षव्यापक, दूसरे शब्दों में क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न पार्थिवाग्निमण्डल 'संवत्सर' नाम से प्रसिद्ध होगयाहै। अपिच—सूर्य्यके चारों ओर घूमने वाली पृथिवी बिन्दु बिन्दुसे वक्रित होती हुई आगे चलती है। सौरप्राणके आकर्षणसे सीधे मार्ग में न जाकर पृथिवी सूर्य्यकी ओर मुड़जाती है। प्रतिबिन्दु में होनेवाली इस वक्रताके कारण ही पृथिवी परिभ्रमण मण्डल गोलाकार होजाताहै। आप जितने भी वर्तुल वृत्त देखते हैं, सबमें यही उपरोक्त व्यवस्थाहै। गोल बस्तुकी प्रतिबिन्दु वक्रित रहती है। वक्रभावसे ही 'वर्तुलता' उत्पन्न होती है। पार्थिवाग्निका स्वरूप भी ऐसा ही है, अतएव 'सर्वतः त्सरति' इस व्युत्पत्तिसे भी इस पार्थिवाग्निमण्डलको 'सर्वत्सर' कहाजाताहै। सर्वत्सर ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषामें 'संवत्सर' नामसे प्रसिद्ध होगयाहै। संवत्सर शब्दके इसी निर्वचनका स्वरूप वतलाती

हुई वाजिश्रुति कहतीहै—

"स ऐक्षत प्रजापतिः—सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति। स सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्संवत्सर इति"—

(शतपथ ११ कां० १ प्र० ६ ब्रा० ११ कं०)

इस संवत्सराग्निका भोग वर्ष भरमें होताहै। अतएव आगे चलकर, वार्षिक अग्निका वाचक शब्द कालमें नियुक्त होगयाहै। आजदिन संवत्सर कालका वाचक मानाजाताहै। परन्तु विश्वास रखिए—संवत्सरको काल समझना गौण भावहै। वस्तुतः वर्षमण्डलमें व्याप्त चरअचर सृष्टिका प्रभव सोम गर्भित अग्नितत्वही संवत्सरहै। यही व्यवस्था अहः, पक्ष, अयन, आदिके सम्बन्धमें समझनी चाहिए।

पूर्वोक्त संवत्सर यज्ञ में सौरमण्डल के तीन मनोताओंका भोग होता है जिसतत्व के आधार पर जो वस्तु प्रतिष्ठास्वरूप अपने हृदयस्थ मनोभावको स्वस्वरूप में सुरक्षित रखने में समर्थ होती है, दुसरे शब्दों में जीवन—सत्ता का कारणभूत हृदयस्थ मन जिस तत्त्व म ओतप्रोत रहता है, वही तत्त्व विज्ञान भाषा मे 'मनोता' नामसे प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ अग्नि कोही लीजिए। अग्निके आधारपरही वसु—रुद्र—आदित्य—इन्द्र—प्रजापति, अश्विनी, आदि देवता प्रतिष्ठितहै। एकही अग्नि का विवर्त्त सारे (३३) देवताहैं। इसीलिए 'अग्निः सर्वा देवताः' (शत०) इत्यादि रूपसे अग्निको सर्वदेवता माना जाता है। किसी भी देवता के लिए आहुति दी जाय-सब की आधार भूमि अग्नि ही है। यह तत्त्व सब देवताओं का मुख है। सारे देवता अग्नि मुख है। यही सबमे अग्रणी होनेसे 'अग्रि' कहलाताहै। परोक्षप्रिय देवताओंकी परोक्ष भाषामें यही 'अग्रि' अग्नि नामसे प्रसिद्ध होरहाहै (देखो शत०६कां०)। यह अग्नितत्व सर्व देवताओंका अधिष्ठाताहै, दूसरे

शब्दोंमें इसीमें सारे देवताओंके मन ओतप्रोतहैं–अतः 'अग्नौ सर्वेषां देवानां मनांसि–ओतानि' इस व्युत्पत्तिके अनुसार हम अग्निको देवताओंका मनोता माननेके लिए तय्यारहैं (देखो शत०६का०)। यही व्यवस्था ज्योति, गो, आयुके सम्बन्धमें समझिए। विश्वके प्रत्येक पदार्थमें हम ज्योति, भूत, आत्मा, इनतीन भावोंको प्राप्तकरतेहैं। साथही में इतना अवश्य ध्यानमें रखना होगाकि कहीं रूपज्योति मिलेगी, कहींपर ज्योति, तो कहीं स्वज्योति। उदाहरणार्थ पहिले सूर्य्यको लीजिए। सूर्य्यका गोला सावित्राग्निमय है। यह सूर्य्यपिण्ड भूतभागहै। सूर्य्यके केन्द्रमें रहनें वाला तत्व आत्माहै। इसी आत्मतत्वको लक्ष्यमें रखकर 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' (ऐ०उ०) इत्यादि कहाजाताहै। साथहीमें सूर्य्य स्वज्योतिर्म्मयहै–यहतो स्पष्टही है। सूर्य्य स्वतः प्रकाशीहै। इसका प्रकाश अपना प्रकाशहै। चन्द्रमादि की तरह यह अन्यकिसीके प्रकाशसे प्रकाशित नही होरहा। अब चलिए चन्द्रमाकी ओर। चन्द्रमा पानीयपिण्ड (जलका गोला) है। यह पिण्ड भूत भागहै। हृदयस्थ भाग आत्माहै। चन्द्रिका ज्योतिहै। यह चन्द्रिका सूर्य्य ज्योतिसे सम्बन्ध रखता है। चन्द्रमाका प्रकाश अपना प्रकाश नहीं है। अपितु सौर प्रकाशसे यह चन्द्रमा प्रकाशित होरहाहै। इसी रहस्यकानिरूपण करतीहुई ऋक् श्रुति कहती है—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ ऋक्—

वैज्ञानिकलोग रूपज्योतिके अधिष्ठाता त्वष्टा नामसे प्रसिद्ध आदित्यके परममनोहर गोतत्वका (रश्मियोंका) इसप्रकार (जैसा देखाजाताहै) च०५॥ घरमें नमन मानतेहै। इसीलिए इस चान्द्रज्योतिको हम परज्योति माननेके लिए तैय्यारहैं। पृथिवी पिण्ड भूतभागहै। केन्द्रस्थ प्राणाग्नि

इस भूत पिण्डका आत्माहै। एवं रूप ज्योतिहै। पृथिवीका स्वरूप मात्र दीखताहै। पृथिवी अपने स्वरूप मात्रको दिखलानेमें समर्थहै। चन्द्रमा और सूर्यवत् इसमें अन्यपदार्थोंको अपने प्रकाशसे दिखलानेंका सामर्थ्य नहीं है। पार्थिव पदार्थमात्रमें इसी रूपज्योतिकी प्रधानताहै। साथही में यहभी ध्यानमें रखना चाहिए कि रूपज्योतिर्म्मय जितनें पदार्थहैं सब 'पृथिवी' नामसे व्यवहृत होतेहैं। परज्योतिर्म्मय चन्द्रमावत् पदार्थ रूप ज्योतिर्म्मयहैं एवं स्वज्योतिर्म्मय सारे पदार्थ सूर्यहैं। स्वाती नक्षत्र स्वज्योतिर्म्मय होनेसेही 'सविता' नामसे व्यवहृत होताहै। अस्तु उपरोक्त निदर्शनसे प्रकृतमें हमें बतलाना यहीहै कि त्रैलोक्यके पदार्थमात्रमें प्रत्येकमें ज्योति, आत्मा, भूत, इन तीन भावोंका साम्राज्यहै। त्रैलोक्यका प्रभव प्रतिष्ठा परायण सूर्यहै। उस सूर्यके उपरोक्त ज्योति, गौ, आयु, यह तीन मनोताहैं। सूर्यका सूर्यत्व इन्हीं तीनों मनोताओं के आधारपर प्रतिष्ठितहै। यही तीनों मनोता क्रमशः ज्योति, भूत, आत्माके आधारहै। ज्योतिर्भागसे देवतापरपर्य्यायक प्रत्येक पदार्थका ज्योतिर्भाग निष्पन्न होताहै। गौ भागसे भूत निर्म्माण होताहै, एवं आयुभागसे आत्मस्वरूप संपन्न होताहै। ज्योतिसे ज्योतिष्टोम यज्ञका स्वरूप संपन्न होताहै। गोसे गोष्टोम, एवं आयुसे आयुष्टोमकी स्वरूप निष्पत्ति होतीहै। तीनोंही संवत्सर यज्ञहै। संवत्सरमें तीनोंकी सत्ताहै। प्रकृतमें हमें भूत प्रधान शरीर रचना वैचित्र्य [illegible] निरूपण करनाहै, एवं इसका सम्बन्ध गोष्टोमापरपर्य्यायक गवामयनके आक्रा[illegible] अतः गवामयन नामके संवत्सरकी ओरही पूर्वमें आपका ध्यान [illegible]र्पित किया गयाहै। गवामयन यज्ञ में होनें वाली आहुतियोंके तारत[illegible]म्यसे ही शरीरमें यह वैचित्र्य होगयाहै। विष्वद् वृत्तके केन्द्रमें सूर्यहै। इसके चारों ओर २४-२४-अंशके अन्तरपर पृथिवी घूमतीहै। यहहै आधिदैविक गवामयन संवत्सर का स्वरूप परिचय। पृथिवी गौ है। इसका अयन (गमन) ही गवामयनहै।

ब्राह्मण ग्रन्थोंमें एक प्रश्न किया गया है कि जबकि अनस्थिमत(घन भाव शून्य) तरलआज्यकी आहुति होती है. तो उससे अस्थियुक्त प्रजा कैसे उत्पन्न हो जाती है । इसप्रश्न का समाधान करती हुई ब्राह्मण श्रुति कहती है कि वास्तव में आज्य भाग तरल होने से अनस्थिमत् है । परन्तु उस में हिरण्यशकल (सोने का टुकडा) डाल कर तद्युक्त आज्यकी आहुति दी जाती है अत एव प्रजा अस्थिमती होती है । इस प्रश्नोत्तर का वैधयज्ञ द्वारा प्रकृतियज्ञ से सम्बन्ध है । प्रकृति के नित्य यज्ञ से प्रजोत्पत्ति होती है उसी नित्य यज्ञ की प्रतिकृति (नकल)मनुष्य कृत वैधयज्ञ है । इससे आहुतिद्वारा नया दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों मे विस्तारसे बतलाया जाचुका है । आहवनीयाग्नि में आज्यकी आहुति दी जाती है । आज्य तरल पदार्थ है । उत्पन्न होने वाली प्रजा मे अस्थि भी अपेक्षित है । एतदर्थ आज्य में हिरण्य शकल डाला जाता है । उधर मानुषी सृष्टी में तरल पदार्थ है । यह औषध (अन्न) के रससे निष्पन्न हुआ है । शुक्र औषध ही रसासृङ् मांसादि स्वरूपों में परिणत होतीहुई शुक्र स्वरूप धारण करतीहै । औषधिएं पार्थिवहै । अतएव तद्रसभूत शुक्रको हमपार्थिव कहनेके लिए तय्यारहै । इस शुक्रमें सौर आग्नेय तेज प्रविष्ट रहताहै । सौर तेज हिरण्मयहै । यह घनहै । शुक्ररूप आज्याहुतिमें यह हिरण्यशकलरूप सौर आग्नेयतेज प्रविष्ट होजाताहै । इसीसे अस्थिभाव उत्पन्न होताहै । शुक्रकी प्रतिकृति वैधयज्ञमें आज्यहै । सौर तेजकी प्रतिकृति हिरण्य शकलहै । क्योंकि सौर अग्निही विशेष प्रकारकी मिट्टी में अन्तर्याम सम्बन्धसे प्रविष्ट होकर सुवर्ण कहलाने लगताहै । सुवर्ण साक्षात् सौर तेजहै । सौर तेज पवित्रहै । अतएव इतर धातुओंकी अपेक्षा सुवर्णको अधिक पवित्र माना जाताहै ।

शुक्रकी आहुतिहुई । अब क्रमशः वही संवत्सर यज्ञ इसमें प्रविष्ट होने लगताहै । विषुवद्वृत्त मेरुदण्ड बनताहै । पुरुषमें आये हृदय विषुवतका ही रस आनेपाताहै, अतएव इसका मेरुदण्ड आधाही बनताहै । इस कमीकी पूर्त्ति पत्नीसे होती है । ईश्वर पूर्णेन्द्रहै । आधीमात्राके कारण जीव अर्द्धेन्द्र है । पृथिवी विषुवत्की दोनों ओरकी परम क्रान्तियोंपर पहुंचकर मुड़जातीहै । अतएव विषुवद्रूप मेरुदण्डसे संलग्न पर्शु (पंसलिए) सीधी न जाकर दोनों ओरसे मुडजाती है । विषुवत और क्रान्तिका अन्तर २४ अंशकाहै । अतः पर्शु २४ ही बनतेहै । विषुवत्रूप मेरुका केन्द्र हृदयहै । यही मनहै । इसी मनपर विज्ञान सूर्य्य प्रतिष्ठितहै ।

यहतो हुआ स्थूल निर्माण । अब जरा सूक्ष्म निर्म्माण परभी ध्यान दीजिए । गवामयन यज्ञ ३६० दिनमें समाप्त होताहै । पूरे संवत्सरमें गवामयनकी स्वरूप निष्पत्ति होतीहै । इस गवामयनमें प्रतिष्ठित अहर्भाग प्रायणीय, आरम्भणीय, अभिप्लव, पृष्ठ्य, महाव्रत, उदयनीय आदि नामोंसे प्रसिद्धहैं । प्रत्येक अभिप्लवमें ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, ज्योतिष्टोम, इस प्रकार ६–६ स्तोम होतेहै । एवं प्रत्येक पृष्ठ्याहमें त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, इस प्रकार ६–६ स्तोम होजातेहैं । वर्षके आरम्भमें प्रायणीय अतिरात्र होताहै । अनन्तर पांच मासतक १५० अभिप्लव और पृष्ठ्य होतेहैं । अनन्तर २४ दिन तक तीन अभिप्लव और एक पृष्ठ्य होताहै । शेष चार दिनमें एकदिन अभिजित् तीनदिन स्वरसाम किए जातेहैं । ६ मास समाप्त होजातेहैं । परमक्रान्तिसे चलाहुआ यजमान ६ मास समाप्तकर विषुवात्‌ पर पहुंचजाताहै । यहांसे पृष्ठ्याभिप्लवका क्रम बदल जाताहै । पहिलेके तीन दिनमें तीन स्वरसाम होतेहैं । चौथेदिन विश्वजित होताहै । अनन्तर २४ दिनमें एकपृष्ठ्य ३ अभिप्लव होतेहै । अनन्तर १२० दिनतक चारपृष्ठ्य १६ अभिप्लव होते

है। अनन्तर १८ दिनतक एक पृष्ठ्य दो अभिप्लव होतेहैं। अनन्तर एक दिन गोष्टोम, एकदिन आयुष्टोम होताहै। अनन्तर १० दिनतक दशरात्र पृष्ठ्य षडह (६ दिनतक) छन्दोमाख्यहः (३ दिनतक) महाव्रतमहः (एकदिनका) होताहै। अन्तिमदिन उदयनीयातिरात्र होताहै, वर्ष समाप्त जाताहै। नीचे लिखी तालिकामे वर्षगणना स्पष्ट होजाती है—

गवामयनसत्रे संवत्सरस्य अहानि (३६०)

१ प्रायणीयः		१ उदयनीयः
२ आरम्भणीयः		१० दशरात्र
३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }		२८ { अभिप्लवौ=२=१२ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }
३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }		३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }
३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }		३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }
३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }		३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }
३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }		३० { अभिप्लवाः=४=२४ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }
३० { अभिप्लवाः=३=१८ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }		२४ { अभिप्लवाः=३=१८ दिन, पृष्ठ्यः=१=६ दिन }
१ अभिजित्		१ विश्वजित्
३ त्रयः स्वरसामानः		३ त्रयः स्वरसामानः
१८० अहानि	विषुवान् १	१७६ अहानि

उपरोक्त गवामयन यज्ञ ही हमारे शरीर का निर्माता है। विषुवद्वृत्त इस गवामयन संवत्सर की प्रतिष्ठा है। जीवात्मा क्षुद्र सुपर्ण है। संवत्सर महासुपर्ण है। संवत्सर का उत्तर भाग (उत्तरगोल) इस संवत्सर सुपर्ण का (चिड़िया का) उत्तर पक्ष है। दक्षिण भाग (दक्षिण गोल) दक्षिणपक्ष है। मध्यस्थ विषुवान् आत्मा (धड़) है। इसी महासुपर्ण का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"अथ ह वाएष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद् विषुवतः–षण्मासानुपयन्ति सो ऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् पडुपरिष्टाद् सो ऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्" (शत- १२।२।३।७)

श्रुतिनें विषुवद्वृत्त को आत्मा बतलाया है। सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहनें वाला तत्त्वही आत्मा कहलाता है। इधर विषुवद्वृत्त केवल संवत्सर यज्ञात्मक खगोल के केवल मध्य भाग में प्रतिष्ठित है। सपूर्ण संवत्सर चक्र में विषुवद् कि जब व्याप्ति नहीं है तो ऐसी अवस्था में विषुवत् को संवत्सर रूप सुपर्ण का आत्मा कैसे बतलाया गया। इस प्रश्न के समाधान के लिए छन्दोविज्ञान का आश्रय लेना पड़ेगा। अंक में छन्द स्वरूप का विशद निरूपण करते समय हमने कहाकि शब्द-अथवा अर्थ दोनोंमें छन्द व्यवस्था समान है। नियत अक्षर-एवं नियत अर्थ सम्मिलित होकर छन्द का स्वरूप बना डालते हैं। उपरोक्त विषुवद्वृत्त 'बृहतीछन्द है, ९ अंकोंकी समष्टि बृहती छन्द है। ९ की संख्या आने से बृहती स्वरूप संपन्न होजाता है। इसी का नाम छन्द संपत्ति है। विषुवद् नाम से प्रसिद्ध बृहती छन्द के दक्षिण भाग में क्रमश, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् इन तीन छन्दोंकी सत्ता है। एवं पङ्क्ति, त्रिष्टुप, जगती, यह तीन छन्द उत्तर भाग में प्रतिष्ठित है। गा० उष्णि० अनु० यह तीनों क्रमशः ६,७,८, अक्षर

के छन्द हैं। पङ्क्ति, त्रिष्टु, जगती, तीनों क्रमशः १०–११–१२– अक्षर के छन्द हैं। मध्यस्थ बृहती नवाक्षर छन्द है। कहने को उसके दोनों ओर के मिलकर ६ छन्द हैं वस्तुत, जो गायत्री है वही जगती है। जो उष्णिक् है वही त्रिष्टुप् है। एवं जो अनुष्टुप् है, वही पङ्क्ति है। तात्पर्य इस समानता का यही है कि विषुवद् से दाक्षिणोत्तर १२–८–४–इन अशों के क्रमसे ६ ओं छन्द समान है। चतुष्पाद गायत्री षडक्षरा है। उसकी समकक्षा वाला जगती छन्द द्वादशाक्षर है। दोनों मिलकर १८ अक्षर है। अठारह अक्षर के ९–९ अक्षर के हिसाब से दो बृहती छन्द होजाते हैं। उष्णिक् के सामने, समकक्षास्थ त्रिष्टुप् के ११–दोनों के सम्मिलित १८ है। यहां भी दो बृहती छन्दों का योग है। अनुष्टुप् के आठ- तत् समकक्षास्थ पङ्क्ति के १०· दोनों के सम्मिलित १८ है। यहां भी दो बृहती छन्द है। मध्यका बृहती तो बृहती छन्द है ही। सारे छन्दों का बृहती छन्दमें अन्तर्भाव है। जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

द्वादशाक्षरा जगती = १२
एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् = ११
दशाक्षरा पङ्क्तिः = १०

नवाक्षरा बृहती = ९–१०+८+१८।११+७+१८।१२+६+।१८

अष्टाक्षरा अनुष्टुप् = ८
सप्ताक्षरा उष्णिक् = ७
षडक्षरा गायत्री = ६

संपूर्ण संवत्सर में नवाक्षर बृहती का ही साम्राज्य है। गणितशास्त्र में ९ संख्या को ही सर्व संख्या माननें का भी यही रहस्य है। सचमुच नोमें

सब संख्याओं का समावेश होजाता है (देखो शत० अंक ६... पृ० स०)। इसी प्रतिष्ठा स्वरूप बृहती विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर ऋषि कहते हैं—

"स वा एष संवत्सरो बृहतीमभिसंपन्नः—

बृहती छन्दों का स्वराट् है। बृहती वर्द्धन शील है। बृहती प्रतिष्ठा है। बृहती के इन्हीं स्वरूपों को लक्ष्य में रखकर निम्न श्रुतिवचन हमारे सामने आते हैं—

१—"बृहती–बृहतेर्वृद्धि कर्मणः, (दै० ३।१.१।

२—"बृहती मर्त्या ययेमान् लोकान् व्याप्नोति तद्बृहत्या बृहत्वम्, तां० ब्रा० ७।४।३.

३—"बृहती वाव छन्दसां स्वराट्, (तां० ब्रा० १०।३।८।)

४—"बृहती हि संवत्सरः, (शत ६।४।२।१०।)

५—"बृहत्यां भूयिष्ठानि सामानि भवन्ति, (तां० ७।३।१६।)

यह है खगोल के, दूसरे शब्दों में आधिदैविक यज्ञपुरुष के मेरुदण्ड स्वरूप बृहती छन्द का संक्षिप्त निदर्शन। यही बृहती छन्द आध्यात्मिक विश्वका (जीव शरीरका) मेरुदण्ड बनताहै, जैसाकि ऊपर बतलाया जाचुकाहै। विषुवद् वृत्तके केन्द्रमें हमनें सूर्यकी सत्ता बतलाईहै। इस सूर्यके चारोंओर परिक्रमा लगाती हुई पृथिवी दो बार विषुवत् पर आती है। क्रान्ति शब्दका अर्थहै दूरी। पृथिवी और विषुवत्की दूरीका पतन जिस [illegible]होताहै, वह 'क्रान्ति संपात' नामसे प्रसिद्धहै। वासन्त शारद सं[illegible] भेदसे दो संपात बिन्दुहै। २२ मार्चको वासन्त सम्पात होताहै, २१ [illegible]म्बर को शारद संपात होताहै। 'समरात्रि दिवे काले विषुवद् विषुवंच-[illegible]' (अमर कोश) के अनुसार दोनों सपात कालोंमें पृथिवी विषुवत् पर रहतीहै। उत्तरगोलसे दक्षिणगोलमें प्रविष्ट होतीहुई पृथिवी जब विषुवतपर

आतीहै तब वासंत संपात होताहै। एवं दक्षिण गोलसे उत्तर गोलमें प्रविष्ट होती हुई पृथिवी जब विषुवत पर आती है तब शारत संपात होताहै। इस संवत्सरमें—सूर्य—पृथिवी—अन्तरिक्ष—इन तीन लोकोंकी सत्ताहै। पार्थिवाग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्यादित्य तीनोंका भोग एकही सवत्सरमें है। इसीसे हमारा निर्म्माण होताहै। पार्थिवाग्नि भूतप्रधानहै। इससे अन्नद्वारा पाञ्चभौतिक अतएव वाङ्मय शरीरका निर्म्माण होताहै। आन्तरिक्ष्य वायुसे प्राणतत्वका सम्बन्धहै एव आदित्यसे ज्ञानघन मनका सम्बन्धहै। इसप्रकार वाङ्मयी पृथिवी, प्राणमय अन्तरिक्ष, मनोमय आदित्य से मनप्राण वाङ्मयी अध्यात्म संस्था का निर्म्माण होता है।

उपरोक्त त्रैलोक्य में लोक-लोकी दो भेद है। लोक भूत है। लोकी भूतप्रतिष्ठ देवता है। पृथिवी भूत है, अपानाग्नि देवता है। अन्तरिक्षरूप वायु भूत है। तत्रस्थ व्यानाग्नि देवता है। आदित्य भूत । प्राणाग्नि देवता है। मूलद्वार मे अपानाग्नि प्रतिष्ठित है। हृदय में व्यानाग्नि की सत्ता है। ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणाग्नि का साम्राज्य है। यही प्राणाग्नि स्पृतप्राण—महाजनप्राण आदि विविध नामो से प्रसिद्ध है। यह इन्द्रप्राण है। 'याच काच बलकृति रिन्द्र कर्म्मैव तत्' (या० निरुक्त · ·) के अनुसार यही बलरूप स्पृत प्राण का अध्यक्ष है। स्पृत प्राण जिस में प्रबल रहता है, वही कुछ पुरुषार्थ कर सकता है। यही स्पृत् प्राण संभवतः वर्तमान विज्ञान का स्पीट होगा। अस्तु अपान प्राण पार्थिव है। यह मूलद्वार से चलकर हृदयस्थ विज्ञान सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। पार्थिवाग्नि—'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागे... पत्' इस सिद्धान्त के अनुसार वाक् है। इधर मूलाधारस्थ अपाग्नि पार्थिव है। यही अध्यात्म की पृथिवी है। यही वाक् है। प्राणोदान व्यापार मूलभूता गति यही वाक् गति है। वाक् का आरम्भ ही आध्यात्मि संवत्सर यज्ञ की आरम्भणीयेष्टि है। भौतिक प्रपञ्च का आरम्भ यही से

होताहै। जबतक मूलाधारस्थ वाक्तत्व प्रतिष्ठित है, तभी तक सारे भूतस्व स्वरूप में प्रतिष्ठित है। सौर स्पृत्प्राण का अयन प्रायणीयेष्टि है। आरम्भ भूतसे होता है, प्रयाण प्राणसे होता है। दूसरे शब्दों मे प्राणगति प्रायण है, अपानगति आरम्भ है। प्रायणीय और आरम्भणीय के अनन्तर अभिप्लव और पृष्ठय होते है। रुधिर की गति अभिप्लव है। खूनका दौरान (दौड़) ही अभिप्लव है। उस दौरान की सीमा पृष्ठ है। उदाहरणार्थ हाथको लीजिए। हृदय से प्रारम्भ कर अंस (स्कन्ध) बाहु, दो, हस्त यह चार खण्ड अंगुली पर्य्यन्त है। हृदय से स्कन्धपर्य्यन्त एक जोड़ है। स्कन्ध से बाहुपर्य्यन्त दूसरा जोड़ है। बाहु से दो पर्य्यन्त तीसरा जोड़ है। चौथा पाणि है। यही चार खण्ड ४ अभिप्लव हैं। प्रत्येक में प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन, यह तीन तीन सवनहै। पूर्वखण्डका सायसवन उत्तरखण्डका प्रातः सवनहै। इस पारम्परिक सवनग्रन्थिबंधनसे चारों खण्ड पृथक् होतेहुए भी परस्परमें बद्धहै। सबको मिलाकर एक पृष्ठयहै। आगे जाकर—गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, विराट्, पङ्क्ति, इन छन्दोंसे पांच अगुलिएं बनती है। कनिष्ठिका गायत्री से सम्बन्ध रखतीहै। गायत्रीछन्द सबमें छोटाहै। अतएव तत्सम्बन्धनी कनिष्ठिका सब अंगुलियों मे छोटीहै। अनामिका का निर्म्माण त्रिष्टुप्से हुआहै। त्रिष्टुपछन्द इन्द्रदेवताकाहै। इन्द्र आत्माहै। अमृत प्रधानहै। अतएव दिव्यकार्य इसी अंगुलीसे किए जातेहैं। 'अनया वै भेषज क्रियते' (शतपथ ' ') इस श्रौत आदेशके अनुसार बच्चेको इसी अनामिकासे औषधि देनी चाहिए। मध्यमाकी जननी विराटहै। तर्जनी जगती से सम्बन्ध रखतीहै। इसमें आसुर प्राणहै। अतएव जप आदि दिव्यकार्यों में इसका बहिष्कार है। अंगुष्ठकी जननी पङ्क्ति है। इस प्रकार अभिप्लव पृष्ठय भेदसे शरीर रचनामें वैचित्र्य होजाताहै। यद्यपि इस विषयमें ज्ञातव्य बहुत कुछ है परन्तु विस्तार अधिक होजानेसे यहां केवल दिग्दर्शन मात्र करादिया गया है।

शिरोभागमें ४ कपाल प्रसन्नहै। दो पूर्व कपालहैं, दो पश्चिम कपालहैं। प्रत्येकमें पुनः दो दो खण्डहै। कपालमें चणक भरकर पानी डाल दीजिए। १२ घंटे में आठों कपाल पृथक् पृथक् होजांयगे। इन आठों कपालों में मस्तिष्क (भेजा) सुरक्षित रहता है। यही अध्यात्मिक पुरोडाश है। सारे देवता इसी की आहुति से जीवित हैं। आधिदैविक संवत्सर यज्ञ से निमित पुरुष यज्ञ के गुप्तरहस्यों को ऋषियों ने समझा। तदनुसार वैध यज्ञका विधान किया। वहां आठ कपल थे, यहां भी आठ मण्मय कपाल बनाए गए। मस्तिष्क के स्थान में पुरोडाश का विधान किया। वैध यज्ञ में आठ ही कपाल क्यों बनाए जाते है? उनमें पुरोडाश साथ साथ ही क्यों रक्खा जाता है? इत्यादि प्रश्नों की यही संक्षिप्त उपपत्ति है। इसी कपाल विज्ञान कों लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती हैं—

"शिरोहवाएतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाशः। स यान्येवेमानिशीर्ष्णः कपालानि तन्यवोस्याए(वैधयज्ञस्य)कपालानि।मस्तिष्क एव पिष्टानि। तद्वाएतदेकमङ्गम्। एकं सहकरवाव, समानं करवन्वेति। तस्तमाद्वा एतदुभयंसहक्रियेत"

॥ २ ॥

अन्न का परिपाक करनेवाला अग्नि आमाद् है, शवको भस्मसात् करने वाला अग्नि क्रव्याद् है, एवं देवताओंके हविका वहन करनेवाला अग्नि हव्यवाट् है। अग्नि एक ही है, वही स्थान भेदसे तीन गुणों से युक्त होजाता है। इस भेद का मूलकारण छन्दो भेद है। साधारण लौकिक अन्नका छन्द दूसरा है, शव अन्य छन्द से छन्दित है, एवं पुरोडाश का छन्द पृथक् है। प्रकृत में हव्यवाहन अग्नि अपेक्षित है। अग्नि में तीनों धर्म हैं। इनमें आमाद क्रव्याद धर्म्म अनपेक्षित हैं। मन्त्रशक्ति द्वारा उन्हीं को दूर कर इस वैधअग्नि को निष्कैवल्यरूपसे हव्यवाट् बनाया जाता है ॥३–४॥

सहरक्षा अग्नि आसुर है, शुद्ध अग्नि दिव्य है। ऐसा अंगार जिस में चारों ओर रक्षा (भस्म) लगीहुई हो वह ज्वालाशून्य अग्नि सहरक्षा है। 'सहरक्षा वै असुर रक्षांसि दूत आस' (शत १।१।३) के अनुसार भस्म-लिप्त अंगार अवश्य ही आसुर होताहुआ दिव्ययज्ञ का विरोधी है। इस भस्मरूप आसुर भाव के निराकरणके लिए ही अंगारों के भस्म को हटाया जाता है। इससे अग्नि का शुद्धरूप निकल आता है। यही शुद्ध अग्नि देवयाट् है। देवताओं के साथ पुरोडाश का संगमन कराने में यही अग्नि समर्थ है ॥५॥

अंगार का जो भाग भूमिपर प्रतिष्ठित रहता है, वह आसुर भाव से आक्रान्त रहता है। कारण उस अधोभाग में वायु प्रविष्ट नहीं होसकता। 'यद्वै वातो नाभिवाति तद सर्वं वरुणदेवत्यम्'(कौ०ब्रा.) के अनुसार निवात-स्थान में आसुरभागाधिष्ठाता वरुण देवता का साम्राज्य रहता है। सचमुच अधोभाग में अग्नि प्रज्वलित नहीं रहता। सब ओर से भस्म को हटादेने पर भी नीचे की ओर से भस्मसम्बन्ध को हटाना दुर्निवार है। उस ओर

से असुरों के *आसंगका भय नहीं हटाना जासकता। इस विप्रतिपत्ति को दूर करनेकेलिए यजुःपूत मध्यमकपाल के साथ इस अंगार का सम्बन्ध किया जाता है। यजु साक्षात् अग्नि है। ब्रह्म–देव–भूत–पशु भेदसे अग्नि चारप्रकार का है। इसीआधारपर–'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' (शत १।१।४५) यह कहाजाता है। ब्रह्माग्नि वेदाग्नि है। इसी को यजुसम्बन्ध से 'सार्वयाजुषाग्नि' भी कहाजाता है। यही 'प्राणाग्नि' नामसे भी प्रसिद्ध है। यह अग्नि स्वायम्भुव है। सौराग्नि देवाग्नि है। पार्थिवाग्नि भूताग्नि है। प्रवर्ग्याग्नि पश्वग्नि है। यजुर्म्मन्त्र शब्दमय है। यजुरग्नि अर्थ रूप है। शब्दार्थ का अभेद है। यजुर्म्मन्त्र साक्षात् यजुरग्नि है। यह अग्नि राक्षसों का अपहन्ता है। तद्युक्त कपालसे अंगार का सम्बन्ध करने पर अवश्य ही असुरों के आसंग का भय विलुप्त होजाता है ॥८॥

विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ घन–तरल–विरल इन तीन अवस्थाओं से आक्रान्त हैं। घनावस्था ही निविडावस्था है। तरलावस्था प्रसिद्ध है। विरलावस्था वाष्पावस्था है। इसी वाष्पावस्था के लिए 'धूम' शब्द प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ एक कर्पूर की डली सामने रखिए। कपूरखण्ड घन है, ठोस है। उसके प्रत्येक अवयव निविड है। इस खण्ड को अग्नि पर चढ़ा दीजिए। कपूर पिघल जायगा। यही तरलावस्था है। अधिक अग्नि संयोग से कपूर धूम्ररूप में परिणत होकर उड़जायगा। यही तीसरी विरलावस्था है। प्रत्येक पदार्थ अग्नीषोमात्मक है। सोमगर्भित अग्नि ही वस्तु है। इस अग्नि की ही उपरोक्त तीन अवस्थाएं होती है। घनाग्नि पृथिवी है। तरलाग्नि अन्तरिक्ष है। विरलाग्नि द्युलोक है। जिसपर हम सब

*–आसंग एक प्रकार का निष्फल आक्रमण है। राक्षस बुद्धिवाले मनुष्यशरीरधारी असुरो की यह स्वाभाविक वृत्ति है। इसी आसगकेलिए 'छेड़छाड़' शब्द प्रयुक्त होताहै। यही लोकभाषामे 'आसंगादारी' नाम से प्रसिद्ध है।

चराचर प्राणी प्रतिष्ठित हैं, उसी का नाम पृथिवी नहीं है। अपितु, घनावस्थापन्न यच्चयावत् पदार्थ पृथिवी हैं। तरलावस्थापन्न सारे पदार्थ वायु हैं। विरलावस्था पन्न सारे पदार्थ आदित्य है। अग्निमयी पृथिवी ततत् पदार्थों की घनावस्था है। वायु तरलावस्था है। आदित्य विरलावस्था है। यही ततत् पदार्थों की प्राणावस्था है। बस उपरोक्त इन्हीं तीनों अवस्थाओं के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में क्रमशः ध्रुव–धरुण–धर्त्र शब्द प्रयुक्त हुए हैं। घन पदार्थ ध्रुव है। तरलपदार्थ धरुण है। विरलपदार्थ धर्त्र है। धर्त्र और धरुण की प्रतिष्ठा ध्रुव है। क्योंकि ध्रुवावस्थाही धर्त्र और धरुणावस्था की जननी है। ध्रुव पृथिवी का पर्य्याय है। हमारी प्रतिष्ठा यही है। दिव्ययज्ञ में आसुर भाग विघ्नबाधारूप से निरन्तर यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रतिष्ठा उखाड़ने का प्रयास करते रहते हैं। उनके इस प्रयास को विफल करने के लिए प्रतिष्ठातत्व को प्राप्तकरना आवश्यक है। बस उसी प्रतिष्ठातत्व को प्राप्त करने के लिए, एवं प्राप्तप्रतिष्ठा से भ्रातृव्यों के प्रयास को विफल करने के लिए—'ध्रुवमसि' इत्यादि मन्त्रबोलतेहुए कपालोपधान किया जाता है। पशु–अनुचर–प्रजा–स्त्री–द्रव्य–भूमि–आदि अनेक प्रकार के वित्त हैं। इन सब वित्तों में श्रेष्ठ वित्त ब्रह्मवीर्य–और क्षत्रवीर्य है। ज्ञानशक्ति ब्रह्मवीर्य है। क्रियाशक्ति क्षत्रवीर्य है। जिसमनुष्य में ज्ञान और क्रिया दोनों संपत्तियं विद्यमान हैं, वह सब कुछ प्राप्त करने में समर्थ है। कर्म्मठ एवं ज्ञानी पुरुष के लिए कोशमें असंभव शब्द का अभाव है। इन दोनों के बिना पुरुष पुरुषाभास है। विड्वीर्य्य से सम्बन्ध रखने वाला अर्थ, पूषा भागप्रधान शूद्र से सम्बन्ध रखने वाला पशु भाग, दोनोंही तब तक सर्वथा निरर्थक हैं जब तक कि इनको ज्ञान और कर्म्म का आश्रित नहीं बना दियाजाय। ब्रह्म और क्षत्र के अतिरिक्त एक तीसरा तत्व और है। वह है भूमा। आपमें ज्ञानकी मात्राभी परिपूर्ण है। आप कर्म्मठ भी हैं। परन्तु आपकी

इच्छानुसार कर्म्म करने वाले अनुयाई यदि आपको नहीं मिलते हैं तो आप उसकार्य को कभी नही बढासकते। किसी भी कार्य को यदि भूमा भावा पन्न (वृद्धिंगत) करना हो तो इसके लिए सजातों की आवश्यकता है। समान कक्ष अनुयाई अपेक्षित है। जिसके पास ब्रह्मवीर्य्य—क्षत्रवीर्य -एवं सजात संपत्ति है, उसके लिए कोई कार्य असंभव नहीं। बस इन्हीं तीनों संपत्तियों को प्राप्त करने के लिए 'ब्रह्मवनित्वा—क्षत्रवनित्वा—सजातवनित्वा' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग कियाजाता है। यजमान स्वयं ज्ञान कर्म्मसे युक्त है। इधर इसके सहकारी ऋत्विक् भी ऐसेही हैं। ऐसी अवस्था में इसका यज्ञ कर्म्म अवश्यही सफल है। ७।८।१०।११।

पृथिवी लोकको आप प्रत्यक्ष देखरहेहैं। सूर्य्य प्रतिष्ठारूप द्युलोक का भी आप साक्षात् कररहेहैं। दोनों के मध्य पतित अन्तरिक्ष का भी प्रत्यक्ष होही रहाहै। इसप्रकार तीनों लोक आपकेलिए 'अद्धा' (प्रत्यक्ष) हैं। परन्तु चौथा पारमेष्ठ्य लोक अनुमानगम्यहै। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप (कौ० ब्रा०) के अनुसार चौथा लोक केवल शब्द प्रमाण गम्य है। हम साधारण कोटि के मनुष्य—'न मालुम चौथा लोक है या नहीं' इसी विचिकित्सा में लगेरहते हैं। हमारी यह विचिकित्सा तबतक सत्य है जबतक कि हम आर्ष दृष्टि प्राप्तकर उसके द्वारा चौथे लोकको देख न लें। क्योंकि 'अस्तिनवा' यह हमारा सत्यभाव है। एवं यज्ञ में सत्यानुपालन का आदेश है, एवं जैसा मनमें हो वैसा कहना' यही सत्य है। अतः इसी सत्यरूप अनद्धा भावको लक्ष्य में रखकर—'विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्यः' यह बोलकर दक्षिण भाग की ओर कपालोपधानकिया जाता है। अनद्धा चतुर्थलोकवत् विश्वाआशाएं भी अनद्धाही हैं ॥१२॥

आर्यसाहित्य के प्रत्येक शब्द में कुछन कुछ निगूढ रहस्य रहता है।

लक्षण को ही अपनाना पड़ेगा ? तपका यथार्थ एवं अव्याप्ति—अतिव्याप्ति दोषरहित व्यापक लक्षण करतेहुए महर्षि तित्तिरि कहते है—

'एतद्ध तप इत्याहुर्यद्व स्वं ददाति, (तै०ब्राह्मण)

आप्तमहर्षि उसे ही 'तप' कहते हैं, जोकि अपने आपको दे देता है । तात्पर्य इसका यही है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों में से किसी भी तत्व को प्राप्त करने के लिए जो व्यापार कियाजाय वही तप है । परन्तु वह व्यापार तप तभी कहलावेगा, जबकि उसमें अपने आत्मा का समर्पण हो । आप अन्यवस्तु को अपने में लेना चाहते हैं । इसके लिए पहले आपको अपने आपमें स्थान बनानापड़ेगा । जिसस्थानपर आप प्राप्त वस्तुरखना चाहते हैं उसस्थानके प्राणको खर्च करना पड़ेगा । यदि विना खर्च किए, दूसरे शब्दोंमें विना आत्मबलिदान किए,आप किसीकी संपत्तिको लेलेंगेतो आप उससे कभी उचित लाभ न उठासकेंगे ।जी तोड़कर परिश्रमद्वारा जो संपत्ति लाभ होता है, एवं उससे आत्मामें जितनी शान्ति प्राप्त होती है, वह शान्ति व्यर्थ की आई हुई संपत्ति से कथमपि नहीं होसकती । प्रथम तो विना आत्मसमर्पण के लाभ हो हीनहीं सकता । यदि छलछिद्रद्वारा—एवं अन्यान्यबातों से यदि लाभहोभी जाता है, तब भी उससे वास्तविक शान्ति नहीं मिलसकती । प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति के पहले आप अपना खर्च करें । पहले बलिदान फिर प्राप्ति । यह सर्व व्यापक सिद्धान्त है । एक वैश्य पहले हजारों रुपय्ये व्यापार में लगादेता है, इस स्वदानरूपा तपश्चर्या के बलसे वह थोडेही समय में धनिक बनजाता है । यदि कुछलेना चाहते हो तो पहिले कुछ अपना खर्च करो-यही सचा तप है । प्रजापति सृष्टि चाहते है । इसके लिए वे अपने प्राण की आहुति देते हैं । व्याख्याता दक्षिणा लेने से पहिले अपनी वाक्का बलिदान करता है । यह है तपका वास्तविक लक्षण । वाक् श्रोत्र-हस्त-पाद-आदि सभी का व्यापार तप

उन्हीं शब्दों में से एक 'तपःशब्द' भी है। 'सांसारिक सारे कर्मों को छोड़ छोड़कर एकान्त में शून्य अरण्य में जाकर ईश्वर चिन्तन करना ही तप किंवा तपश्चर्या कहलाती है" आजदिन सर्वसाधारण में एवं वैदिक विज्ञान की गहनाटवीसे अपरिचित कुछ एक विद्वानों में तपका उपरोक्त लक्षण ही प्रचलित एवं मान्य है। हम इस लक्षण का विरोध नहींकरते। तपका उपरोक्त लक्षण भी होसकता है। परन्तु व्यापकार्थ को अपने उदर में रखने वाले तपका उपरोक्त सीमित अर्थ करडालना अनुचित है। ईश्वर-प्राप्त्युपायभूत कायक्लेश अनशन एवं योगमार्ग की कठिन साधनाओं को ही तप मानने वाले विद्वानों से हम पूछते हैं कि, यदि ऐसा है तो—

"१ 'प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवासीत्। सोऽकामयत—सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। तस्यतप्यमानस्यतेजो-रसो निरवर्त्तताग्निः (शतपथ)

२—असौ वा आदित्यस्तपः (शत७।१।५।

३—तपः स्विष्टकृत् (श. ११।२।७।१८।)

४—तपो वा अग्निः (शत ३।४।३।२।)

५—तप आसीद् गृहपतिः (तै०ब्रा०३।:।६।८।

६—एतद्वै तपो यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत् (श०९।५।१।८:

७—भृगूणामाङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्—

इत्यादि श्रौतवचनों का आपके मतमें कैसे समन्वय होगा? क्या ईश्वर प्रजापति किसी अन्य ईश्वर की प्राप्ति के लिए योगसाधन रूप तपमें अनुरक्त है? इन सब विमतिपत्तियों कोदूरकरने के लिए एकमात्र निम्नलिखित श्रौत

है। परन्तु सर्वश्रेष्ठ तप भृगु और अंगिरा का ही है। भृगु सोमतत्व है। अंगिरा अग्नितत्व है। अग्नि के क्रमिक चयन से शरीर बना है। सोमसे औषधिद्वारा मन बना है। केवल शरीर से कर्म करना अंगिरा का तप है, एवं केवल मनो राज्य में विचरण करना भार्गव तप है। दोनों ही तप अधूरे हैं। दोनों को मिलने से जो तप का स्वरूप निष्पन्न होता है, वह तेजिष्ठ तप है। मनोयोग पूर्वक शरीर से जो व्यापार किया जाता है, वह अन्वर्थ है। उसी तप संपत्ति की प्राप्ति के लिए 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' कहागया है १.३.१४

'ईशावास्यमिदं सर्वं' 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' इत्यादि श्रौत वाक्यों के अनुसार विश्वके यच्चयावत् पदार्थ ब्रह्मरूपसे प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मतत्व 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' के अनुसार नित्य है, विज्ञानघन है। आनन्दमय है। ऐसी अवस्था में नित्य-विज्ञान आनन्दमूर्ति ब्रह्ममय पदार्थों को परमार्थ दृष्टिसे कभी अचेतन नहीं बतलाया जासकता। साधारण दृष्टिसे व्यवहार मर्यादाके निर्वाहके लिए यद्यपि जड़-चेतन व्यवहार होता है, परन्तु परमार्थ दृष्टिसे विज्ञान कोटिमें यह भेद निरर्थक सिद्ध होजाताहै। वैज्ञानिक महर्षि प्रत्येक पदार्थ को अव्ययके श्वोवसीय मनसे ज्ञानयुक्त, अव्ययके प्राणतत्व से क्रियायुक्त, अव्ययके वाक्तत्वसे अर्थयुक्त देखते हैं। प्रत्येक पदार्थ अर्थ है। उसमें प्रत्यासन्ना क्रिया है। क्रियामें अन्तःस्थित क्रियाधार ज्ञान है। प्रत्येक पदार्थ क्रियामय है—यह सिद्धान्त निर्विवाद है। उधर क्रिया बिना ज्ञानके संभव नहीं, यही सिद्धान्त भी प्रत्यक्ष है। फलतः पदार्थमात्रका चेतनत्व सिद्ध होजाता है। इसी नित्यसिद्ध चैतन्यवादको लक्ष्यमें रखकर ऋषिने दृषद् और कृष्णमृगचर्म को चेतन मानते हुए 'तत् संज्ञामेवैतद् वदति नेदऽन्यं हिनसानि' यह उत्तर कहे हैं। दृषद् पाषाणमयी है। पाषाण उपरोक्त घन तरल-विरलावस्था विज्ञानके अनुसार ध्रुव कोटिमें प्रविष्ट होताहुआ

निदानद्वारा पृथिवी है । दृषद पृथिवी है । उधर कृष्णमृगचर्म्म पृथिवीकी-त्वचा है, जैसाकि कृष्णमृगचर्म्मास्तरण प्रकरणमें विस्तार से बतलाया जाचुका है । दृषदपर उपल द्वारा पेषण क्रिया के होनेसे कृष्णमृगचर्म्म पर आघात् होना स्वाभाविक है । क्योंकि दृषत् चर्म्म परही प्रतिष्ठित रहतीहै । इस आघात से चर्म्म में क्षोभभाव पैदा होता है । क्षोभ हिंसा मूलक है । हिंसामूलक क्षोभ यज्ञका विघातक है । इस अनिष्ट को दूरकरने के लिए ही 'अदित्यास्त्वग् वेत्तु' कहा है । सजातीय वस्तुओंके संघर्ष से उत्पन्न होने वाला क्षोभ हिंसा का कारण नहीं बनता । एकही कर्ममें १० सजातीयबन्धु कष्ट पाकर भी रहजाते है । असुविधा रहने परभी खटपट नहीं होती । परन्तु विजातीय अन्य एक व्यक्तिके प्रविष्ट होनेसे असुविधाका अनुभव होने लगता है । कृष्णमृगचर्म्म-और दृषत् सजातीय है—इस मनोभावको दृढ करने के लिए ही पूर्वोक्त वाक्य कहा गयाहै ॥ १५ ॥

दृषत्के पश्चिमभागमें शम्या रक्खी जाती है । पूर्वादिक् देवताओंका स्थान है । इसीलिए वेदि प्राक् प्रवणा (पूर्वकी ओर झुकी हुई) बनाई जाती है । इसी दिव्यभावकी प्राप्तिके लिए शम्याको पश्चिमभाग में दृषत् के नीचे रक्खा जाता है । शम्या निदानद्वारा अन्तरिक्ष है । अन्तरिक्षनेही द्यावापृथिवी के स्वरूपको विभक्त कर प्रतिष्ठित कर रक्खा है । आगे उपल को द्युलोक की प्रतिकृति बतलाने वालेहैं । द्युलोकरूपा उपल की सचमुच शम्या स्कम्भनी है । यदि शम्या स्वस्थान से खिसकजाय तो उपल कभी प्रतिष्ठित नहीं रहसकती । इसी अभिप्रायसे 'दिवस्कम्भनिरसी' यह कहा है ॥१६॥

द्यावापृथिवी एक प्रकार की चक्की है । वायु चक्की में होने वाला पेषण व्यापार है । पृथिवी के ऊपर द्युकेद्वारा वायुके समावेशसे अन्न पेषण होता रहता है । पिष्ट अन्नरस प्राणिवर्गका पालन किया करता है । इस आधिदैविक-

स्थिति को लक्ष्यमें रखकर इसके साथ तुलना करतेहुए याज्ञवल्क्यने दृषद् को पृथिवीमाता कहाहै। शम्याको वायुस्थानीया होनेसे अन्तरिक्ष कहा है, एवं उपलको द्युरूपवत लायाहै। इस समानता से त्रैलोक्यात्मक संवत्सर यज्ञकी संपत्ति आजाती है। 'पुरुषोवैयज्ञः'के अनुसार हमारा यह वैधयज्ञ पुरुषलक्षणहै। अतः आधिदैविक यज्ञवत् इसमें पुरुषयज्ञके (अध्यात्मिक यज्ञके) भावोंका भी समाविष्ट होना आवश्यक है। पुरुषयज्ञानुसार—दृशदुपल इस यज्ञपुरुषके दोनो हनूहै। शम्या जिह्वा है। पुरुषयज्ञमें जिह्वा शब्द कर्म्मकरती है, अतएव तत् प्रतिकृति भूता शम्या से यहां समाहननकर्म्म किया जाता है। इसी पुरुषसंपत्ति का निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते है 'हनूऽएव दृषदुपले'। जिह्वैव शम्या। तस्माच्छम्यया समाहन्ति। जिह्वया हि वदति ॥१७-१८॥

विना हिंसाके यज्ञेतिकर्त्तव्यता कथमपि पूरी नहीं की जासकती। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है जिसमें हिंसा न होती हो। प्राणवियोग ही हिंसा है। सर्वसाधारण की दृष्टिमें जड़ चेतन भेद है। परन्तु वैज्ञानिक महर्षि सबको चेतनायुक्त मानते है जैसाकि पूर्वमें बतलाया जाचुका है। पुरोडाश संपन्न करनेके लिए जिस धान्यका ग्रहण किया जाताहै, वह एक प्राणयुक्त द्रव्यहै। मनुष्य की सत्ताकेलिए जो प्राण नित्य अपेक्षित हैं, वे सब प्राण यहां प्रतिष्ठितहैं। उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मात्रमें त्रैलोक्यका प्राण विद्यमान रहताहै। पृथिवी अन्तरिक्ष—द्यु—तीनों के रसके संमिश्रणसे प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न हुआ है। एवं जबतक तत्तत्पदार्थों के साथ उपरोक्त तीनों प्राणोंका आदान विसर्गात्मक सम्बन्ध होता रहताहै, तभीतक तत्तत्पदार्थ स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहते हैं। पार्थिवप्राण अपान है। अन्तरिक्ष्यप्राण व्यान है। दिव्य प्राण प्राण शब्दसे ही प्रसिद्ध है। द्युलोक से आता हुआ प्राण प्राण है, यही निर्गच्छत् अवस्थामें उदान नामसे व्यवहृत होने लगता है। पार्थिव प्राण आगमनावस्थामें समान कहलाता है, वही निर्गमनावस्थामें अपान कहलाने लगता है। इसप्रकार अपान और प्राणके अपान—समान, प्राण उदान,

स्वरूप होजाते हैं। मध्यस्थ प्रादेशमित व्यानप्राण सर्वथा स्थिर है। पार्थिव प्राणदेवता, सौर प्राणदेवता इसी व्यानसत्तापर अवलम्बितहै। व्यानरूप उपांशुसवन (शिला) पर उपांशुरूप प्राण—अन्तर्यामरूप अपान दोनोंमें जीवनौपयिक उपांश्वन्तर्याम व्यापार हुआ करताहै। प्राणापान जीवन सत्ताके कारण नहीं, अपितु—जिस स्थिर व्यानके आधार पर प्राणापान गमनागमन करते हैं वह व्यान जीवन सत्ताका कारणहै। इसी व्यान विज्ञानको लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते।
(उपनिषत्)

उपरोक्त कथनसे सिद्धहुआ कि, पञ्चप्राणही जीवनसत्ताके आधार हैं। पेषणव्यापारसे पांचोप्राण निकल जाते है। हवि निर्जीव होजाता है। उधर देवता प्राणरूप हैं। प्राणरूप अन्नाद देवता निष्प्राण अन्न कभी नहीं लेसकते। सजातीय अन्नही उनक लिए ग्राह्य है। बस निर्जीव हविमें उसी पञ्चप्राणात्मक प्राणतत्व को डालनेके लिए 'प्राणाय त्वा' इत्यादि मंत्र प्रयोग किया जाता है, जैसा कि मूलमें स्पष्ट होगया है ॥ १९।२०।२१।२२ ॥

इति प्रथमप्रपाठके पञ्चम ब्राह्मणम्।
इति-उपवेषसंपादनम्—
अग्नौ कपालोपधानेन हविःपरिपाकम् ॥

'शतपथ ब्राह्मण' हिन्दी मासिक पत्रके नियम

१.—यहपत्र प्रतिमास की अन्तिम ता० तक प्रकाशित होजाताहै

२—पत्रका वार्षिक मूल्य इस प्रकार है—

राजा महाराजा जागीरदारों एवं संरक्षकोंसे ११) वार्षिक

प्रतिष्ठित गण्यमान धनीमानी सहायकों से ५) वार्षिक।

साधारण ग्राहकों से २॥) वार्षिक।

३—जो सज्जन प्रयत्नपूर्वक कमसे कम १० स्थाई ग्राहक बनादेंगे उन्हें यह पत्र एकवर्षतक बिनामूल्य मिलता रहेगा।

४—पत्र व्यवहार करते समय ग्राहकों को अपना ग्राहक नम्बर जो 'रेपर' (Wrapper) पर लिखा रहताहै अवश्य सूचित करना चाहिए। एवं व्यवहारके लिए)॥ टिकिट भेजना आवश्यक है।

५—ग्राहकों को अपना स्थान परिवर्तन की सूचना पहिलेसेही दे देनी चाहिए जिससे कि उन्हें पत्र मिलनेमें विलम्ब न हो।

६—पत्रमें प्रकाशित होनेके लिए लेख सामग्री समालोचनार्थ पुस्तकें और बदलेके पत्र संपादक 'शतपथ ब्राह्मण' विज्ञानमंदिर भूराटीबा' जयपुर सिटी. के पतेपर भेजने चाहिए और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्रव्यवहार निम्नलिखित पतेपर होना चाहिए।

व्यवस्थापक 'शतपथ ब्राह्मण'
विज्ञानमंदिर भूराटीबा, जयपुर
(राजपूताना)